दर्शनशास्त्र की रूपरेखा

राजेन्द्र प्रसाद, एम॰ए॰

[illegible]

दर्शनशास्त्र की रूपरेखा

प्रोफेसर राजेन्द्र प्रसाद, एम० ए०

दर्शन-विभाग,

पटना कालेज, पटना

प्रकाशक

शुक्ला बुक डिपो

पटना

मोहन प्रेस
कदमकुआँ, पटना–३

मूल्य ५)

परम आदरणीया

बहिन

श्री गुप्तेश्वरी देवी

की

पुण्य स्मृति में

भूमिका

इस पुस्तक का मुख्य उद्देश्य भारतीय विश्वविद्यालयों में बी० ए० (पास और आनर्स) के विद्यार्थियों के लिए पाठ्य-क्रम में निर्धारित दर्शन के सामान्य सिद्धांतों का सरल, सुबोध और प्रामाणिक विवेचन प्रस्तुत करना है। वर्तमान स्थिति के अनुकूल हिन्दी और अंग्रेजी किसी में कोई पुस्तक इस कार्य के लिए पूर्णतः उपयुक्त नहीं जँचती है। इस कमी की चेतना लेखक की प्रेरणा रही है।

यद्यपि प्रस्तुत पुस्तक मुख्यतः विद्यार्थियों की आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर लिखी गई है किन्तु विवेचन को इस प्रकार रोचक और सुबोध बनाने की चेष्टा की गई है कि साधारण पाठक को भी कोई कठिनाई न हो और पुस्तक का अध्ययन बोझ न जान पड़े। लेखक का तो विश्वास है कि जो पुस्तक सिर्फ टेक्स्ट-बुक होती है वह सफल टेक्स्ट-बुक भी नहीं हो सकती। इसलिए कतिपय उन विषयों का भी विवेचन कर दिया गया है जो पाठ्य-क्रम में निर्धारित नहीं हैं किन्तु निर्धारित विषयों को पूरी तरह समझने के लिए आवश्यक हैं। वस्तुतः लेखक का अभीष्ट यही रहा है कि पाठक को वर्णित विषयों का संक्षिप्त किन्तु स्पष्ट ज्ञान हो जाय।

इस पुस्तक में मौलिकता का दावा लेखक नहीं करता, किन्तु विभिन्न सिद्धांतों के वर्गीकरण, विवेचन तथा विषय-वस्तु की सजावट के क्रम में किसी खास लेखक या पुस्तक का अनुकरण न करके पूरी स्वतंत्रता बरती गई है। इस बात की ओर लेखक सदा

सचेष्ट रहा है कि विवेचनशैली सुबोध और विवेचित विषय प्रामाणिक हों। इसलिए मूल और प्रामाणिक ग्रंथों से यथासंभव सहायता ली गई है। इस पुस्तक की एक नवीन विशेषता है कि विभिन्न विषयों के विवेचन में पश्चिमी और भारतीय दोनों दर्शनों से आवश्यक उदाहरण देकर तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। लेखक की धारणा है कि विभिन्न दार्शनिक सिद्धांतों को अच्छी तरह समझने और परखने में तुलनात्मक अध्ययन काफी सहायक होता है। इसी विश्वास से ऐसा प्रयत्न यहाँ किया गया है। प्रयत्न की सफलता का निर्णय पाठकों के हाथ है।

पारिभाषिक शब्दों के विषय में भी कुछ कहना आवश्यक है। अंग्रेजी के पारिभाषिक शब्दों के हिन्दी पर्याय के विषय में विद्वानों का एक मत नहीं है। इसलिए किसी हिन्दी लेखक को बड़ी कठिनाई होती है कि किस के लिए कौन-सा शब्द रखा जाय। इस पुस्तक में यथासंभव वैसे शब्दों का व्यवहार किया गया है जो मूल अंग्रेजी शब्दों के अर्थ को पूरी तरह व्यक्त करने के साथ-साथ सुबोध भी हों। इस कार्य में मुझे श्री गुलाब राय, श्री राहुल सांकृत्यायन, डा० नन्दकिशोर देवराज, प्रो० हरिमोहन झा तथा प्रो० नित्यानन्द मिश्र की रचनाओं से विशेष सहायता मिली है। मैं इन सभी विद्वानों का आभारी हूँ।

भूमिका के अन्त में धन्यवाद देने की प्रणाली है। प्रस्तुत पुस्तक की रचना में और उसके अतिरिक्त भी मैं अपने परम पूज्य गुरु-जनों, डा० धीरेन्द्रमोहन दत्त और डा० नन्दकिशोर देवराज, का चिर-ऋणी हूं। वस्तुतः उनसे जो मैंने सीखा है वही इस पुस्तक में आ उतरा है। उनसे कभी जन्म-जन्मांतर तक उऋण होना न संभव है, न प्रिय ही। इसके बाद श्रद्धेय पं० नन्दकिशोर तिवारी,

श्री शिवपूजन सहाय, श्री उमानाथ, श्री नलिनविलोचन शर्मा, डा० राजनारायन (लखनऊ विश्व-विद्यालय), आदि विद्वानों को धन्यवाद देना भी मेरा कर्त्तव्य है क्योंकि उन्होंने मुझे बहुत प्रोत्साहित किया ह। इनके अतिरिक्त उन सभी लेखकों के प्रति हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करता हूँ जिनकी रचनाओं से पुस्तक-निर्माण में सहायता मिली है। पटना कालेज के बी० ए० और एम० ए० के अपने विद्यार्थियों के लिए भी अपना स्नेह व्यक्त किए बिना मैं नहीं रह सकता क्योंकि वे पुस्तक लिखने में सदा मुझे उत्साहित करते रहे हैं। श्री विनोदानन्द वर्मा, चतुर्थ वर्ष (आनर्स), ने प्रेस-कापी तैयार करने में विशेष सहायता की है। उनके लिए मंगल-कामना के सिवा मेरे पास है ही क्या? अपने प्रकाशक श्री अम्बिका प्रसाद तिवारी को धन्यवाद देना भी मेरा कर्त्तव्य है। वस्तुतः पुस्तक तैयार होने का श्रेय उन्हीं को है क्योंकि उनके उत्साह और लगन के चलते ही मैं इस कार्य को संपन्न कर सका।

धन्यवाद के बाद क्षमा-याचना। चूँकि मैंने ही प्रूफ देखने का सारा कार्य किया है और इस कार्य में बिलकुल कुशल नहीं हूँ, इसलिए छापे की कई गलतियाँ रह गई हैं। पाठकों से छापे की या और भी किसी तरह की भूलों की सूचना या कोई अन्य सुझाव सहर्ष और सधन्यवाद स्वीकार किए जायँगे।

राजेन्द्र प्रसाद

रानीघाट

१८ जनवरी, १९५४

विषय-सूची

दर्शनशास्त्र की रूपरेखा

पहला अध्याय

दर्शनशास्त्र का स्वरूप

सोचना मनुष्य का एक स्वाभाविक गुण है। बिना सोचे वह नहीं रह सकता। जीना और सोचना, दोनों साथ चलते हैं। जबतक मनुष्य जीवित रहता है, सोचने की क्रिया स्थगित नहीं होती। मनुष्य के सोचने की शक्ति का क्रमशः विकास होता है। जो कुछ भी आजतक वह कर पाया है, इसी विकसित विचार-शक्ति के प्रयोगों के फलस्वरूप। बीसवीं सदी का मानव दसवीं या ग्यारहवीं सदी के मानव से शारीरिक शक्ति या बनावट में कोई विशेष बढ़ा-चढ़ा नहीं है। फिर भी वह ऐसे साधनों से सम्पन्न है जिनकी कल्पना भी उसका पूर्वज नहीं कर सकता था! दोनों के बीच इतना बड़ा अन्तर आ जाने का कारण इनकी विचार-शक्तियों की विषमता है। आज का मनुष्य अपने प्राचीन पूर्वजों से अच्छी हालत में इसीलिए है कि उसकी विचार-शक्ति उनलोगों की विचार-क्षमता से अधिक विकसित है। विचार-शक्ति की असमानता के कारण ही प्राचीन-कालीन मानव अपने को प्रकृति के सामने भिखारी के रूप में रखता था और उससे दया की आशा करता था—जब आधुनिक युग का मानव अपने को प्रकृति का विजेता समझता है और उस पर शासन करना अपना अधिकार मानता है।

मनुष्य की चिंतनशीलता

मनुष्य अपनी विचार-शक्ति का प्रयोग भिन्न-भिन्न दिशाओं में करता है, जिसके फलस्वरूप उसके ज्ञान की कई शाखाएँ हो जाती हैं। दर्शन-शास्त्र मानवीय ज्ञान की एक प्रमुख शाखा है; दार्शनिक चिन्तन में मनुष्य की विचार-शक्ति एक विशेष दिशा में प्रयुक्त होती है।

दर्शन की पश्चिमी परिभाषा

दर्शन मनुष्य का एक निष्पक्ष बौद्धिक प्रयत्न है जिसके द्वारा वह विश्व को उसकी सम्पूर्णता में समझने की चेष्टा करता है। तात्पर्य यह कि दर्शन के द्वारा मनुष्य विश्व के किसी एक या एक से अधिक अंशों को समझने का प्रयत्न नहीं करता, न तो सभी अंशों को अलग-अलग समझना ही उसका उद्देश्य रहता है, बल्कि वह विश्व को एक इकाई के रूप में अपने ज्ञान का विषय बनाता है। दार्शनिक, विश्व को उसके अंशों का जोड़ मात्र नहीं मानता; इसीलिए उसकी दृष्टि में अंशों के ज्ञान के जोड़ने मात्र से विश्व का ज्ञान नहीं प्राप्त हो सकता। विश्व का वास्तविक ज्ञान तभी हो सकता है जब समूचा विश्व ही ज्ञान का विषय बनाया जाय।

किसी भी वस्तु का ज्ञान हम दो तरह से प्राप्त कर सकते हैं—उसके सभी हिस्सों को अलग-अलग जानकर या समूची वस्तु को एक ही साथ जानकर। इन दो पद्धतियों में दूसरी पद्धति से ही वस्तु के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान हो सकता है। उदाहरण के लिए हम किसी वस्तु को ले लें। जैसे, एक गुलाब का फूल। यदि मैं किसी आदमी के सामने फूल की सभी पंखुड़ियों को अलग-अलग रख दूँ और हरएक के रूप, रंग, चिकनाहट आदि का विस्तृत वर्णन भी कर दूँ और उससे पूछूँ कि 'गुलाब कैसा होता है?' तो वह इस प्रश्न का उत्तर नहीं दे सकेगा—यदि उसने कभी पहले गुलाब का फूल नहीं देखा है। किन्तु, बिना किसी वर्णन के यदि

उसके सामने मैं सम्पूर्ण फूल को रखूँ और वही प्रश्न करूँ तो अवश्य ही वह उत्तर दे सकेगा और उस तरह के अन्य फूलों को देखने पर भविष्य में उन्हें पहचान सकेगा कि ये गुलाब के फूल हैं। पहली हालत में उस आदमी को गुलाब के हर हिस्से का ज्ञान तो मिलता है, फिर भी वह यह नहीं समझ पाता कि गुलाब कैसा होता है, किन्तु दूसरी हालत में वह गुलाब को समझ लेता है, और इसका कारण यह है कि इस बार गुलाब का ज्ञान अंशों के माध्यम से नहीं, बल्कि उसे उसकी सम्पूर्णता में देखकर होता है। यह बात हर चीज के साथ है। यदि मेरा साथी अपनी प्रेयसी के चेहरे के हर हिस्से का वर्णन करके यह सिद्ध कर दे कि उसके अधर, कपोल, आँखें, ललाट, केश आदि सभी अत्यन्त सुन्दर हैं, फिर भी चेहरे के सौंदर्य का अन्दाज लगाना मेरे लिए संभव नहीं होगा। किन्तु, यदि मैं एक क्षण के लिए भी देख सकूँ तो कह सकूँगा कि सचमुच वह सुन्दर है या साथी भ्रम में है। सम्पूर्णता में ज्ञान प्राप्त करने का आशय यही है और ज्ञान की इसी पद्धति का उपयोग दर्शन, विश्व के विषय में, करता है।

दार्शनिक प्रयत्न की दूसरी विशेषता उसकी **बौद्धिकता** है। दर्शन बुद्धि की क्रिया है। दार्शनिक, विश्व की व्याख्या के लिए, बुद्धि (Intellect or Reason) का सहारा लेता है--रागों (Passions) या मनोवेगों का नहीं। दर्शन के निष्कर्ष तर्क और चिंतन पर आधारित रहते हैं, न कि भावना या विश्वास पर। मनुष्य की अनुभूतियों का बौद्धिक विश्लेषण कर वह निश्चित करता है कि वास्तविकता क्या है। अनुभूतियों में उन्हीं को वह अर्थवान समझता है जो बुद्धि के द्वारा विश्लेषण करने पर सामंजस्यपूर्ण और व्याघातरहित (Contradictionless) सिद्ध होती हैं। अनुभूतियों की अर्थवता स्थिर करना अत्यन्त आवश्यक है; क्योंकि

अर्थपूर्ण अनुभूतियों के आधार पर ही वास्तविकता का सच्चा स्वरूप जाना जा सकता है। इस कार्य में बुद्धि ही एकमात्र सहायिका है। बुद्धि की कसौटी पर कसे जाने पर खरी उतरनेवाली अनुभूति ही सच्ची कही जा सकती है। बुद्धि की कसौटी है असामंजस्य और व्याघात का अभाव। दार्शनिक उन्हीं अनुभूतियों में विश्वास करता है जिनमें इनका अभाव रहता है, अर्थात जिन्हें बुद्धि स्वीकार करती है। उसके लिए ऐसी कोई चीज नहीं है जो बुद्धि के अतिरिक्त किसी दूसरे आधार पर स्वीकार की जा सके। बौद्धिक आधार के अभाव में यदि कभी वह कुछ मान लेता है तो केवल थोड़ी देर के लिए और वह भी आगे चलकर बुद्धि के द्वारा छान-बीन करने के लिए ही। किसी भी कथन को अन्तिम स्वीकृति बुद्धि के समर्थन करने पर ही मिलती है।

बौद्धिक होने के साथ-साथ दार्शनिक चिन्तन निष्पक्ष होता है। इसके निष्पक्ष होने का यह अर्थ है कि दार्शनिक, विश्व को, उसके यथार्थ रूप में, समझने का प्रयत्न करता है—अपने किसी पूर्व-निश्चित मत की पुष्टि के लिए या किसी अन्य स्वार्थ की सिद्धि के लिए नहीं। वह अपने चिन्तन को अपने राग, द्वेष आदि से मुक्त रखता है। जिस रूप में विश्व है उसी रूप में उसे वह जानना चाहता है, विश्व की व्याख्या को अपनी इच्छा-आकांक्षाओं के रंग में वह रँगता नहीं। विश्व के इस निष्पक्ष अध्ययन से भले ही आगे चलकर कोई स्वार्थ सध जाय; किन्तु स्वार्थ सधे—इसके लिए वह दार्शनिक चिन्तन नहीं करता। मनुष्य के सभी ज्ञान उसके जीवन पर कुछ-न-कुछ असर डाल ही जाते हैं, और दर्शनशास्त्र इस नियम का अपवाद नहीं है। अपितु, दार्शनिक के जीवन पर दर्शन के अध्ययन और निष्कर्षों के बहुत गहरे भाव पड़ते हैं, उसके जीवन की रूपरेखा ही उसके दर्शन के अनुरूप हो जाती है, किन्तु अपने जीवन की रूपरेखा किसी

विशेष ढंग की बनाने के लिए वह दार्शनिक नहीं बनता। वैसा करने पर उसे विश्व का यथार्थ ज्ञान नहीं हो सकेगा; क्योंकि उसके प्रयत्न उसके उद्देश्य-विशेष से प्रभावित होंगे, जिसके फलस्वरूप वह विश्व को उसके वास्तविक रूप में न देखकर उस रूप में देखेगा जिस रूप में देखने से उसके उद्देश्य की पूर्ति होगी। वैयक्तिक मोहों से दूर हटकर देखना तो किसी भी वस्तु के ज्ञान के लिए आवश्यक है—विजय की आशा से प्रफुल्ल और पराजय की आशंका से त्रस्त, दोनों ही सैनिकों को अपने दल की शक्ति का यथार्थ ज्ञान नहीं होता। यथार्थ ज्ञान के लिए निष्पक्ष दृष्टि का होना अनिवार्य है। दार्शनिक की निष्पक्षता भी ऐसी ही निष्पक्षता है।

दार्शनिक चिन्तन की उत्पत्ति मनुष्य की उस स्वाभाविक जिज्ञासा से होती है जो उसे जीवन और जगत को समझने के लिए सदा उकसाती रहती है। मनुष्य जीता है और जानना चाहता है कि वह क्यों जीता है और जीने का अर्थ क्या है। यही उसमें और अन्य जीवों में अन्तर है। मनुष्येत्तर प्राणी भी जीते हैं; किन्तु वे जीते भर हैं, यह जानने का प्रयास नहीं करते कि जीना क्या है। किन्तु मनुष्य केवल जीने भर से सन्तुष्ट नहीं रहता, वह तो जानना चाहता है कि जीवन का अर्थ क्या है। यह चाह सभी मनुष्यों में वर्तमान रहती है और सभी इसे किसी-न-किसी रूप में पूरा करते ही हैं। इसी जिज्ञासा को मिटाने के लिए मनुष्य जीवन के विषय में चिन्तन करता है। जीवन जगत में होता है, अतएव जीवन को समझने के लिए जगत को समझना आवश्यक हो जाता है। वह देखता है कि फूल खिलते हैं और फिर मुरझा जाते हैं, आकाश में बादल घिरते हैं और इधर-उधर घूम-फिरकर गायब हो जाते हैं, वसंत की मादकता जब पूरी मस्ती लाने को होती है कि ग्रीष्म

की चिलचिलाती लू सबको पस्त कर देती है। इन दृश्यों को देख कर जिज्ञासु मानव यह जानना चाहता है कि इनका अर्थ क्या है और मानव-जीवन से इनका सम्बन्ध क्या है। कोई वैज्ञानिक इनकी व्याख्या इनके कारणों को बतलाकर कर सकता है; किन्तु केवल कारणों के जान लेने से ही संतोष नहीं होता। कारणों का ज्ञान यही बतलाता है कि ये घटनाएँ प्रकृति के किसी नियम-विशेष (कार्य-कारण-नियम) के अनुसार होती हैं, किन्तु वह यह नहीं बतलाता कि ये क्यों इस नियम का पालन करती हैं, आखिर ये क्यों होती हैं और इनके इस विशेष रूप में होने का आशय क्या है। यही कारण है कि वैज्ञानिक ज्ञान की इतनी वृद्धि होने पर भी प्रकृति मनुष्य के लिए कम आकर्षक नहीं हो गई है। अतएव जीवन और जगत को समझने के लिए यत्नशील होने में मनुष्य अपने स्वभाव से ही बाध्य होता है और उसके लिए उसे एक विशेष प्रकार का चिन्तन करना पड़ता है जिसके फलस्वरूप दार्शनिक चिन्तन की उत्पत्ति होती है।

दार्शनिक चिंतन की उत्पत्ति जिज्ञासा से होने से इसका उद्देश्य जिज्ञासा को शांत करना है। दार्शनिक की बौद्धिक यात्रा तभी समाप्त होती है जब जीवन और जगत का अर्थ वह समझ लेता है। इनका अर्थ स्पष्ट हो जाने से उसे जीवन-यापन में विशेष सुविधाएँ मिलने लगती हैं। इन्हें समझने पर उसे यह स्पष्ट हो जाता है कि जीवन का उद्देश्य क्या है और उसकी पूर्ति के लिए उपयुक्त साधन कौन-से हैं। वह जानता है कि किस तरह का जीवन वह बितावे और यह ज्ञान जीवन को वैसा बनाने में काफी सहायक होता है।

दर्शनशास्त्र का यह विवेचन मुख्यतः पश्चिमी दर्शन को ध्यान में रखकर किया गया है। दर्शन की पश्चिमी परिभाषा भारतीय

परिभाषा से भिन्न अवश्य पड़ती है; किन्तु दोनों की भिन्नता इस दरजे की नहीं है कि एक को हम दूसरे का विरोधी कहें, या दोनों के बीच मेल असम्भव हो। भिन्नता के सा -साथ दोनों में समानताएँ भी हैं। भारतीय दर्शन को न समझने के कारण अधिकांश पश्चिमी दार्शनिक इसे घृणा की दृष्टि से देखते थे और यह कहते थे कि पश्चिमी दर्शन के साथ कभी यह मेल नहीं खा सकता। किन्तु इधर पचीस-तीस वर्षों से उनके ृष्टिकोण में कुछ अन्तर आ रहा है और यद्यपि अभी तक वे इसका उचित मूल्यांकन नहीं कर पाए हैं तथापि इस ओर यत्नशील हैं तथा पूर्वी और पश्चिमी दर्शनों के संयुक्त आधार पर एक विश्व-दर्शन के प्रतिपादन की आवश्यकता महसूस करते हैं। इस दिशा में अमेरिका के विद्वान सबसे अधिक जागरूक हैं।

दर्शन की भारतीय परिभाषा

पश्चिमी दर्शन के विषय में भी गलत धारणा रखने का अपराध कुछ भारतीय करते हैं। किन्तु, उनकी संख्या उन्हीं पुराणपंथियों तक सीमित है जो अपन विचारों में परिवर्तन लाना पाप समझते हैं और जिन्हें प्रगति से अधिक प्रिय रूढ़ियों की रक्षा ही होती है। ऐसे ही लोगों का यह कहना है कि पश्चिमी दर्शन निरूद्दश्य और शब्दजाल मात्र है। ये चाहते हैं कि भारतीय दर्शन पश्चिमी दर्शन से अलग ही रहे, नहीं तो इसे छूत लग जायगी ! खैर यही है कि इनकी संख्या दिन-दिन घटती जा रही है और इनकी अभिलाषा के बावजूद भारतीय दर्शन-धारा पश्चिमी धारा से अलग नहीं रह सकी है। वस्तुतः भारतीय दर्शन की प्रगति पश्चिमी दर्शन से उसे अलग रखकर नहीं हो सकती। इस अन्तर्राष्ट्रीयता के युग में भौगोलिक सीमाओं के अन्दर सिमट कर रहने से किसी भी देश की विचार-धारा का कल्याण नहीं हो सकता। आज तो आवश्यकता है

विश्व के सभी दर्शनों के आधार पर एक विश्व-दर्शन के निर्माण की। इस ओर भारतीय दर्शन हमारी काफी सहायता कर सकता है[१]। सचमुच भारतीय दर्शन पश्चिमी दर्शन से नितांत भिन्न नहीं है और दोनों में उतनी ही मात्र भिन्नता है जितनी दो भूखंडों की विचारधाराओं में आवश्यक रूप से आ जाती है। इन विभिन्नताओं के रहते हुए भी भारतीय दर्शन पश्चिमी अर्थ में दर्शन कहा जा सकता है[२]।

दर्शन की भारतीय परिभाषा के अनुसार भी हमारी सभी प्रकार की अनुभूतियों की युक्तिसंगत व्याख्या कर वास्तविकता का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करना दार्शनिक चिंतन का उद्देश्य है। अनुभूतियाँ दो तरह की हैं--ऐन्द्रिय (Sensuons) और अनैन्द्रिय (Non-sensuons)। दोनों ही दर्शन के क्षेत्र के अन्तर्गत आती हैं; किन्तु चार्वाकों के अतिरिक्त सभी भारतीय दार्शनिकों के अनुसार अनैन्द्रिय अनुभूति ही अधिक महत्वपूर्ण है; क्योंकि वास्तविक सत्ता का साक्षात्कार आध्यात्मिक अनुभूति में ही होता है। यह आध्यात्मिक अनुभूति बौद्धिक ज्ञान की तरह नहीं होती। बौद्धिक ज्ञान में तो ज्ञाता और ज्ञेय का द्वैत बना रहता है; किन्तु इस अनुभूति में दोनों एक हो जाते हैं। यह अनुभूति अनायास ही नहीं मिल जाती,

---

१. देखिए--डा० धीरेन्द्रमोहन दत्त का लेख--
The Contribution of Modern Indian Philosophy to World Philosophy, published in an American journal, The Philosophical Review, November, 1948.

२. देखिए--डा० महादेवन का लेख--
Indian Philosophy and the west, Published in 'The Philosophical Onarterly,' Amalner, October, 1949.

इसे प्राप्त करने की अवस्था तक पहुँचने के लिए साधना की जरूरत है। साधना का अर्थ है--मन, वचन, बुद्धि, भावना और चेष्टा, सबको पवित्र और परिमार्जित करके एक विशे दिशा में लगाना। इनमें से किसी में दोष आने से साधना दूषित हो जायगी। अनवरत साधना के फलस्वरूप साधक को परमतत्त्व की अनुभूति होती है। यह अनुभूति आध्यात्मिक होती है। यह मुखर नहीं होती। साथ ही, अनुभूति होने के नाते अनुभवकर्त्ता तक ही सीमित रहती है। जो इसका अनुभवकर्त्ता नहीं है उसे इसका पता नहीं रहता, उसके लिए यही रास्ता है कि सफल साधकों की बातों में विश्वास करे। किन्तु जबतक उसे स्वयं अनुभूति नहीं होती, उसके लिए यह वैसी ही है जैसे अंधे के लिए गुलाब का रंग--दूसरे से सुनकर ही अंधा जानता है कि गुलाब लाल होता है। यह अनुभूति स्वयं अपने को दूसरों तक नहीं पहुँचा सकती--इस कार्य के लिए बुद्धि की सहायता लेनी पड़ती है। बुद्धि इसकी व्याख्या करती है ताकि सका प्रचार औरों तक हो सके और उनके लिए यह बिल्कुल दुर्बोध न रहे। इसके प्रति किये गये विरोधियों के आक्षेपों को भी बुद्धि ही दूर करती है। दर्शन के लिए दोनों ही आवश्यक हैं--अनुभूति और उसकी बौद्धिक व्याख्या। अनुभूति न होने पर बुद्धि के लिए व्याख्या का विषय ही नहीं रह जायगा और बौद्धिक व्याख्या न होने पर अनुभूति अनुभवकर्त्ता तक ही सीमित रह जायगी, न तो वह उसका प्रचार ही कर सकेगा, न किसी के विरोध करने पर उसकी सत्यता की रक्षा ही कर सकेगा। अतएव भारतीय दर्शन बुद्धि की महत्ता अस्वीकार नहीं करता, वह न तो अबौद्धिक है, न सिर्फ बौद्धिक, बल्कि बौद्धिकता उसका एक आवश्यक अंग है।

भारतीय दर्शन के अनुसार बुद्धि की पहुँच परम तत्त्व तक नहीं हो सकती, वहाँ तो आध्यात्मिक अनुभूति ही पहुँच सकती

है। बुद्धि उस अनुभूति की व्याख्या भर कर सकती है। यह व्याख्या अत्यन्त आवश्यक है, इसलिए हम कह सकते हैं कि भारतीय विवेचन के अनुसार भी दार्शनिक चिंतन बौद्धिक चिंतन है। इस सामान्य अर्थ में दर्शन की बौद्धिकता विश्व के सभी दार्शनिकों को स्वीकार है। यहाँ निष्कर्ष के रूप में हम कह सकते हैं कि भारतीय और पश्चिमी परिभाषाओं में यही अंतर है कि दर्शन के भिन्न-भिन्न अंगों पर ये जोर देती हैं। भारतीय दार्शनिक बुद्धि को उतना महत्व नहीं देते जितना पश्चिमी दार्शनिक, और पश्चिमी दार्शनिक आध्यात्मिक अनुभूति को उतना महत्व नहीं देते जितना भारतीय दर्शन में दिया गया है। आधुनिक युग के कुछ दार्शनिक (Bradley, Bergson, आदि) भारतीय दृष्टिकोण की ओर झुक रहे हैं जब वे परम तत्त्व का ज्ञान कराने म बुद्धि की अक्षमता घोषित करते हैं।

पश्चिमी और भारतीय दृष्टियों का संबंध

पश्चिमी और भारतीय मतों का सबसे प्रमुख अंतर दार्शनिक चिंतन की उत्पत्ति के विषय में है। भारतीय दार्शनिकों (चार्वाकों को छोड़कर) के अनुसार दार्शनिक चिंतन की उत्पत्ति जिज्ञासा से नहीं, बल्कि दुख-मात्र का नाश करने की आकांक्षा से है और इसका उद्देश्य मोक्ष (दुख के पूर्ण विनाश) को प्राप्त करना ह। मोक्ष की प्राप्ति तब होती है जब साधक को परम तत्त्व का साक्षात्कार होता है। जिज्ञासामात्र को शांत करना दर्शन का उद्दश्य नहीं है। इसका उद्देश्य तो जीवन के परम सुख का लाभ कराना है। विश्व के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान हम प्राप्त करना चाहते हैं, किन्तु उस ज्ञान का उद्देश्य मोक्ष की अवस्था को पहुँचना ही रहता है। अतएव, भारतीय दर्शन एक विशिष्ट उद्देश्य को लेकर चलता है।

यह बात ठीक है कि अधिकांश पश्चिमी दार्शनिकों ने दर्शन को शुद्ध बौद्धिक प्रक्रिया तक सीमित रखा है और कोई विशिष्ट व्यावहारिक उद्दश्य नहीं नियत किया है; फिर भी वे सदा यह मानते आ रहे हैं कि

जीवन के लिए इससे निश्चित फायदे मिलते हैं।[१] कुछ समकालीन पश्चिमी दार्शनिक तो स्पष्टतः मानने लगे हैं कि दर्शन का उद्देश्य कुछ ऐसे सिद्धान्तों को प्रस्तुत करना है जो हमारे वैयक्तिक, सामाजिक और राजनीतिक जीवन के लिए आधारशिला हो सकें, जिनके सहारे विश्व-जीवन में व्यवस्था आ सके, जिसकी आज अत्यन्त आवश्यकता है। इसी कारण वे कहते हैं कि आज दर्शन के विषय होने चाहिएं मनुष्य और उसकी समस्याएँ। मनुष्य और मनुष्य-समाज के प्रश्नों की ओर आज दार्शनिकों का ध्यान आकृष्ट होना चाहिए, न कि विश्व--उसकी उत्पत्ति आदि विषयों की ओर। ये विषय भी सारहीन नहीं ह--किन्तु वर्तमान वस्तुस्थिति ही ऐसी है कि मनुष्य और उसके धार्मिक, सामाजिक जीवन-संबंधी प्रश्नों को अधिक महत्व देना चाहिए। इन समस्याओं के सुलझाने में दर्शन हमारी सहायता कर सकता है--जीवन के मूल्यों को निर्धारित करके। अतएव, जीवन में व्यवस्था लाने के लिए जीवन के मूल्यों को पुनर्जीवित कर, युग के अनुकूल रूप देकर, उन्हें हमारे सामने प्रस्तुत करना आज दार्शनिकों को अभीष्ट होना चाहिए। ऐसा करने पर ही आधुनिक जीवन की अशांति मिट सकती है।[२]

इस विवेचन से यह प्रमाणित हो जाता है कि पश्चिमी दशन निरुद्देश्य नहीं है। हाँ, उसका उद्देश्य मोक्ष नहीं है। अतएव, दोनों दर्शनों के विषय में यह सत्य है कि दोनों ही यह निर्दिष्ट करना चाहते हैं कि जीवन का स्वस्थ स्वरूप क्या है और उसके आदर्श की सिद्धि के लिए कौन सा मार्ग उचित है।

---

१ देखिये--
The Approach to Philosophy by R. B. perry; Return to Phylosophy, and Decadance by C. E. M. Joad.

२ देखिये--
Introduction to philosophy by G.T.W. Patrick, chap. I, Decadance by C. E. M. Joad Chap. I.

दार्शनिक चिंतन के विषय में पूर्वी और पश्चिमी दृष्टिकोणों के के आधार पर हम कह सकते हैं कि दोनों में अन्तर होते हुए भी दोनों के अनुसार सम्पूर्ण विश्व दर्शन-शास्त्र का विषय है। **दर्शन का विषय** किन्तु इसका मतलब यह नहीं होता कि दार्शनिक को दुनिया की हर चीज का ज्ञान रहता है। सम्पूर्ण विश्व को ज्ञान का वि य करने का अर्थ है कि दार्शनिक उन सामान्य सिद्धान्तों की खोज करता है जो समूचे विश्व के लिए आधारभूत हैं, जो विश्व की सभी घटनाओं की व्याख्या करते हैं, जिन्हें जान लेने के बाद दुनिया एक पहेली नहीं रह जाती। दर्शन ऐसे सिद्धान्तों को प्रस्तुत करता है जो ज्ञाता के सामने जीवन और जगत का मूल्य स्पष्ट कर देते हैं। दर्शन हमें उन मूल्यों का ज्ञान कराता है जिनकी रक्षा हमारे जीवन का उद्देश्य है और उन रास्तों को बतलाता है जिनपर चलने से हमारे-जैसे जगत में हम उन मूल्यों की रक्षा कर सकेंगे।

दर्शन के प्रश्न स प्रकार के हैं--विश्व क्या है? यह क्यों है और इसकी उत्पत्ति कैसे हुई है? इसका वास्तविक स्वरूप क्या है? इसका कोई अर्थ, उद्देश्य है या यह अर्थहीन घटनाओं की शृंखलामात्र है। ईश्वर की सत्ता है या नहीं? वास्तविक सत्ता क्या है? उसका ज्ञान कैसे हो सकता है? सत्य क्या है? सत्यज्ञान के स्वरूप, साधन और सीमाएँ क्या हैं? ज्ञान और आचरण में क्या सम्बन्ध है? आचरण का आदर्श क्या होना चाहिए? कैसा आचरण कर्त्तव्य कहलाता है? व्यक्ति और समाज के कर्त्तव्य क्या हैं? राष्ट्रों के बीच किस तरह का सम्बन्ध होना चाहिए और इस तरह के संबंध के आधारभूत सिद्धांत क्या हैं? मनुष्य-जीवन का उद्देश्य क्या है और इस उद्देश्य की पूर्ति में किस प्रकार समाज उसकी सहायता कर सकता है? मनुष्य सौन्दर्य क्यों चाहता है? सौन्दर्य का स्वरूप क्या है? सत्य, शिव और सुन्दर--इन तीनों में क्या संबंध है? इत्यादि।

इन प्रश्नों से ही मालूम होता है कि दर्शन का विषय कितना व्यापक, गहन और महत्वपूर्ण है। ये सभी प्रश्न ऐसे हैं जिनके समाधान के लिए मनुष्य-जाति तभी से तत्पर है जब से उसने सोचना सीखा ह; किन्तु अभी तक इन सभी प्रश्नों के संतोषजनक उत्तर वह नहीं दे सकी है। इसका कारण इन प्रश्नों की व्यापकता और गंभीरता ही है। ऐसी बात भी नहीं है कि अभी तक उसे कुछ भी सफलता न मिली हो, सफलता तो बहुत कुछ मिली है; आज का मनुष्य इन प्रश्नों को अपने पूर्वजों से अधिक समझता है ! इनमें से बहुतों के उत्तर उसने दिए भी हैं। जो प्रश्न अभी तक नहीं हल हो सके हैं उनके विषय में भी उसकी समझ पहले से बढ़ ही गई है। यद्यपि इन प्रश्नों के उत्तर अधूरे हैं, फिर भी पहले के उत्तरों से अधिक उपयुक्त हैं। किन्तु इससे यह नहीं समझना चाहिए कि जो दार्शनिक चिंतन इन प्रश्नों को सुलझाने का प्रयत्न करता है उसका विकास एक सीधी रेखा में बिना उतार-चढ़ाव के होता गया है। यह बात ठीक है कि इसका विकास उत्तरोत्तर होता आ रहा है; किन्तु इसके रास्ते में काफी उतार और चढ़ाव हुए हैं। दर्शन का इतिहास इस कथन का साक्षी है।

दर्शन के सभी प्रश्न अभीतक नहीं सुलझाए जा सके हैं, इससे हमें यह निष्कर्ष नहीं निकालना चाहिए कि वे कभी सुलझ ही नहीं सकते। ऐसा निष्कर्ष निकालना गलत चिंतन का ही द्योतक होगा। ऐसी गलती कुछ लोग करते हैं जब वे सभी प्रश्नों का समाधान न देखकर यह कहते हैं कि दार्शनिक चिंतन निष्फल है; क्योंकि इसके प्रश्नों को सुलझाना कभी सम्भव ही नहीं है। इन आलोचकों को यह जानना चाहिए कि एक समय था जब विज्ञानों के कई प्रश्न थे जिनका उचित समाधान नहीं हो रहा था। आज भी कई प्रश्न

हैं जो संतोषजनक रूप से नहीं सुलझाए गये हैं; किन्तु इन प्रश्नों को कोई अनुत्तरणीय नहीं कहता। यदि वैज्ञानिक इन्हें अनुत्तरणीय मान कर इनके विषय में काम करना बन्द कर दें तो विज्ञान की प्रगति ही रुक जाय। दर्शन का इतिहास भी वैसा ही है जैसा विज्ञान का। विज्ञान के सभी प्रश्न कभी बिलकुल सुलझा दिये गये हों या किसी श्न पर सभी युगों के वज्ञानिक एक मत हो गये हों, सो बात नहीं है। विज्ञान में भी मतभेद है--ऐसे प्रश्न हैं जिनका निश्चित समाधान नहीं मिला है, और एक युग के सिद्धान्त दूसरे युग में गलत ठहरे हैं। गैलिलिओ और न्यूटन के सिद्धांतों में उनके बाद वाले युगों के वैज्ञानिकों ने काफी परिवर्तन ला दिया है, फिर भी हम नहीं कहते कि विज्ञान निष्फल है। दर्शन के साथ भी यही बात है। अतएव इसके निष्कर्षों के विषय में मतभेद या परिवर्तन होने से, या प्रश्नों का समुचित समाधान न होने से, इसे निरर्थक कहना कदापि उचित नहीं।

दार्शनिक चिंतन की अनिवार्यता

दर्शन के प्रश्न गम्भीर हैं। इसीलिए इनका समाधान आसानी से नहीं हो सकता। किन्तु हम नके विषय में सोचना बन्द भी नहीं कर सकते। अपने विषय में सोचने के लिए ये सदा हमें प्रेरित करते हैं। जबतक हम कोई-न-कोई उत्तर नहीं खोज लेते, हमें ये चैन नहीं लेने देते। फलतः हम सभी इनके विषय में सोचते हैं और अपनी-अपनी बुद्धि तथा योग्यता के अनुसार उत्तर ूँढ़ लेते हैं। खेत काटता हुआ किसान और दार्शनिक चिंतन में निरत शंकराचार्य, दोनों इनके विषय में सोचते हैं। अपने चिंतन के फल-स्वरूप शंकराचार्य अद्वैतवाद का प्रतिपादन करते हैं और किसान या तो अपनी ही योग्यता से कामचलाऊ उत्तर निकाल लेता है या समाज के किसी विश्वासी व्यक्ति के मत को मान लेता है--

अक्सर वह दूसरे के मत को ही अपना लेता है; किन्तु किसी-न-किसी तरह इन प्रश्नों का समाधान वह अवश्य करता है। दुनिया क्या है, ईश्वर है या नहीं, हमें क्या करना चाहिए—आदि प्रश्नों का उत्तर हर आदमी अपने ढंग से प्राप्त करता है, भले ही सबके उत्तर समानतः उपयुक्त न हों। जाने-अनजाने, जीवन और जगत के विषय में, कोई-न-कोई मत हर आदमी रखता है, और ऐसा वह इसीलिए करता है कि बिना ऐसा किये वह नहीं रह सकता, ऐसा करना उसके स्वभाव का एक अंग है। जीवन और जगत के विषय में बिना कोई मत रखे जीना ही सम्भव नहीं है। यही कारण है कि हमारे सामने यह प्रश्न नहीं उठता कि हम दार्शनिक बनें या न बनें। दार्शनिक तो हमें होना ही है यदि हम सच्चे अर्थ में जीना चाहते हैं। अतएव प्रश्न हमारे सामने है तो यही कि हम कैसा दार्शनिक बनें—कुशल या अकुशल?* हम सबका विभाजन दार्शनिक और अदार्शनिक के रूप में नहीं, बल्कि अच्छे और खराब दार्शनिक के रूप में हो सकता है। जिसे हम दार्शनिक कहते हैं वह कुशल दार्शनिक और जिसे दार्शनिक नहीं कहते वह अकुशल दार्शनिक है। पहले के विचार युक्तिसंगत और सामंजस्यपूर्ण होते हैं जब कि दूसरे के विचार विरोधों से भरे, जिनका कोई बौद्धिक आधार नहीं होता, और यदि होता भी है तो उसका स्पष्ट ज्ञान उन्हें नहीं रहता। कुशल दार्शनिक निष्पक्ष ही चिंतन करता है। उसके विचार यथासम्भव उसकी इच्छा-आकांक्षाओं से प्रभावित नहीं होते—जब कि अकुशल दार्शनिक निष्पक्ष नहीं होता, उसकी बुद्धि इतनी सबल नहीं होती कि उसके रागों और द्वेषों के ऊपर उठकर स्वतन्त्र प्रयास कर सके। उक्त किसान और शंकराचार्य में यही

* देखिए—
Problems of Philosophy by Cunningham, P: 70.

अन्तर है। शंकराचार्य प्रश्नों को अधिक समझते हैं, और स्वतंत्र चिंतन के द्वारा निष्पक्ष और युक्तिपूर्ण उत्तर देते हैं--जब कि किसान को न तो प्रश्नों की पूरी समझ ही होती है न स्वतन्त्र चिंतन की क्षमता ही, फलतः उसके उत्तर कामचलाऊ भर होते हैं। अधिकांश व्यक्तियों के दर्शन किसान के ऐसे होते हैं । किन्तु सबके अपने-अपने दर्शन होते हैं अवश्य और हर आदमी का दर्शन उसके लिए उतना ही महत्वपूर्ण रहता है । जिसने कभी 'दर्शन' शब्द का अर्थ नहीं समझा, उसका भी अपना दर्शन रहता है। दार्शनिक विचार उसके भी हैं, सिर्फ उसे यही नहीं मालूम है कि ऐसे ही विचार दार्शनिक कहे जाते हैं।

हमारे दार्शनिक विचार, चाहे अच्छे हों या बुरे, हमारे जीवन की गतिविधि स्थिर करते हैं। किसान की जीवननौका की पतवार उसके दार्शनिक विचारों के हाथ है, शंकराचार्य की

दर्शन और जीवन

उनके दर्शन के हाथ । किसान का दर्शन उसके लिए उतना ही आवश्यक है जितना शंकराचार्य का उनके लिए। अतएव हमें दार्शनिक बनना ही है और अपने जीवन का पथ-प्रदर्शन अपने दर्शन से कराना है। दार्शनिक विचारों की ऐसी महत्ता के ही कारण भिन्न दर्शनोंवाले व्यक्तियों की जीवन-धाराएँ अलग-अलग हो जाती हैं। ईश्वर के अस्तितव के विषय में दो मत रखनेवाले व्यक्तियों के जीवन की रूपरेखाएँ भी एक नहीं होतीं। यह बात व्यक्ति और राष्ट्र दोनों के साथ है। भिन्न-भिन्न दार्शनिक विचारों के रखनेवाले राष्ट्रों के आदर्श भिन्न होते हैं और उनका पारस्परिक संबंध भी मेल-जोल का नहीं होता। व्यक्ति और राष्ट्र के जीवन में इस प्रकार महत्वपूर्ण होने के कारण यह कहना उचित है कि दार्शनिक विचारों से ही हमारे जीवन का स्वरूप और उसकी सफलता दोनों निर्दिष्ट होते हैं। हमारा जीवन कैसा होगा और उस तरह के

जीवन से कहाँ तक हम विश्व-कल्याण में योग दे सकेंगे, यह हमारे दार्शनिक विचारों पर ही निर्भर करता है। बात यह है, बिना किसी सैद्धांतिक आधार के जीवन में विशृंखलता आ जाती है। आचरण में सामंजस्य लाने के लिए विचारों में सामंजस्य लाना आवश्यक है और विचारों का सामंजस्य तभी संभव है जब उनकी आधार-शिला के रूप में जीवन और जगत के विषय में उचित और सुदृढ़ सिद्धान्त प्रस्तुत हों। ये सिद्धांत जीवन के प्रति व्यक्ति का दृष्टिकोण स्थिर करते हैं और उनके जीवन-भर की क्रियाओं के बीच एक शृंखला स्थापित करते हैं।

दर्शन की उपयोगिता के विरुद्ध किए गए कुछ आक्षेप और उनके उत्तर

हमारा जीवन हमारे दर्शन के अनुरूप होता है, इसका यही आशय है कि जैसा हम सोचते हैं वैसा ही हम बनते हैं। मैं मानता हूँ, बहुत लोग ऐसे मिलते हैं जिनके दर्शन और जीवन में बड़ा अंतर रहता है, जिनके विचार तो शंकराचार्य के विचारों से कम आध्यत्मिक नहीं होते, किन्तु उनके व्यवहार ठीक चार्वाकों-जैसे होते हैं। किन्तु ऐसे लोगों का उदाहरण यह प्रमाणित नहीं करता कि व्यक्ति के जीवन पर उसके दर्शन का प्रभाव नहीं पड़ता। बात यह है कि शंकर का अध्यात्मवाद उनका असली दर्शन नहीं होता; हाथी के दिखावटी दाँतों की तरह अध्यात्मवाद तो केवल दिखलाने भर को है, उनका असली दर्शन तो चार्वाक-दर्शन ही है, जिसके अनुरूप उनके व्यवहार होते हैं। यह बात इस युग के बहुत-से तथाकथित गांधीवादियों के विषय में लागू है! हमारा जीवन हमारे वास्तविक दर्शन का अनुयायी बनता है, नकली दर्शन का नहीं। इसलिए आवश्यकता है सचाई की। जिसे हम अपना मत कहते हैं उसमें हमारी आस्था होनी चाहिए, दुरंगी चाल कभी सराहनीय नहीं हो सकती।

दर्शन के प्रश्नों का हमारे जीवन से इतना निकट संबंध है, इसलिए यह कहना कि उनके विषय में निष्पक्ष चिंतन हम दर्शन में

करते हैं, कुछ लोगों को विरोधपूर्ण लगता है। उनके अनुसार दो बातें एक सा नहीं हो सकतीं—दर्शन के प्रश्न हमारे इतने आत्मीय भी हों और हम उनके विषय में निष्पक्ष चिंतन भी करें। वस्तुतः यहाँ कोई विरोध नहीं है। यदि किसी को विरोध दीखता है तो 'निष्पक्ष' का अर्थ ठीक-ठीक न समझने के कारण ही। निष्पक्ष होने का अर्थ उस विषय से दूर होना नहीं होता, न तो निष्पक्षता वहीं संभव है जहाँ जीवन से कोई संबंध न हो। जीवन-संबंधी विषयों पर हम निष्पक्ष रूप से विचार कर सकते हैं—इसका प्रमाण हमारा अनुभव है, और ऐसा करने की आवश्यकता है; क्योंकि ऐसा करने पर ही इन विषयों का यथार्थ ज्ञान हो सकेगा। निष्पक्ष होना आसान नहीं है; किन्तु इससे यह असंभव या अनावश्यक भी नहीं कहा जा सकता। जितना ही हम निष्पक्ष हो पाते हैं उतना ही हमारा अन्वेषण सफल होता है।

उक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि दार्शनिक चिंतन हमारे लिए स्वाभाविक ह और इसका उन्मूलन संभव नहीं है। बुद्धि और जीवन दोनों ही हमें दार्शनिक बनने के लिए प्रेरित करते हैं। दुनिया पग-पग पर हमारे अंदर कुतूहल पैदा करती है और रहस्यात्मक दीखती है; किन्तु कुतूहल और रहस्य बुद्धि को बरदास्त नहीं होते—वह उन्हें हटाना चाहती है और तभी हटा सकती है जब वह जीवन और जगत का ज्ञान प्राप्त कर ले। बुद्धि की यह माँग दर्शन द्वारा ही पूरी हो सकती है। बुद्धि के साथ-साथ (जैसा हम देख चुके है) जीवन भी बिना दर्शन के नहीं चल सकता—जीने के लिए एक जीवन-दर्शन की आवश्यकता होती है। फिर भी, कुछ आलोचक कहते हैं कि दर्शन जीवन के लिए अनावश्यक है; क्योंकि जीविका चलाने में इससे कोई सहायता नहीं मिलती, बल्कि उलटे हमें यह अव्यावहारिक बना देता है—यह रोटी का सवाल नहीं हल करता, यह तो बैठे-ठाले का काम है!

ऐसे आलोचक जीवन को दर्शन से अलग रखना चाहते हैं और सदा दर्शन को उपेक्षा की नजर से देखते हैं। अपनी इस प्रवृत्ति का परिचय वे तब देते हैं जब किसी के प्रस्ताव को दार्शनिक कहकर उसे टालने योग्य घोषित करते हैं। ऐसे आलोचकों के लिए 'दार्शनिक' और 'अव्यावहारिक' दोनों शब्द एक ही अर्थ रखते हैं ! किसी दार्शनिक की बातों को सारहीन सिद्ध करने के लिए वे इतना ही कह देना पर्याप्त समझते हैं कि 'अरे, ये तो दार्शनिक हैं' !

इस आलोचना का कारण 'दर्शन' और 'व्यवहार' दोनों को गलत समझना है। **'दर्शन-शास्त्र व्यावहारिक नहीं है'**—इस वाक्य से आलोचकों का आशय या तो यह हो सकता है कि **'दर्शन की जो परिभाषा अबतक के दार्शनिकों ने दी है उसके अनुसार दर्शन से व्यावहारिक जीवन में कोई सहायता नहीं मिल सकती'** या यह कि **'दर्शन की कोई भी परिभाषा क्यों न की जाय, हमारे व्यावहारिक जीवन में वह सहायक नहीं हो सकता।'** पहला कथन दर्शन-शास्त्र को न समझने के कारण है और दूसरा व्यावहारिक जीवन को।[१]

दर्शन और दर्शन के इतिहास को न समझने या गलत समझने पर ही कोई कह सकता है कि दर्शन को अब तक के दार्शनिकों ने अव्यावहारिक रूप दिया है, क्योंकि विश्व के सभी दार्शनिकों ने एक स्वर से घोषित किया है कि दर्शन-शास्त्र की सफलता जीवन के लिए सहायक होने में और दार्शनिक की सफलता उसे जीवन में उतारने में है। अपना ही नहीं बल्कि समाज के जीवन को भी अपने दर्शन के अनुसार बनाने का यत्न दार्शनिकों ने किया है। महावीर, बुद्ध,

---

१ यह भी संभव है कि कोई आलोचक दोनों को ही गलत समझ; किन्तु ऐसे आलोचकों का मत इतना महत्वपूर्ण नहीं होगा कि उसकी समीक्षा की जाय ! —ले०

शंकराचार्य, प्लेटो कार्लमार्क्स, महात्मा गांधी आदि के उदाहरण वर्तमान हैं। हम मानते हैं कि बहुत-से दार्शनिक हैं जो महात्मा गांधी की तरह सामाजिक और राजनीतिक आन्दोलन करके तत्कालीन जीवन में हेर-फेर नहीं लाते; किन्तु इससे हम यह नहीं कह सकते कि उनका दर्शन अव्यवहारिक है और युग के जीवन पर उसका प्रभाव नहीं पड़ा है। उनका अपना जीवन तो उनके दर्शन से प्रभावित होगा ही, और जहाँतक युग को प्रभावित करने का प्रश्न है, उसके लिए आन्दोलन करने की आवश्यकता नहीं। विचारों का प्रभाव तो व्यक्ति और समाज पर पड़ेगा ही यदि उनमें शक्ति है। श्रीअरविन्द ने अपने विचारों के चार के लिए कोई आन्दोलन नहीं किया है, फिर भी आज के जीवन पर उनका प्रभाव दीख रहा है। हाँ, यह बात है कि दार्शनिक स्वयं कोई आन्दोलन भले ही न करे, किन्तु उसके विचार किसी सामाजिक या राजनीतिक नेता को माध्यम बना आन्दोलन का कारण बन सकते हैं। वस्तुतः यह बात सभी क्रांतियों के साथ लागू है---क्रांति होने के पूर्व समाज में एक विशिष्ट मनोभूमि की अपेक्षा होती है और इस मनोभूमि का निर्माण किसी-न-किसी प्रकार के दर्शन के आधार पर होता है। इन क्रांतियों के नेता ऐसे व्यक्ति होते हैं जो औसत से अधिक संवेदनशील रहते हैं, उस दर्शन की उपादेयता में पूर्ण विश्वास रखते हैं और सामाजिक कल्याण के लिए उसी के अनुसार समाज का पुनर्निर्माण करना आवश्यक समझते हैं। उदाहरण के लिए हम लेनिन और रूसी क्रांति को ले सकते हैं। कार्लमार्क्स के विचारों ने लेनिन को प्रभावित किया और उन विचारों के अनुसार क्रांति कर लेनिन ने तत्कालीन रूसी समाज का संगठन किया। स्वयं मार्क्स भी हेगेल (Hegel) और फ्वेरवाख् (Feuerbach) से प्रभावित हुए थे, अतएव रूसी क्रांति के कारणभूत विचारों में हेगेल और

फवेरवाख् के विचार भी सम्मिलित हैं––यद्यपि क्रांति से उनका संबंध सीधा नहीं है।

ये उदाहरण यह प्रमाणित कर देते हैं कि दर्शन और उसके इतिहास को समझने के बाद उसपर अव्यावहारिकता का दोषारोपण नहीं किया जा सकता। किन्तु कुछ आलोचक दर्शन को समझने का दावा करते हुए भी उसे अव्यावहारिक कहते हैं! जैसा हम कह आये हैं, इन आलोचकों की भूल यह है कि वे 'व्यावहारिक जीवन' की गलत व्याख्या करते हैं। जीवन में व्यावहारिक होने का यही अर्थ होता है कि जीवन की वास्तविकताओं को ध्यान में रखकर उन्हीं के अनुरूप जीवन की दिशा निर्धारित की जाय; किन्तु ऐसा करने के लिए इन वास्तविकताओं के यथार्थ ज्ञान और मूल्यांकन आवश्यक हैं, जो बिना दर्शन के नहीं हो सकते। जीवन की वास्तविकताएँ क्या हैं, उनमें किनकी महत्ता अधिक है और उनके प्रति हमारा दृष्टिकोण किस तरह का होना चाहिए––इन सब विषयों में दर्शन से ही प्रकाश मिल सकता है। अतएव, दर्शन हमें अव्यावहारिक तो नहीं ही बनाता, अपितु बिना दर्शन के वास्तविक व्यावहारिकता आ ही नहीं सकती। किन्तु, यदि व्यावहारिक बनने का अर्थ बिना किसी सिद्धान्त के, अपने आवेगों और इच्छाओं के अनुसार, वास्तविकताओं से आँखें मूँदकर, पशुवत जीवन बिताना समझें तो अवश्य ही दर्शन हमें व्यावहारिक नहीं बनाता; प्रत्युत उस हालत में अव्यावहारिक बनाना ही दर्शन के लिए शोभा की बात होगी। वैसे दर्शन से भले ही जीविका न मिले, किन्तु जीवन तो मिलेगा और मिलेंगे वे आदर्श जिनकी प्रेरक शक्ति मनुष्य को सदा मनुष्य बन रहने में सम्बल का काम करेगी।

कुछ लोग दर्शन को मानसिक कसरत भर मानते हैं और कहते हैं कि इससे जीवन में कोई लाभ नहीं होता। पहले तो यही

कहना कि 'दर्शन मानसिक कसरत भर है' गलत है; दूसरे—यदि यह मान लिया जाय तो यह निष्कर्ष नहीं निकलता कि 'इससे जीवन में कोई लाभ नहीं होता'। जैसा प्रो० जोड[1] ने कहा है, यदि दर्शन केवल मानसिक कसरत भर है तो इससे यह फायदा है कि मन की कसरत हो जाती है जो मन के स्वास्थ्य के लिए आवश्यक है; मन को स्वस्थ रखना आवश्यक भी है और इस कार्य में दर्शन लाभकर होता है।

दार्शनिक चिंतन से हमारी बुद्धि का शिक्षण होता है और निष्पक्ष होकर युक्तिपूर्ण ढंग से सोचने का अभ्यास लग जाता है। दर्शन के विषय अत्यन्त व्यापक हैं और उनके विषय में दार्शनिक अपने छोटे-मोटे स्वार्थों से ऊपर उठकर चिंतन करता है, फलतः लगातार चिंतन से, निःस्वार्थ और व्यापक दृष्टिकोण से, किसी विषय पर सोचना उसके लिए स्वाभाविक हो जाता है। बुद्धि की यह शिक्षा एक बहुत बड़ी देन है—एक तो इसके फलस्वरूप चित्त शांत और स्थिर रहता है, दूसरे यदि इसका प्रयोग वैयक्तिक और सामाजिक जीवन के प्रश्नों के सुलझाने में किया जाय तो बहुत काम हो सकता है। हमारे अधिकांश झगड़े स्वार्थपूर्ण, संकुचित और असंगत ढंग से सोचने के कारण होते हैं। धार्मिक, राजनीतिक, सामाजिक या आर्थिक प्रश्नों के समाधान में यदि दार्शनिक दृष्टि का उपयोग किया जाय तो आज के जीवन की बहुत-कुछ कटुताएँ खतम हो जायँगी।

यहाँ पर एक चेतावनी की आवश्यकता है। अपने को दार्शनिक कहनेवाले कुछ लोगों के जीवन पर दार्शनिक चिंतन का उक्त प्रभाव

---

१. देखिए—
'Return to Philosophy' by C. E. M. Joad, P. 141.

न पाकर हमें यह नहीं मान लेना चाहिए कि इसका वैसा प्रभाव पड़ता ही नहीं है। वस्तुतः ये लोग दाशनिक नहीं होते, बल्कि दार्शनिकता का ढोंग करते हैं। सचमुच दर्शन की जो अधोगति कभी हुई है वह इन्हीं मक्कारों के कारण—जितना नुकसान दर्शन के दुश्मनों ने नहीं किया है उससे अधिक इन झूठे भक्तों ने किया है। दर्शन के ऊपर अव्यावहारिकता का आरोप भी ऐसे ही बनावटी दार्शनिकों की रहन-सहन देखकर किया गया है। ये सज्जन अपने विचारों और क्रियाओं में नियमितता नहीं लाते, बल्कि अन्य व्यक्तियों से अद्भुत बनने का प्रयत्न करते हैं और इसके लिए अपनी रहन-सहन को ऊटपटाँग बना देते हैं। दर्शन का मूल्यांकन इन पाखंडियों के विचारों और क्रियाओं के आधार पर नहीं होना चाहिए, उसका आधार तो शकर और कांट (Immanuel Kant) जैसे विद्वानों की कृतियाँ और जीवन-चर्याएँ होनी चाहिएं।

दार्शनिक चिंतन की उपयोगिता मानते हुए भी कुछ विचारक वर्तमान युग को इसके लिए उपयुक्त नहीं मानते हैं। उनका कहना है कि यह युग संकट का युग है, अशांति का युग है, इसलिए आज दार्शनिक चिंतन करना सम्भव नहीं है; क्योंकि उसके लिए शान्तिपूर्ण सामाजिक व्यवस्था का होना आवश्यक ह; अतएव दर्शन की प्रगति स युग में नहीं हो सकती। दर्शन की प्रगति के विषय में ऐसे निराशावाद का कोई कारण नहीं है। दार्शनिक चिंतन के बीज हमारे अंदर इतने सबल हैं कि हजार रुकावट होने पर भी वे अंकुरित हुए बिना नहीं रह सकते, और एक बार अंकुरित होने पर तो पत्थर की दीवारों को भी फोड़कर निकल जाना उनके लिए असंभव नहीं रह जाता।

आधुनिक युग संकट का युग अवश्य है; किन्तु इससे न तो दर्शन की प्रगति असंभव ही हो जाती है न अनावश्यक ही। प्रगति असंभव

नहीं होती, इसका प्रमाण विश्व का इतिहास है। विश्व के इतिहास में संकट के युग बहुत आये हैं, किन्तु कभी दर्शन की धारा सूख नहीं गई है--हाँ, क्षीण अवश्य हो गई है। किन्तु, यदि यह क्षीण होती है तो इसीलिए कि आगे चलकर काफी प्रवाह के साथ बहने लगती है। हमारे कहने का यह मतलब नहीं है कि दर्शन युग की परिस्थितियों की अपेक्षा नहीं करता। वस्तुतः ज्ञान की कोई शाखा युग की उपेक्षा नहीं कर सकती। किन्तु इसका अर्थ यह भी नहीं होता कि ज्ञान की प्रगति के लिये एक ऐसे आदर्श युग का होना अनिवार्य है जिसमें पूर्ण शान्ति रहे। वस्तुतः संकट के युग में ही दार्शनिक चिंतन की अत्यधिक आवश्यकता है; क्योंकि संकट का अंत इसके बिना नहीं हो सकता। अतएव, आज दर्शन की आवश्यकता अन्य युगों से अधिक है। जीवन के मूल्यों के विषय में आज हम अनिश्चित हैं। राजनीतिक, धार्मिक और सामाजिक विषयों पर भी हमारे विचार सुदृढ़ नहीं हैं। इन मामलों में दार्शनिक चिंतन के सहारे ही स्थिर भूमि मिल सकती है, जिस पर हमार पर टिक सकते हैं। आज के दार्शनिकों का यह कर्त्तव्य है कि अपने विचारों और सिद्धान्तों के बल पर जीवन के मूल्यों में जनता का विश्वास और श्रद्धा कायम करें, तथा जीवन के प्रति एक स्वस्थ दृष्टिकोण प्रस्तुत करें, जिससे युग की अशान्ति और अनिश्चितता का अंत हो।[1]

---

१ देखिये—लेखक का 'वर्तमान संकट और दर्शन,' 'शीर्षक निबंध 'बिहार' सितम्बर, १९४६।

दूसरा अध्याय

दर्शन, धर्म, और विज्ञान

विषय-प्रवेश

दर्शन-शास्त्र का संबंध धर्म और विज्ञान दोनों से अत्यंत घनिष्ट है किन्तु इस संबंध को ठीक-ठीक समझने के लिये दर्शन, धर्म और विज्ञान, इन तीनों के स्वरूप का उचित ज्ञान अपेक्षित है। इस ज्ञान की कमी के कारण इनके पारस्परिक संबंध के विषय में गलत धारणाएँ उत्पन्न हो जाती हैं। उदाहरण के लिए हम उन विचारकों को ले सकते हैं जो दर्शन को विज्ञान का विरोधी और धर्म का समानार्थी मानते हैं। वस्तुतः दर्शन विज्ञान और धर्म में से किसी का न तो विरोधी है न समानार्थी, बल्कि इनके साथ इसका संबंध समानता और विभिन्नता का है; दोनों के साथ कुछ विषयों में दर्शन की समानता है, तो कुछ विषयों में विभिन्नता है। धर्म और विज्ञान के साथ दर्शन का क्या संबंध है, यही निश्चित करना इस अध्याय का उद्देश्य है किन्तु सुविधा के लिए इस विवेचन को हम दो भागों में बाँट देंगे; पहले भाग में दर्शन और धर्म का संबंध स्थिर किया जायगा और दूसरे में दर्शन और विज्ञान का।

(१) दर्शन और धर्म

दर्शन और धर्म के बीच किस प्रकार का संबंध है इसे समझने के लिए पहले हम धर्म के स्वरूप पर विचार करेंगे। धर्म की उत्पत्ति मनुष्य

के अन्दर सतत विद्यमान उस आध्यात्मिक भूख (spiritual hunger) से होती है जो उसे उसकी अपूर्णता को दूर कर पूर्णता की प्राप्ति के लिए प्रेरित करती रहती है। यह भूख

धर्म का स्वरूप

अपूर्णता की चेतना से पैदा होती है। मनुष्य चिंतनशील प्राणी है। वह देखता है कि उसकी शारीरिक या मानसिक सभी शक्तियाँ सीमित हैं, किन्तु अपनी सीमाएँ उसे सुहाती नहीं। ससीमता की चेतना उसके हृदय में एक टीस पैदा करती ह, उसे दूर करने के लिए वह बेचैन हो जाता है। वह चाहता है कि इन सीमाओं को हटा कर ऐसी अवस्था की प्राप्ति करे जिसमें वह पूर्ण हो जाय। किन्तु इस चाह की पूर्ति भौतिक पदार्थों की प्राप्ति से होती नहीं दीखती, इसलिए वह आध्यात्मिक मूल्यों (spiritual values) की वास्तविकता में विश्वास करने लगता है जिनकी प्राप्ति से अपूर्णता के दूर हो जाने की पूरी आशा उसे रहती है। इन्हीं आध्यात्मिक मूल्यों की प्राप्ति धर्म का उद्देश्य है, और र्मिक भूख तभी मिटती है जब धर्म का उद्दश्य पूरा हो जाता है। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए जो आचरण उचित समझा जाता है उसे ही धर्माचरण कहते हैं। धर्माचरण के अंदर शारीरिक और मानसिक दोनों प्रकार की क्रियाएँ सन्निहित हैं।

धार्मिक व्यक्ति के लिए ये आध्यात्मिक मूल्य चरम सत्य हैं, विश्व के आधार हैं, सभी वस्तुओं की वास्तविकता (reality) और सार्थकता (significance) इन्हीं पर पर निभर हैं। इन मूल्यों की कल्पना भिन्न-भिन्न धर्मों में भिन्न रूप से की गई है। किन्तु इनकी आत्यंतिक सत्यता (ultimate truth) में सभी विश्वास करते हैं और इनकी प्राप्ति से शान्ति और संतोष की आशा रखते हैं। अधिकांश धर्म ईश्वर को सर्वश्रेष्ट आध्यात्मिक मूल्य मानते हैं, उनके लिए ईश्वर ही परम सत्ता (Highest Reality) और परम मूल्य (Highest Value) है,

विश्व के अस्तित्व (Existence) और अर्थ (Meaning) दोनों का अन्तिम आधार (Final basis) है। किन्तु धर्म-भावना के लिए ईश्वर को मानना अनिवार्य नहीं है। बौद्ध और जैन धर्म ईश्वर को नहीं मानते हुए भी धर्म कहे जाते हैं, और संसार के अत्यंत ही शक्तिशाली धर्मों में उनकी गणना होती है। किन्तु सभी धर्म, चाहे ईश्वर को मानें या न मानें, आध्यात्मिक मूल्यों को अवश्य मानते हैं।

सभी धर्मों का उद्देश्य व्यावहारिक (Practical) रहता है-- आध्यात्मिक मूल्यों की उपलब्धि से जीवन को पूर्णता प्रदान करना। कुछ धर्मों के अनुसार इस लक्ष्य की प्राप्ति सिर्फ धर्माचरण करने से हो जाती है जब कि दूसरों के अनुसार इसके लिए ईश्वर का साक्षात्कार (Direct experience) आवश्यक है। आध्यात्मिक मूल्यों के प्रति धार्मिक व्यक्ति की जो आस्था रहती है वह बौद्धिक चिंतन (Intellecatual cognition) का नहीं बल्कि विश्वास (Faith) का परिणाम होती है। वह अपने विश्वास के बल पर उन्हें स्वीकार करता है, तर्क (Rational arguments) के बल पर नहीं। धार्मिक साधना के सफल होने पर उसे उनका साक्षात्कार अपनी अनुभूति में अवश्य होता है, लेकिन प्रारंभ में उसे मानकर चलना पड़ता है। यह साक्षात्कार भी बौद्धिक ज्ञान नहीं है, यह तो एक प्रकार की अपरोक्ष अनुभूति (Intuitive experience) है जिसमें साधक को धार्मिक सत्यों का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। धर्माचरण की यही चरम परिणति है। इसकी उपलब्धि के लिए अनवरत संयम और साधना का जीवन बिताना पड़ता है, और उपलब्धि हो जाने पर अपूर्णता की चेतना नष्ट हो जाती है, मनुष्य पूर्ण (Perfect) होकर अखंड शान्ति और सुख प्राप्त करता है। यह सुख भौतिक नहीं बल्कि आध्यात्मिक होता है जो कि वास्तविक और अनश्वर सुख है।

ऊपर के विवेचन से यह स्पष्ट है कि धर्म की **उत्पत्ति** मनुष्य की आध्यात्मिक भूख से होती है, और उसका **उद्देश्य** आध्यात्मिक **मूल्यों** की

वास्तविक उपलब्धि (actual realisation of spiritual values) है। उसकी **पद्धति** (Method), धार्मिक सत्यों का ज्ञान प्राप्त करने की पद्धति, विश्वास और प्रत्यक्ष अनुभूति हैं। धार्मिक चेतना का **विषय** (object) सम्पूर्ण विश्व है क्योंकि आध्यात्मिक मूल्यों को सारे संसार का आधार माना जाता है। विश्व का कोई अंश विशेष नहीं बल्कि पूरा विश्व ही उन पर निर्भर रहता है। इसलिए इन मूल्यों को मान लेने पर धार्मिक व्यक्ति को विश्व की पूरी व्याख्या मिल जाती है--वह विश्व की सभी घटनाओं का कारण उन्हीं मूल्यों को मानता है, अतएव उसके लिए किसी भी घटना का कारण अज्ञात नहीं है। ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास करनेवालों के लिए एक पत्ते के हिलने से लेकर संसार को डोला देनेवाली भयंकर से भयंकर घटनाएँ तक सभी ईश्वर की इच्छा से होती हैं, अतः उनके लिए कोई भी घटना या पदार्थ पहेली नहीं है।

दर्शन और धर्म का सम्बन्ध : पश्चिमी मत

धर्म के स्वरूप का यह परिचय दर्शन और ध र्म का सम्बन्ध स्पष्ट कर देता है किन्तु इस विषय में पश्चिमी और भारतीय विद्वानों का एकमत नहीं है। पश्चिमी मत के अनुसार दोनों की एकता केवल विषय लेकर है, क्योंकि दोनों का विषय सम्पूर्ण विश्व है। पहले अध्याय में हम देख चुके हैं कि दर्शन मनुष्य की सारी अनुभूतियों की युक्तिपूर्ण व्याख्या कर पूरे विश्व के आधारभूत सिद्धांतों की खोज करता है। धर्म भी अपने आध्यात्मिक मूल्यों द्वारा सारे विश्व की व्याख्या कर लेता है। इस तरह विषय की एकता सिद्ध हो जाती है। किन्तु अन्य तीन बातों--उत्पत्ति, उद्देश्य और पद्धति—के विषय में दोनों एक नहीं हैं। दर्शन की उत्पत्ति जिज्ञासा से, बुद्धि की माँग से, होती है, जब

कि धर्म की उत्पत्ति आध्यात्मिक भूख से होती है। आध्यात्मिक भूख रागात्मक (Emotional) है, बौद्धिक (Intellectual or Rational) नहीं। अपूर्णता की चेतना से उत्पन्न रागात्मक असंतोष (Emotional disquiet) इस भूख को जगाता है, विश्व की व्याख्या के लिए व्याकुल बौद्धिक जिज्ञासा नहीं। उत्पत्ति में भिन्नता होने से दोनों के उद्देश्य दो हो जाते हैं। दर्शन का उद्देश्य है विश्व की निष्पक्ष व्याख्या, किन्तु धर्म का उद्देश्य है आध्यात्मिक मूल्यों की वास्तविक सिद्धि*। दर्शन का उद्देश्य सैद्धान्तिक है, धर्म का व्यावहारिक। माना कि दर्शन भी व्यावहारिक जीवन के लिए शांति और संतोष प्रदान करता है, लेकिन यह दर्शन का उद्देश्य नहीं है, इसका परिणाम मात्र है, जब कि वह धर्म का उद्देश्य और परिणाम दोनों है। उसी तरह विश्व की जो व्याख्या धर्म में होती है वह धर्म का उद्देश्य नहीं है, बल्कि धार्मिक सिद्धांतों में विश्वास करने का परिणाम है। धर्म और दर्शन की तीसरी भिन्नता पद्धति के सम्बन्ध में है। धर्म की पद्धति विश्वास और अपरोक्ष अनुभूति है, जबकि दर्शन की पद्धति बौद्धिक चिंतन है। हम मानते हैं कि चिंतन अनुभूति के ही विषय में होता है, इसलिए दर्शन हमारी अनुभूतियों से भागता नहीं है बल्कि वह सारी अनुभूतियों की समीक्षा कर अपना निष्कर्ष स्थापित करता है। इस कारण दर्शन धर्म से व्यापक हो जाता है क्योंकि वह सभी तरह की अनुभूतियों--ऐन्द्रिय,

---

*"While the salvation of the soul is the end of religion, the discovery of truth is the object of Philosophy."— Sir S. Radhakrishnan, The Reign of Religion in Contemporary Philosophy, Page 5.

अतींद्रिय, धार्मिक, वैज्ञानिक--की परीक्षा करता है किन्तु धर्म की परिधि धार्मिक अनुभूति तक ही सीमित रहती है। इस प्रकार धार्मिक अनुभूति की भी परीक्षा कर उसके आधारों और निष्कर्षों की प्रामाणिकता स्थिर करना तथा अन्य अनुभूतियों के साथ उनका सामंजस्य स्थापित करना दर्शन का कर्त्तव्य हो जाता है। धर्म की यह समीक्षा वह निष्पक्ष भाव से करता है, धार्मिक सिद्धांतों का मंडन या खंडन उसका उद्देश्य नहीं रहता। किसी धर्म-विशेष के प्रति वह पक्षपात नहीं करता, भले ही समीक्षा के फलस्वरूप कोई खास धम औरों की अपेक्षा अधिक ाहा मालूम पड़े। धर्म का बौद्धिक विवेचन करनेवाली दार्शनिक क्रिया का विशिष्ट नाम धर्म-दर्शन (Philosophy of Religion) है।

दर्शन और धर्म का यही उचित सम्बन्ध है। दर्शन धर्म से स्वतन्त्र है और धर्म दर्शन के आलोच्य विषयों में से एक है। जब

दर्शन और धर्म का प्रकृत संबंध

कभी इस सम्बन्ध को तो कर धर्म दर्शन का शासक बन जाता है तो दोनों की प्रगति रुक जाती है, दोनों में एक सड़ान (Stagnation) पैदा हो जाती है। धर्म का अनुगामी हो जाने पर दशन का स्वतंत्र चिंतन नष्ट हो जाता है और वास्तविकता की सच्ची व्याख्या करने के बदले धार्मिक सिद्धांतों का मंडन ही उसका उद्देश्य बन जाता है। मध्ययुग में पश्चिमी दर्शन के ह्रास का कारण यही था। ऐसी अवस्था धर्म की प्रगति के लिए भी घातक होती है। उसकी प्रगति के लिए दार्शनिक समीक्षा (Philosophical Criticism) की बड़ी आवश्यकता है। धार्मिक सिद्धांतों की परीक्षा कर सच्चे और झूठे विश्वासों को दूध-पानी की तरह अलग करना दर्शन ही का काम है। अब तक इसी के कारण धर्म की गति हो सकी है। अतएव दर्शन को अपना मातहत बनाकर धर्म

अपने एकमात्र समीक्षक को अपने भले-बुरे सभी कामों का समर्थक बना लेता है। दर्शन के अंकुश के अभाव में उसकी गति मनमानी हो जाती है और अंधविश्वासों का ढेर लग जाता है क्योंकि अंधविश्वास कहकर दूर हटानेवाला साधन (दर्शन) पहले ही बेकाम कर दिया गया है। ऐसी अवस्था जब असह्य हो जाती है तो बौद्धिक आन्दोलन होता है जिसमें वर्तमान अंधविश्वासों को तोड़-फोड़ कर नए सिरे से धर्म की रचना की जाती है और दर्शन की स्वतंत्रता पुनः स्थापित होती है।

दर्शन और धर्म का संबंध : भारतीय मत

भारतीय दृष्टि में पश्चिमी मत की अपेक्षा दर्शन और धर्म के बीच अधिक घनिष्ट सम्बन्ध है। दोनों के बीच कोई बड़ी खाई नहीं है, बल्कि एक दूसरे का पूरक है, मनुष्य की आध्यात्मिक जीवन-चर्या के दोनों दो परस्पर सहायक और समानतः आवश्यक अंग हैं। धर्म के बिना दर्शन निष्फल है और दर्शन के बिना धर्म असमर्थ। धर्म का उद्देश्य है पूर्णत्व या मोक्ष की प्राप्ति। मोक्ष की अनुभूति में मनुष्य अपनी सीमाओं के बन्धन से मुक्त हो दुख के पूर्ण अभाव की अवस्था को प्राप्त करता है। दर्शन मोक्ष-प्राप्ति का आवश्यक साधन है। सत्य-असत्य, नित्य-अनित्य, शिव-अशिव आदि का विवेचन कर वह मनुष्य को असत्य से सत्य, अनित्य से नित्य, अशिव से शिव की ओर उन्मुख कर आध्यात्मिक चेतना (Spiritual consciousness) को जाग्रत और परिपुष्ट करता है जो धर्म-भावना के लिए अत्यंत ही आवश्यक है। किन्तु इस प्रकार धर्म का साधन बनने से दर्शन का विकास रुकता नहीं क्योंकि जो धर्म का उद्देश्य है वही उसका अपना भी उद्देश्य है*।

---

*If philosophy serves the cause of religion, it does so not because religion is something different from it, but

मोक्ष दो अर्थों में दर्शन का उद्देश्य है । भारतीय विचार-धारा के अनुसार दर्शन की उत्पति जिज्ञासा से नहीं बल्कि मुमुक्षा (the desire for salvation) से होती है, इसलिए उसका उद्देश्य मोक्ष की वास्तविक प्राप्ति है, विश्व-ज्ञान मात्र नहीं, क्योंकि मुमुक्षा मोक्ष-प्राप्ति से ही शान्त हो सकती है। दूसरे, भारतीय आचार्यों की सामान्य धारणा है कि दार्शनिक ज्ञान की पूर्णता परम तत्त्व (ultimate reality) का सिर्फ बौद्धिक ज्ञान (Intellectual Knowbdge) पा लेने से नहीं होती; पूर्णता के लिए उसकी साक्षात अनुभूति (Immediate experience) अपेक्षित है। यह साक्षात्कार बौद्धिक ज्ञान से ऊपर उठने पर आध्यात्मिक अनुभूति में होता है। यह अनुभूति अतींद्रिय (Super-sensuous) होती है। किन्तु परम तत्त्व का साक्षात्कार जो दर्शन को पूर्ण करता है धर्म-भावना की अन्तिम परिणति, मोक्षानुभूति, भी है। अतएव दार्शनिक चिंतन तभी पूर्ण कहा जायगा जब कि वह मोक्षानुभूति से युक्त है। इस तरह धर्म का साधन बन दर्शन अपने को पूर्ण करता है, अपना विकास वाधित नहीं करता। जो दर्शन मोक्ष की अवस्था तक न पहुँच कर रास्ते में ही रह जाता है उसे सच्चा दर्शन नहीं कहा जा सकता। दार्शनिक चिंतन का यह अभिप्राय 'दर्शन' शब्द से ही झलकता है—सच्चा दर्शन वही है, जो सत्य के 'दर्शन' (Vision of Truth), अर्थात प्रत्यक्ष अनुभव का अधिकारी (owner) है।

धर्म की सहायता दर्शन दूसरे प्रकार से भी करता है। मोक्षानुभूति हो जाने पर धर्म का अभीष्ट पूरा हो जाता है, और कुछ करने की

---

because it finds that in serving religion, it is serving its own best interests."—Dr. N. K. Brahma, Philosophy of Hindu Sadhana, Page 6.

जरूरत उसे नहीं रह जाती। किन्तु इस अनुभूति के प्रचार, व्याख्या, परीक्षा आदि रह जाते हैं जिन्हें दर्शन पूरा करता है। दर्शन की गति दोमुखी होती है। वह चिंतन और साधना के सहारे मोक्षानुभुति तक पहुँचता है, और तब उसके प्रकाश में हमारी लौकिक-अलौकिक अनुभूतियों का पुनर्मूल्यांकन कर उनकी अर्थवत्ता (significance) स्थिर करता है तथा मोक्षानुभूति का युक्तिपूर्ण प्रतिपादन कर साधारण जनता के लिए उसे सुलभ बनाता है।

धर्म भी दर्शन के लिए आवश्यक है क्योंकि सत्य के दर्शन के लिए धर्म-सम्मत आचरण अपेक्षित है। धर्म-सम्मत आचरण का तात्पर्य पवित्र और संयमित जीवन है। भारतीय अर्थ में पूर्ण ज्ञान केवल बौद्धिक चिंतन से नहीं मिलता, उसके लिए संपूर्ण व्यक्तित्व को परिमार्जित करना पड़ता है।

दर्शन और धर्म के बीच इस प्रकार का घनिष्ट संबंध होने के कारण कभी भी हिन्दुस्तान में इनके बीच कोई विरोध या झगड़ा नहीं हुआ। न कभी दर्शन ने धर्म को निरर्थक कहकर वहिष्कृत किया है न कभी धर्म दर्शन का शासक बन कर उसकी स्वतंत्रता हड़पने पर उतारू हुआ है। भारत के समूचे इतिहास में धर्म के नाम पर सुकरात* की तरह किसी दार्शनिक की हत्या कभी नहीं हुई है।

धर्म और दर्शन के इस सम्मिलन का कारण उद्देश्य की एकता है। एक ही गंतव्य स्थान के यात्री होने के कारण दोनों एक दूसरे की

---

* **सुकरात** (Socrates, 470–399 B. C.)–**प्राचीन यूनान के प्रसिद्ध स्वतंत्रचेता दार्शनिक थे। उनके विचार तत्कालीन धार्मिक विश्वासों से मेल नहीं खाते थे जिससे उनपर अधर्मी होने का अभियोग लगाकर विष द्वारा उनकी हत्या कर दी गई। पश्चिमी इतिहास में ऐसे अनेक उदाहरण मिल सकते हैं।**

सहायता करते हुए चलते हैं जिसके फलस्वरूप किसी की यात्रा भार-स्वरूप या कष्टप्रद नहीं होती। दोनों एक-दूसरे से ओत-प्रोत हैं—दर्शन धर्म के लक्ष्य को अपना लेता है और धर्म दर्शन को अपना हितैषी समझता है।

किन्तु धर्म और दर्शन के संबंध का उपर्युक्त विवेचन चार्वाक दर्शन के विषय में लागू नहीं होता। चार्वाक आध्यात्मिक मूल्यों को वास्तविक नहीं मानते। अतएव धर्म उनके अनुसार एक भ्रम या ढकोसला मात्र है, पुरोहितों की ठग-विद्या है। इसलिए धर्म से अलग रहने में ही दर्शन का कल्याण है और उसके खोखलापन को दिखला कर लोगों को उससे बचाना दर्शन का कर्त्तव्य है।

किन्तु चार्वाक मत की प्रधानता कभी नहीं हो सकी। भारतीय परंपरा की मुख्य धारा आध्यात्मिक रही है, और उसके सामने वह अपवाद-स्वरूप ही लगता है। आध्यात्मिक दर्शनों के महासागर में चार्वाक की एकाकी सरिता लुप्तप्राय-सी हो जाती है। यह तो अन्य दर्शनों की उदारता है कि उसे मिटाने का प्रयत्न उन्होंने कभी नहीं किया।

(२) दर्शन और विज्ञान

विज्ञान मानवी ज्ञान की वह विशिष्ट शाखा है जिसमें विश्व के भिन्न-भिन्न अंगों का युक्तिपूर्ण विवेचन होता है। विज्ञानों के विषय विश्व के भिन्न-भिन्न क्षेत्र हैं, एक विशेष विज्ञान किसी क्षेत्र-विशेष का अध्ययन करता है। भौतिक विज्ञान (Physics) का विषय भौतिक जगत (Physical universe) है, जीव-विज्ञान (Biology) का विषय जीव-जगत (Living world) है, रसायन-विज्ञान (Chemistry) का रसायन-जगत (chemical

विज्ञान का स्वरूप

world), इत्यादि। विज्ञान की उत्पत्ति जिज्ञासा (curiosity) से होती है। जिज्ञासा मन की वह प्रवृत्ति है जो हमें किसी वस्तु या घटना को यों ही स्वीकार नहीं करने देती, बल्कि उसका कारण पता लगाने के लिए बाध्य करती है। न्यूटन (Newton 1642-1727) ने पेड़ से पृथ्वी पर गिरते हुए फल को देखा, उसे जिज्ञासा हुई कि फल क्यों गिरा, इसका कारण क्या है, और इसी जिज्ञासा से उसके अन्दर वैज्ञानिक चिंतन का उदय हुआ। इस चिंतन का लक्ष्य था यह जानना कि चीजें क्यों ऊपर से नीचे पृथ्वी पर गिरती हैं, और इसकी सिद्धि तब हुई जबकि न्यूटन ने गुरुत्वाकर्षण-सिद्धांत (Theory of Gravity) को ढूँढ़ निकाला। वस्तुतः विज्ञान मात्र का उद्देश्य यही रहता है--किसी वर्ग-विशेष के भिन्न-भिन्न पदार्थों की व्याख्या किसी सामान्य नियम द्वारा करना। गुरूत्वाकर्षण-सिद्धांत द्वारा न्यूटन ने एक खास फल के गिरने की ही नही बल्कि सभी वस्तुओं के पृथ्वी पर गिरने की व्याख्या कर दी थी। सभी विज्ञानों का उद्देश्य विश्व के भिन्न-भिन्न क्षेत्रों का अध्ययन कर उनके विभिन्न पदार्थों को किसी सामान्य नियम (general law) के अन्तर्गत लाकर उनकी व्याख्या प्रस्तुत करना रहता है। इस तरह के सामान्य नियम विज्ञानों के निष्कर्ष बनते हैं, और ये निष्कर्ष निश्चित और व्यापक होते हैं। निष्कर्षों की प्राप्ति के लिए एक विशेष पद्धति का प्रयोग होता है जिसका आरम्भ निरीक्षण (observation) से होता है और अन्त सामान्य नियमों की प्राप्ति से। सर्वप्रथम उन वस्तुओं का निरीक्षण होता है जिनकी व्याख्या खोजी जाती है। उनके स्वरूप का उचित ज्ञान मिलने के लिए उनको भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में रख कर देखा जाता है। उसके बाद निरीक्षण के आधार पर एक ऐसे नियम की कल्पना (hypothesis) की जाती है जिससे निरीक्षित पदार्थों की व्याख्या

हो जाने की सम्भावना दीख पड़ती है। आखिर में इस नियम की वास्तविक परीक्षा (actual verification) की जाती है यह देखने के लिए कि सचमुच इससे व्याख्या होती है या नहीं* । व्याख्या होने पर उक्त कल्पना को सिद्धांत के रूप में स्वीकार करते हैं, अन्यथा उसे परिवर्तित करते हैं या त्याग कर दूसरी कल्पना बनाते हैं। इस प्रकार अनुसंधान तब तक चलता है जब तक कि पूर्ण व्याख्या करनेवाला नियम नहीं मिल जाता है ।

विज्ञान की इस पद्धति को **बौद्धिक** कहते हैं क्योंकि तीनों अवस्थाओं का संचालन बुद्धि के निर्देशानुसार होता है। बुद्धि सदा जागरूक और सक्रिय रहती है तथा वही निश्चित करती है कि निरीक्षण किस प्रकार होगा, किसे सही और किसे गलत कहा जायगा, कौन कल्पना विरोधपूर्ण और असंभाव्य है और कौन उचित है, स्वीकृत कल्पना कहाँ तक उपयुक्त है, इत्यादि। इसलिए व्यापक अर्थ में हम कह सकते हैं कि वैज्ञानिक पद्धति बौद्धिक है, या वैज्ञानिक ज्ञान का साधन बुद्धि है।

विज्ञानों की मान्यताएँ

सभी विज्ञानों की कुछ मान्यताएँ होती हैं जिन्हें माने बिना अनुसंधान नहीं हो सकता। उन्हें विज्ञान मान लेते हैं, उनके विषय में संदेह या प्रश्न नहीं करते। भौतिक विज्ञान (Physics) भौतिक जगत को सत्य मान कर चलता है, उसकी वास्तविकता को प्रमाणित करने की चेष्टा नहीं करता। इसी प्रकार सब की मान्यताएँ (Presuppositions or Postulates) हैं। दिक (Space), काल (Time), शक्ति (Energy), कारण-कार्य-

---

* देखिए—

The Scientific outlook, by Bertrend Russel, Chapter. II.

भाव (Causation), ज्ञान की सम्भावना (Possibility of Knowledge), बुद्धि की ज्ञान-प्राप्ति की योग्यता (The effeciency of intellect to acquire knowledge), आदि को तो सभी विज्ञान बिना तर्क-वितर्क, छान-बीन के मान लेते हैं। यदि वे इन्हें नहीं मानते तो उनकी प्रगति हो ही नहीं सकती। ये मान्यताएँ उनके लिए आधार-शिला का काम करती हैं क्योंकि इन्हें हटा लेने पर विज्ञानों का महल बन ही नहीं सकता। उदाहरण के लिए यदि भौतिक जगत की सत्ता को असत्य या संदिग्ध माना जाय तो भौतिक विज्ञान का अस्तित्व ही असंभव हो जायगा।

दर्शन और विज्ञान का सम्बन्ध : पश्चिमी मत

दर्शन और विज्ञान के सम्बन्ध के इतिहास को देखने से पता लगता है कि सभी विज्ञान दर्शन की संतान हैं। आरम्भ में किसी विज्ञान की स्वतंत्र सत्ता नहीं थी, सभी दर्शन के अन्तर्गत थे*। ज्यों-ज्यों ज्ञान का विकास होता गया, एक-एक करके सभी विज्ञान अपने मातृगृह से अलग होने लगे, फलतः आज सभी ने अपनी गृहस्थी अलग बसा ली है। दर्शन से अलग होने पर एक समय आया था जब कि उससे किसी प्रकार का सम्बन्ध रखना उन्हें नागवार लगता था लेकिन यह अवस्था अधिक दिन तक रही नहीं। प्रौढ़ता आने पर वैज्ञानिकों ने इस बात को महसूस किया कि दर्शन से सम्बन्ध-विच्छेद करने में विज्ञान का कल्याण

---

* "The sciences are the children of the old Mother Philosophy. It is only recently, comparativly speaking, that the children have matured to a place of independence and set up their own several households"—V. Ferm—First Adventures in Philosophy, P. 24.

नहीं है। आज के प्रतिष्ठित वैज्ञानिक तो यह मानने लगे हैं कि वैज्ञानिक चिंतन की अन्तिम परिणति दर्शन में होती है। डा० हर्बर्ट डींगल (Dr. Herbert Dingle)--जो भौतिक विज्ञान के ख्यातनामा विद्वान हैं--ने अपनी पुस्तक 'Through Science to Philosophy' में यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि यदि विज्ञानों के मार्ग पर ठीक-ठीक चला जाय तो इस यात्रा का अन्त दर्शन में होगा। इस सिलसिले में सर जेम्स जीन्स (Sir James Jeans), सर आर्थर एडिंगटन (Sir Arthur Eddington), बर्ट्रेन्ड रसेल (Bertrand Russell), ए० एन० ह्वाइटहेड (A. N. Whitehead), आदि विज्ञान-वेत्ताओं के नाम उल्लेखनीय हैं। वे सभी दर्शन से विज्ञान को अलग रखने के पक्ष में नहीं हैं।

सचमुच दर्शन और विज्ञान के बीच बड़ा निकट संबंध है। दोनों की **उत्पत्ति** जिज्ञासा से, विश्व को समझने की चेष्टा से होती है; दोनों का **उद्देश्य** विश्व की व्याख्या है, और दोनों की **पद्धति** बौद्धिक है क्योंकि व्याख्या का साधन बुद्धि रहती है। अतएव उत्पत्ति, उद्देश्य, और पद्धति तीनों के विषय में दर्शन और विज्ञान का एकमत है, अंतर है तो **विषय** को लेकर। दर्शन का विषय सम्पूर्ण विश्व है जब कि विज्ञान का विश्व का कोई क्षेत्र-विशेष। हर एक विज्ञान विश्व के किसी एक हिस्से को लेकर उसके सामान्य नियमों की खोज करता है और उसका अनुसंधान उसी क्षेत्र तक सीमित रहता है, जैसे भौतिक विज्ञान भौतिक जगत की व्याख्या तक ही अपने को सीमित रखता है, मनोविज्ञान, जीवविज्ञान आदि के क्षेत्रों में प्रवेश करना अनावश्यक और अनधिकार समझता है। इससे यह कदापि नहीं समझना चाहिए कि सभी विज्ञान एक दूसरे से असंबद्ध हैं। एक ही विश्व के भिन्न-भिन्न अंगों का अध्ययन करने पर परस्पर असंबद्ध वे कैसे हो सकते हैं? संबंध तो उनमें है ही, किन्तु सब

की अपनी-अपनी सीमाएँ हैं जिनका अतिक्रमण वे नहीं करते। किन्तु दर्शन का विषय सारा विश्व है, इसलिए उसके क्षेत्र के बाहर कुछ नहीं है। विश्व को एक इकाई के रूप में लेकर उसकी व्याख्या वह करता है।

विश्व को सम्पूर्णता में ग्रहण करने के कारण दर्शन की व्याख्या वैज्ञानिक व्याख्या से अधिक उपयुक्त होती है। जैसा कि हम कह चुके हैं, किसी पदार्थ की पूर्ण व्याख्या उसे उसकी पूर्णता में लेकर समझने से ही हो सकती है, हिस्सों में बाँटकर हिस्सों को अलग-अलग समझने से नहीं। दूसरी बात यह है कि किसी भी पदार्थ की व्याख्या दर्शन विश्व के आधारभूत सिद्धांतों के प्रसंग में उसे रख कर करता है किन्तु विज्ञान किसी क्षेत्र-विशेष के कुछ पदार्थों के साथ उसका संबंध जान लेना ही व्याख्या के लिए पर्याप्त समझता है*। इस तरह की व्याख्या अधूरी होती है, इसलिए कुछ विद्वानों का कहना है कि विज्ञान पदार्थों की व्याख्या नहीं करता, सिर्फ उनका **वर्णन** भर करता है। वस्तुतः वैज्ञानिक व्याख्या 'कैसे' का उत्तर देती है, 'क्यों' का नहीं। उदाहरण के लिए आकर्षण-शक्ति के नियम को ले सकते हैं। यह नियम यही बतलाता है कि पदार्थ एक दूसरे को **कैसे** आकृष्ट करते हैं, यह नहीं कि **क्यों** आकर्षण होता है। किन्तु जब तक 'क्यों' का उत्तर नहीं होता, अंतिम व्याख्या नहीं हो सकती। दर्शन इसी 'क्यों' का उत्तर देता है और वह भी विश्व के मूल तत्त्व के ज्ञान द्वारा, इसलिए उसकी व्याख्या पूर्ण (complete) और अंतिम (final) होती है। विश्व को टुकड़ों में बाँटकर देखने के कारण कभी-कभी यह भी होता है कि दो विज्ञानों के निष्कर्ष परस्पर-विरोधी सिद्ध हो जाते हैं। इसका कारण है कि एक विशेष विज्ञान अपने क्षेत्र के बाहर नहीं देखता, उसे इसका पता नहीं रहता कि उसके निष्कर्ष औरों के

---

* देखिये—

Through Science to Philosophy by Herbert Dingle. P. 26.

निष्कर्ष से किस प्रकार का संबंध रखते हैं। इसलिए अपने निष्कर्षों के परस्पर-विरोध का परिहार विज्ञान नहीं कर सकते, किन्तु परिहार होना अवश्य चाहिए क्योंकि एक ही विश्व के विषय में दो विरोधी निष्कर्ष वस्तुतः सत्य नहीं हो सकते। यह काम दर्शन करता है। विज्ञानों के निष्कर्षों को पूर्ण विश्व के दृष्टिकोण से देखकर वह उनका समन्वय करता है, और उनके प्रकट विरोधों का परिहार कर विश्व का सामंजस्यपूर्ण चित्र प्रस्तुत करता है।

सभी विज्ञान कुछ चीजों को मान कर चलते हैं लेकिन दर्शन बिना छान-बीन के कुछ भी नहीं मानता। बल्कि जिसे विज्ञान बिना व्याख्या के ही मान लेते हैं, उसकी भी दशन परीक्षा करता है*। दर्शन की इस प्रवृत्ति से विज्ञानों को बड़ा लाभ होता है क्योंकि उनकी मान्यताओं की परीक्षा कर वह उनकी नींव मजबूत करता है अन्यथा ये मान्यताएँ जो उनकी आधारशिला हैं अपरीक्षित ही रह जातीं।

विज्ञान का दृष्टिकोण शुद्ध वस्तुपाती (purely objective) होता है। किसी वस्तु की व्याख्या वह सिर्फ उसी वस्तु की ओर से करता है, अर्थात यही बतलाता है कि वह अपने आप में क्या है। विश्व के विषय में भी वह यही करता है। विश्व का कोई अर्थ है या नहीं, उसका कोई उद्देश्य है या वह निरुद्देश्य है, उसके अन्दर किस प्रकार के मूल्य (Values) हैं, मनुष्य का क्या महत्त्व है, आदि विषयों से वह उदासीन रहता है यद्यपि मनुष्य के लिए वे बड़े महत्त्वपूर्ण हैं। दर्शन विश्व की निष्पक्ष व्याख्या करते हुए यह भी जानने का प्रयत्न करता है कि उसका अर्थ और उद्देश्य कुछ है या नहीं। वह जीवन और जगत के मूल्यों को स्पष्ट करता है। विज्ञान ने अपने आविष्कारों

---

* "The postulates of science become the problems of philosophy."—Sir S. Radhakrishnan, The *Reign of Religion*. P. 3.

से हमारी शक्ति को कई गुणा बढ़ा अवश्य दिया है किन्तु जीवन और जगत के मूल्यों के ज्ञान के अभाव में इस शक्ति का उचित उपयोग नहीं हो सकता[1]। इसलिए विज्ञान की उपयोगिता हमारे दार्शनिक ज्ञान पर निर्भर है।

वस्तुतः दर्शन और विज्ञान में दोनों एक-दूसरे के लिए आवश्यक हैं। उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि विज्ञान दर्शन की उपेक्षा नहीं कर सकता, किन्तु दर्शन के लिए भी विज्ञान उपेक्षणीय नहीं है क्योंकि जिस विश्व का ज्ञान वह ढूँढ़ता है उसी के भिन्न-भिन्न अंगों का ज्ञान विज्ञानों का साध्य है। दर्शन वैज्ञानिक उपलब्धियों (scientific achievements) को त्याज्य नहीं समझता बल्कि समूचे विश्व के प्रसंग में उनकी अर्थवत्ता स्थिर करता है। अतएव विज्ञानों की प्रगति का प्रभाव दर्शन पर और दर्शन की प्रगति का विज्ञानों पर पड़ता है। एक-दूसरे की आलोचना करते हैं और प्रगति का साधन प्रस्तुत करते हैं[2]। बर्गसाँ (Henry Bergson, 1859-1941), लायड मार्गन (C. Lloyad Morgan), ह्वाइटहेड (1861-1947), बर्ट्रेंड रसेल (1872–) आदि की कृतियाँ दर्शन और विज्ञानों के पारस्परिक प्रभाव के जीते-जागते उदाहरण हैं।

[1] "If, therefore, a scientific civilisation is to be a good civilisation it is necessary that increase in knowledge should be accompanied by increase in wisdom. I mean by wisdom a right conception of the ends of life. This is something which science in itself does not provide. Increase of science by itself, therefore, is not enough to guarantee any jenuine progress...."—B. Russell. The Scientific Outlook. P. 12.

[2] "Science and philosophy mutually criticise each other and supply imaginative material for each other."—Dr. A. N. Whitehead, Adventures of Ideas. P. 187.

दर्शन और विज्ञान के संबंध के विषय में भारतीय ऋषियों ने बड़ी मौलिक कल्पना की है। यद्यपि प्राचीन भारत की मुख्य देन दर्शन के क्षेत्र में है, फिर भी विज्ञानों की ओर से वह उदासीन नहीं था। डा० बृजेन्द्रनाथ सील, सर प्रफुल्लचन्द्र राय, आदि विद्वानों ने अपनी खोजों से यह प्रमाणित कर दिया है कि प्राचीन भारत में भिन्न- भिन्न विज्ञानों की उन्नति की ओर भी उतना ही ध्यान था जितना कि ज्ञान की अन्य शाखाओं की ओर, और उस दिशा में काफी प्रगति भी हुई थी*।

दर्शन और विज्ञान का संबंध : भारतीय मत

भारतीय मत के अनुसार दोनों में कोई विरोध नहीं है, विज्ञान दर्शन का सहायक माना जाता है। जीवन का उद्देश्य है मोक्ष और इसका परम साधन दर्शन है। दर्शन को **पराविद्या** कहते हैं क्योंकि वह परम सत्य का यथार्थ ज्ञान प्रदान करता है। ज्ञान की अन्य शाखाएँ, जो व्यावहारिक सत्य का अनुसंधान करती हैं, जो परम सत्य तक नहीं पहुँच पातीं, वे **अपराविद्या** कहलाती हैं। विज्ञान अपराविद्या के अन्दर आते हैं क्योंकि व्यावहारिक जगत के भिन्न-भिन्न अंगों का अध्ययन करते हैं। उनका भी उद्देश्य जीवन को क्लेशरहित करना है किन्तु उन्हें आंशिक सफलता मिलती है, दुख के किसी विशेष प्रकार को ही वे दूर कर पाते हैं, दुखमात्र को नहीं क्योंकि सत्य का सर्वांगपूर्ण ज्ञान

---

*देखिये--

The Positive Sciences of the Ancient Hindus by Dr. Brajendra Nath Seal.

A History of Hindu Chemistry by Sir Praphulla Chandra Roy.

History of Hindu Mathematics by Bibhutibhusan Dutta and Avadhesh Narayan Singh.

उन्हें नहीं होता जो दुख के पूर्ण विनाश के लिए आवश्यक है। आंशिक ज्ञान होने से आंशिक सफलता ही उन्हें मिलती है। दुख का पूर्ण विनाश दर्शन करता है। अतः जिस कार्य को विज्ञान आंशिक रूप में करते हैं उसे दर्शन सर्वांशतः पूरा करता है। जीवन के चरम लक्ष्य को सदा सामने रख कर वह विज्ञानों का पथ-प्रदर्शन करता है और गुमराह होने से उन्हें बचाता है। इस प्रकार दर्शन को विज्ञानों का पथ-प्रदर्शक बना कर भारतीय आचार्यों ने उनके ध्वंसक होने की सम्भावना ही नष्ट कर दी थी।

उपसंहार

धर्म और विज्ञान के साथ दर्शन के सम्बन्ध को जान लेने के बाद हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि वह दोनों से व्यापक और दोनों के लिए आवश्यक है। उसका उद्देश्य सत्य का सर्वांगपूर्ण ज्ञान है जिसके लिए वह मनुष्य की सभी धार्मिक, नैतिक, तथा वैज्ञानिक अनुभूतियों की परीक्षा कर अपना निष्कर्ष स्थापित करता है। धर्म मनुष्य की पूर्णता की चाह को पूरा करता है और विज्ञान सत्य के भिन्न-भिन्न अंगों की व्याख्या प्रस्तुत करता है। दर्शन दोनों के आधारिक सिद्धांतों, निष्कर्षों तथा पद्धतियों की परीक्षा करता है और विश्व के प्रसंग में उनकी सार्थकता निश्चित करता है। यदि कभी धर्म और विज्ञान आपस में झगड़ते हैं तो दर्शन उनके बीच समझौता कराता है। ऐसा कभी होता है कि धर्म आध्यात्मिक अनुभूति का जयघोष कर बुद्धि को सत्य-दर्शन के लिए अयोग्य करार करता है तो विज्ञान बौद्धिक ज्ञान को सर्वोपरि बता आध्यात्मिक अनुभूति को निरा भ्रम मानता है। इससे ऐसा लगता है कि दोनों परस्पर-विरोधी हैं, एक साथ धर्म और विज्ञान दोनों को

स्वीकार करना एक म्यान में दो तलवार रखने-जैसा मालूम पड़ता है। दर्शन इस स्थिति को सुलझाता है, निष्पक्ष आलोचक की तरह दोनों के तर्कों की परीक्षा कर बतलाता है कि यह विरोध दिखावटी भर है, वास्तविक नहीं। व्यापक दृष्टि से देखने पर आध्यात्मिक अनुभूति बुद्धि के विपरीत नहीं बल्कि उसके ऊपर उसे पूर्ण करने वाली सिद्ध होती है। इस प्रकार दोनों की आलोचना कर दर्शन अपनी भी प्रगति करता है और उनकी प्रगति का भी साधक बनता है।

तीसरा अध्याय

दर्शन की शाखाएँ

विवेचन की सुविधा के लिए विद्वानों ने दार्शनिक साहित्य का विभाजन भिन्न-भिन्न वर्गों में किया है । यों तो यह वर्गीकरण कई दृष्टियों से हो सकता है किन्तु आधुनिक युग में जिसे अधिकांश दार्शनिकों ने स्वीकार किया है वह समस्याओं के आधार पर किया गया है । विशेष प्रकार की समस्याओं के समाधान में लगे दार्शनिक चिंतन के लिए एक विशेष नाम दिया गया है । इस दृष्टि से दर्शनशास्त्र की निम्नलिखित शाखाएँ हो जाती हैं : (१) तत्त्व-विज्ञान (Metaphysics or Ontology), (२) विश्व-विज्ञान (Cosmology), (३) ईश्वर-विज्ञान (Theology), (४) प्रमाण-विज्ञान (Epistemology), (५) तर्क-विज्ञान (Logic), (६) नीति-विज्ञान (Ethics), (७) सौंदर्य-विज्ञान (Aesthetics) और (८) अर्घ-विज्ञान (Axiology)। यहाँ पर याद रखने की जरूरत है कि ये शाखाएँ एक-दूसरे से बिलकुल स्वतन्त्र या असंबद्ध नहीं हैं। वास्तविक दार्शनिक चिंतन में ये सभी शाखाएँ परस्पर-संबद्ध रहती हैं, यह तो विवेचक का काम है कि अपनी सुविधा के लिए एक इकाई को कई हिस्सों में बाँट कर वर्णन करता है। यहाँ पर एक-एक करके इन शाखाओं का वर्णन हम संक्षेप में करेंगे ।

१. तत्त्व-विज्ञान*

'Metaphysics' शब्द का अर्थ

'Metaphysics' शब्द का इतिहास बड़ा रोचक है। सर्व-प्रथम इसका प्रयोग अरस्तू (Aristotle) के ग्रंथों के सम्पादक एंड्रोनिकस (Andronicus of Rhodes, 70 B. C.) ने किया था। इसका शाब्दिक अर्थ होता है 'वह विद्या जो भौतिक-विज्ञान के बाद हो' (Meta–after, Physics–the science of the physical world)। अरस्तू के ग्रंथों के संपादन में एंड्रोनिकस ने उनकी कुछ दार्शनिक रचनाओं को भौतिक शास्त्र-सम्बन्धी रचनाओं के बाद रखा था, इसलिए उनको उन्होंने Metaphysics नाम दिया था। अतएव मूलतः यह नाम आकस्मिक था, ग्रंथों की विषयवस्तु को देखकर नहीं बल्कि संग्रह में उनके विशेष स्थान के कारण दिया गया था। इन रचनाओं का नाम स्वयं अरस्तू ने 'प्राथमिक दर्शनशास्त्र' (First Philosophy) रखा था और इनमें उन्होंने विश्व के प्राथमिक सिद्धांतों (First Principles) का विवेचन किया था। आगे चलकर Meta-Physics) शब्द रूढ़ हो गया और अब इसका प्रयोग विश्व के मूल तत्त्व या आधारभूत सिद्धांतों की विवेचना के लिए होता है। Metaphysics शब्द के इस प्रयोग के समर्थन में तत्त्व-शास्त्रियों का कहना है कि ऐसा प्रयोग उचित है क्योंकि तत्त्व-चिंतन भौतिक विज्ञान की सीमा को पारकर वैसे पदार्थ की खोज करता है जो भौतिक विज्ञान के परे है––भौतिक विज्ञान भौतिक जगत की व्याख्या

* इन शाखाओं के नाम में 'विज्ञान' शब्द सामान्य अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। इससे 'मीमांसा', 'शास्त्र', आदि का बोध करना चाहिए। ––लेखक

तक सीमित रहता है जब कि तत्त्व-विज्ञान उसके तह में पैठ कर उस सत्य का अनुसंधान करता है जो भौतिक जगत का आधार है। Metaphysics के लिए Ontology शब्द का भी प्रयोग होता है। Ontology शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम सी० वुल्फ (C. Wolff, 1679–1754, जर्मनी का मशहूर दार्शनिक) ने किया था। इसका अर्थ होता है सत्ता-शास्त्र (Science of Being)। सत्ता का यहाँ मतलब है परम सत्ता (Ultimate reality)। कोई-कोई Metaphysics और Ontology में भेद करते हैं किन्तु आजकल इन दोनों शब्दों का व्यवहार दर्शन के मुख्य आचार्य एक ही अर्थ में करते हैं*। अनावश्यक भेद करने से दुर्बोधता बढ़ती है। इसलिए हम भी इस पुस्तक में दोनों शब्दों को समानार्थक समझेंगे।

तत्त्व-विज्ञान का स्वरूप

इसलिए हम कहेंगे कि वर्तमान प्रयोग के अनुसार तत्त्व-विज्ञान दर्शन की वह शाखा है जो विश्व के मूल तत्त्व (Original Stuff) या आदि कारण (First cause) का अनुसंधान करती है। तत्त्व-विज्ञान यह पता लगाना चाहता है कि अनुभव जगत का अन्तिम आधार (Ultimate basis) क्या है और उसका स्वरूप क्या है। मूल तत्त्व को चरम सत्ता या पारमार्थिक सत्ता (ultimate reality) भी कहते हैं। पारमार्थिक सत्ता वह पदार्थ है जो विश्व का वास्तविक और अन्तिम आधार है, जिसके परे कुछ भी नहीं है, जो स्वयं अपना आधार है और विश्व के सभी पदार्थों का पर्याप्त कारण है। जब नन्हा-सा शिशु पिता की गोद में बैठे-बैठे यह पूछ उठता है कि 'बाबूजी, दुनियाँ का आधार क्या है' और पिता के इस उत्तर

देखिए—

* Dictionary of Philosophy, edited by D. D. Runes.

से कि 'इसका आधार शेषनाग हैं' वह असंतुष्ट हो फिर प्रश्न करता है कि 'शेषनाग किस पर आधारित हैं' तो शिशु ऐसे ही चरम सत्ता का ज्ञान चाहता है जो विश्व का अन्तिम आधार होते हुए स्वयं किसी अन्य सत्ता पर आधारित न हो, जिसके विषय में प्रश्न न हो कि 'यह किस पर आधारित है' किन्तु न तो वह अपने प्रश्न को ही ीक से समझता है न उसे व्यक्त करने की योग्यता ही रखता है। इसलिए वह स्पष्ट रूप में अपना आशय नहीं कट कर पाता। दार्शनिक उक्त प्रश्न को समझता है, उसे उचित रूप में व्यक्त करता है तथा न्यूनाधिक सफलता के साथ उसका समाधान प्रस्तुत करता है। तत्त्व-विज्ञान का वस्तुतः यही मुख्य प्रश्न है: विश्व का मूल तत्त्व या अन्तिम आधार क्या है ? इसी प्रश्न का समुचित समाधान उसका अभीष्ट है। चूँकि तत्त्व-विज्ञान मूल तत्त्व की (जो सम्पूर्ण विश्व का आधार होता है) खोज करता है उसके सिद्धांत सर्वभौम होते हैं, सभी पदार्थों के विषय में लागू होते हैं*। उनकी व्यापकता सार्वाधिक होती है, इसलिए तत्त्व-विज्ञान को उच्चतम व्यापकता का विज्ञान (Science of the highest generality) कहा जाता है।

मूल तत्त्व के अनुसंधान के सिलसिले में प्रश्न उठता है कि विश्व का प्रतीयमान स्वरूप (apparent form) ही इसका वास्तविक स्वरूप है या वास्तविक स्वरूप कुछ और है ? यह प्रश्न इसलिए उठता है कि अनुभव प्रायः सत्य (reality) और प्रतीति (appeerence) का वैषम्य घोषित करता है। हम देखते हैं कि सूर्य घूमता है और पृथ्वी स्थिर है किन्तु वास्तविकता इससे भिन्न है क्योंकि असलियत में पृथ्वी ही घूमती है और सूर्य स्थिर है। दस रुपये का नोट देखने में कागज का टुकड़ा है लेकिन वास्तव में दस रुपया है। इन

*Metaphysics is "the divination of the generic notions which apply to all facts."—Whitehead, Process and Reality.

उदाहरणों के जरिए अनुभव बतलाता है कि जो प्रतीति है, जो दीखता है, वही सदा वास्तविक या सत्य नहीं होता। वास्तविकता और प्रतीति की इस विषमता को देखकर दार्शनिक सोचने लगता है कि जगत प्रतीति मात्र है या सत्य है, सत्य और प्रतीति में क्या संबंध है, इत्यादि।

(२) विश्व-विज्ञान

विश्व-विज्ञान में विश्व (Universe) की उत्पत्ति, उसका स्वरूप आदि विषयों का विवेचन होता है। तत्त्व-विज्ञान से उसकी भिन्नता यह है कि तत्त्व-विज्ञान म हम सीधे विश्व के मूल तत्त्व के विषय में प्रश्न करते हैं किन्तु विश्व-विज्ञान में विश्व की भिन्न-भिन्न घटनाओं की समष्टिगत व्याख्या द्वारा संसार के सामान्य रूप (general nature,) उत्पत्ति, विकास आदि को समझने की चेष्टा करते हैं। यह अंतर बड़ा ही सूक्ष्म है। इसीसे जान पड़ता है कि दोनों शाखाएँ एक दूसरे के अत्यन्त निकट हैं। वस्तुतः उनका संबंध इतना घनिष्ट है कि उनके बीच विभाजक रेखा खींचना बड़ा कठिन है। फिर भी उनके सिद्धान्तों की रूप-रेखा स्पष्ट करने के लिए उपर्युक्त अंतर को ध्यान में रखना आवश्यक है।

विश्व-विज्ञान के विषय हैं : विश्व की उत्पत्ति (origin), विश्व-प्रक्रिया का स्वरूप (nature of the world-process), देश और काल तथा उनका संबंध, इत्यादि। उसके प्रश्न यों हैं : क्या किसी ने विश्व की सृष्टि की है या वह अपने आप प्राकृतिक नियमों के चलते बना है? उसका उत्तरोत्तर विकास, परिवर्तन होता है या वह स्थाई, अपरिवर्तनशील है? क्या विश्व-प्रक्रिया यांत्रिक (Mechanical) है या प्रयोजनशील (Teleological or Purposeful) है? देश और काल क्या हैं? क्या विश्व की कोई दैशिक-कालिक सीमा है या वह अनंत है? इत्यादि। इन प्रश्नों के समाधान में विश्व-

विज्ञान तत्त्व-विज्ञान तथा भिन्न-भिन्न विशिष्ट विज्ञानों (भौतिक विज्ञान, जीव-विज्ञान, आदि) के निष्कर्षों की सहायता लेता है और विश्व के विषय में ऐसे सिद्धान्तों को प्रस्तुत करने की चेष्टा करता है जो उन निष्कर्षों से मेल खाते हों।

(३) ईश्वर-विज्ञान

Theology शब्द का व्युत्पत्ति-लभ्य अर्थ है (Theos-God, logos-study or science) ईश्वर-विद्या या ईश्वर-विज्ञान। किन्तु इसका प्रयोग व्यवहार में दो अर्थों म होता है। कुछ विचारक इसे 'ईश्वर का बौद्धिक या दार्शनिक विवेचन' के अर्थ में व्यवहार करते हैं जब कि दूसरे इससे 'भिन्न-भिन्न धर्मों के ईश्वर-विषयक विश्वासों की समष्टि मात्र' समझते हैं। इसलिए दूसरे अर्थ के अनुसार जितने धर्म हैं उतने ही ईश्वर-विज्ञान भी हैं। इस अर्थ में ईश्वर-विज्ञान धर्म का अंग होगा, दर्शन का नहीं। यहाँ पर हमने पहले अर्थ में इसका प्रयोग किया है और इसी अर्थ में यह दर्शन की शाखा होने का दावा कर सकता है।

ईश्वर-विज्ञान का उद्देश्य मनुष्य की ईश्वर-विषयक जिज्ञासा को शांत करना है। हमारी विचार-धारा में ईश्वर का प्रमुख स्थान है। हमारे अंदर तरह-तरह के प्रश्न इस विषय में उठते हैं। हमें सिर्फ धार्मिक विश्वासों से संतोष नहीं होता है, इसलिए हम उन प्रश्नों का समाधान बौद्धिक स्तर पर करना चाहते हैं। ईश्वर का बौद्धिक विवेचन कर तत्संबंधी प्रश्नों के समुचित समाधान की ही चेष्टा हम ईश्वर-विज्ञान में करते हैं। इसके प्रश्न यों हैं: ईश्वर का अस्तित्व है या नहीं? यदि है तो उसका प्रमाण क्या है? यदि नहीं तो क्यों? यदि ईश्वर है तो उसका स्वरूप क्या है? ईवश्र और विश्व में क्या संबंध है? इत्यादि।

(४) प्रमाण-विज्ञान

प्रमाण-विज्ञान या ज्ञान-मीमांसा का विषय ज्ञान है। Epistemology शब्द से ही यह स्पष्ट हो जाता है। इस शब्द (Epistemo-

logy=Epistem, Knowledge+logos, theory) का ही अर्थ होता है ज्ञान-मीमांसा या ज्ञान-शास्त्र। इस प्रकार जब कि पहली तीन शाखाएँ सत्ता (Reality) का विवेचन करती हैं, प्रमाण-विज्ञान सत्ता के ज्ञान का विवेचन करता है। ज्ञान का प्रश्न दर्शन के लिए बड़ा ही महत्त्वपूर्ण है, इसलिए सभी शाखाओं को प्रमाण-विज्ञान की सहायता लेनी पड़ती है। इसमें ज्ञान के स्वरूप (nature), लक्ष्य (aim), विकास (development), ज्ञाता और ज्ञेय का संबंध, ज्ञान की संभावना (possibility), सीमा (limit), उत्पत्ति (origin), पद्धति (method), प्रामाणिकता (validity), आदि विषयों की छान-बीन की जाती है। इसलिए इसके प्रश्न इस प्रकार हैं: ज्ञान का स्वरूप क्या है? उसका उद्देश्य क्या है? उसका विकास कैसे होता है? ज्ञाता और ज्ञेय में क्या संबंध है? ज्ञान संभव है या नहीं? यदि संभव है तो किस हद तक? उसकी कोई निर्दिष्ट सीमा है या नहीं? उसकी उत्पत्ति कैसे होती है? ज्ञान के विकास की पद्धति क्या है? ज्ञान की प्रामाणिकता का लक्षण और आधार क्या है? इत्यादि।

यद्यपि ज्ञान-संबंधी जिज्ञासा का प्रदर्शन प्राचीन काल से ही मिलता है किन्तु पश्चिमी दर्शन के इतिहास में इसका समुचित विकास बहुत पीछे हुआ है। ज्ञान-मीमांसा को स्वतंत्र स्थान डेकार्ट के युग में मिला है। Epistemology शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग जे० एफ० फेरियर (J. F. Ferrier, 1854) ने किया था। आधुनिक युग में इसका विकास अन्य शाखाओं की अपेक्षा अधिक हुआ है, यहाँ तक कि कुछ विद्वान इसी को दर्शन का प्राण मानने लगे हैं।

(५) तर्क-विज्ञान

तर्क-विज्ञान का विषय निर्णय (Judgment) है। हमारे निर्णयों के आधार अन्य निर्णय या अनुभव होते हैं। कभी

तो कुछ निर्णयों के ही आधार पर हम नया निर्णय बना डालते हैं और कभी विशेष पदार्थों के अनुभव के आधार पर। इन निर्णयों को हम वाक्यों द्वारा व्यक्त करते हैं। तर्कशास्त्र हमारे निर्णय-वाक्यों का विश्लेषण कर उनकी सत्यता-असत्यता स्थिर करता है। इसके लिये वह उनके आधार और पद्धति की परीक्षा करता है। किसी निर्णय की सत्यता के लिए सत्य आधार की अपेक्षा है, और सत्य आधार से भी तभी सत्य निर्णय प्राप्त हो सकता है जब कि निर्णय प्राप्त करने की पद्धति सही है। इसलिए तर्क-विज्ञान इस प्रकार के प्रश्नों का उत्तर ढूँढ़ता है: निर्णय का स्वरूप क्या है? हम कैसे निर्णय बनाते हैं? सत्य निर्णय का लक्षण क्या है? उसका आधार क्या है? निर्णय-प्राप्ति की उचित पद्धति क्या है? इत्यादि।

(६) नीति-विज्ञान

नीति-विज्ञान का विषय हमारी नैतिक चेतना (Moral Conciousness) या नैतिक अनुभूति है। नैतिक चेतना का आशय शुभ-अशुभ (Good and Bad), उचित-अनुचित (Right and Wrong), वांछनीय-अवांछनीय (Desirable and Undesirable) आदि की अनुभूतियों से है। ये अनुभूतियाँ सार्वभौम हैं, अपनी-अपनी रुचि और संस्कृति के अनुसार भले-बुरे की चेतना हम सब को होती है। इस चेतना की व्यंजना नैतिक निर्णयों (Ethical judgments) द्वारा होती है। अपने और दूसरों की क्रियाओं को हम कभी भला, कभी बुरा घोषित करते हैं। हम कहते हैं कि नर-संहार अकर्त्तव्य है, और जन-कल्याण कर्त्तव्य है। नीति-विज्ञान नैतिक निर्णयों का अध्ययन कर नैतिक चेतना की युक्ति-संगत व्याख्या करता है और उसकी सार्थकता स्थिर

करता है। इस कार्य के संपादन के लिए उसे नैतिकता का मापदंड (Standard) स्थिर करना पड़ता है क्योंकि सभी नैतिक निर्णयों का आधार कोई न कोई आदर्श (Ideal) या मापदंड रहता है। आदर्श के अनुकूल होने से कोई कार्य कर्त्तव्य होता है और प्रतिकूल होने से अकर्त्तव्य। नीति-विज्ञान व्यक्ति और समाज दोनों के कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य का विवेचन करता है, और दोनों के लिए नैतिकता-अनैतिका का मापदंड प्रस्तुत करता है। इस विषय में जितने प्रश्न होते हैं उन सब के समुचित समाधान की चेष्टा की जाती है। कुछ महत्त्वपूर्ण प्रश्न यों हैं: जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य (Highest End) क्या है? मनुष्य के कर्त्तव्य और अधिकार क्या-क्या हैं? कर्त्तव्य करने की योग्यता और स्वतंत्रता उसके अंदर है या नहीं? व्यक्ति और समाज के कर्त्तव्यों में क्या संबंध है? इत्यादि।

(७) सौंदर्य-विज्ञान

इसका मुख्य उद्देश्य 'सौंदर्य' (Beauty) का दार्शनिक विवेचन करना है। सौंदर्य का विवेचन प्राचीन काल में ही आरंभ हो गया था और काफी प्रगति भी हुई थी किन्तु उसके लिए 'Aesthetics' शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग ए. जी. बामगार्टन (A. G. Baumgarten, 1735) ने किया था। आधुनिक युग में उसका विकास तीव्रगति से हो रहा है।

सौंदर्यानुभूति किसी-न-किसी मात्रा में सब को होती है, कोई न कोई चीज सब को सुन्दर लगती है। इसी सौंदर्यानुभूति का विश्लेषण कर सुन्दर-असुन्दर की परख करना सौंदर्य-विज्ञान का अभीष्ट है। सौंदर्य का स्वरूप, महत्त्व, उसकी वास्तविकता, सौंदर्यानुभव का अन्य अनुभवों के साथ संबंध आदि, का विवेचन यहाँ

हम करते हैं। दर्शन की इस शाखा की समस्याएँ यों हैं: सौंदर्य-विषयक निर्णयों का आधार क्या है? सौंदर्य का अस्तित्व मनुष्य की अनुभूति पर निर्भर है या उससे स्वतंत्र है? सत्य और शिव के साथ इसका क्या संबंध है? इत्यादि।

(८) अर्घ-विज्ञान

दर्शन की इस शाखा के अंदर अर्घों या मूल्यों (Values) का विवेचन होता है। इसका विषय कोई मूल्य-विशेष (Particular Value) नहीं बल्कि मूल्य-सामान्य (Value as such) है। इसलिए इसे मूल्यों का सामान्य विज्ञान कहा जाता है। जीवन में मूल्यों की उपयोगिता कदम-कदम पर लक्षित होती है। व्यक्ति और समाज दोनों के जीवन की गति-विधि उन मूल्यों के अनुरूप होती है जिनमें उनकी आस्था रहती है। इसी सत्य की चेतना से अनुप्राणित होकर आधुनिक युग के बहुत-से दार्शनिकों ने अर्घ-विज्ञान (Axiology) को अपने अध्ययन का विशिष्ट क्षेत्र बनाया है जिसके फलस्वरूप उसकी प्रगति दिनों-दिन हो रही है। मूल्यों का स्वरूप क्या है? क्या वे आत्म-निष्ठ (Subjective) हैं या वस्तु-निष्ठ (Objective)? विश्व के साथ उनका क्या संबंध है? उनका ज्ञान कैसे होता है? आदि विषयों का अन्वेषण अर्घ-विज्ञान में होता है।

चौथा अध्याय

तत्त्वविज्ञान

हम देख चुके हैं कि तत्त्व-विज्ञान का सारभूत प्रश्न है: विश्व का मुल तत्त्व क्या है? विश्लेषण करने पर यह प्रश्न दो उप-प्रश्नों में बँट जाता है: (१) मूल तत्त्व का स्वभाव (nature) क्या है? और (२) उसकी संख्या (number) क्या है? पहला प्रश्न मूल तत्त्व की प्रकृति के विषय में है और दूसरा परिमाण के विषय में।

तत्त्व-विज्ञान का सारभूत प्रश्न

दोनों प्रश्नों के भिन्न-भिन्न उत्तर दिए गए हैं जिनसे विभिन्न तत्त्व-विषयक सिद्धांतों का निर्माण होता है। प्रकृति-विषयक प्रश्न के चार मुख्य उत्तर हैं: (१) मूल तत्त्व पूर्णतः भौतिक (Material) है, (२) मूल तत्त्व पूर्णतः चेतन या आध्यात्मिक (Conscious or Spiritual) है, (३) मूल तत्त्व भौतिक और चेतन दोनों हैं, और (४) मूल तत्त्व न तो भौतिक है न चेतन बल्कि दोनों से विलक्षण है। पहले उत्तर से **भौतिकवाद** (Materialism) की उत्पत्ति होती है, दूसरे से **प्रत्ययवाद** (Idealism) की, तीसरे से **द्वैतवाद** (Dualism) की, और चौथे से **अनुभयवाद** (Neutralism) की। परिमाण-विषयक प्रश्न के तीन उत्तर हैं: (१) मूल तत्त्व एक है, (२) मूल तत्त्व दो हैं, और (३) मूल तत्त्व अनेक हैं। पहला उत्तर **एकवाद** (Monism) का आधार बनता है, दूसरा **द्वैतवाद** (Dualism) का, और तीसरा **अनेकवाद** (Pluralism) का।

तत्त्व-विषयक सिद्धान्त

यद्यपि प्रकृति और परिमाण परस्पर-संबद्ध हैं, उनसे सम्बन्धित सिद्धांतों का विवेचन हम अलग-अलग करेंगे ताकि विषय का प्रतिपादन स्पष्ट और बोधगम्य हो सके।

मूल तत्त्व की प्रकृति

(१) भौतिकवाद

भौतिकवाद (Materialism) वह दार्शनिक सिद्धांत है जिसके अनुसार विश्व का मूल आधार भूत (Matter) या जड़ तत्त्व है। इसी मौलिक भूत से विश्व के नाना पदार्थों की उत्पत्ति होती है, अतएव सभी पदार्थों का वास्तविक स्वरूप भौतिक है। ऐसा कोई भी पदार्थ नहीं है जो वस्तुतः अभौतिक हो। भौतिक पदार्थों की विशेषता है कि वे विस्तारपूर्ण (extended) अर्थात देश-काल में फैले हुए तथा अचेतन (non-conscious or non-mental) होते हैं। कुर्सी, टेबुल, मकान पत्थर, आदि उनके उदाहरण हैं। किन्तु यहाँ हम पूछ सकते हैं कि मन और मनोदशाओं को तो हमारा अनुभव चेतन बतलाता है, तब सभी पदार्थों को भौतिक कैसे माना जा सकता है? इसके उत्तर में भौतिकवाद का कहना है कि मूलतः कोई पदार्थ अभौतिक या चेतन नहीं है, और जो चेतन जान पड़ता है वह केवल देखने में; वस्तुतः वह भी चेतन नहीं है बल्कि उसी आधारिक भूत से उत्पन्न हुआ है जिससे भौतिक पदार्थ उत्पन्न हुए हैं। अतः विश्व के सभी पदार्थों का एक ही आधार या उद्गम है और वह भूत है। इसी भूत को भौतिकवादी विचारक पारमार्थिक सत्ता की संज्ञा देते हैं।

भौतिकवाद की सामान्य विशेषताएँ

भौतिकवाद विश्व की व्याख्या प्राकृतिक नियमों द्वारा करता है। वह मानता है कि विश्व के निर्माण, विकास, ह्रास, आदि के

लिए प्राकृतिक नियम (Laws of Nature) पर्याप्त हैं, किसी अलौकिक सत्ता या शक्ति की आवश्यकता नहीं है। प्रकृति की व्याख्या सिर्फ प्राकृतिक नियमों द्वारा करने के कारण वह प्रकृतिवाद (Naturalism) का समर्थक है। वह अनीश्वरवादी (Atheistic) भी है क्योंकि ईश्वर का अस्तित्व स्वीकार नहीं करता। उसके अनुसार मूल तत्त्व भूत है जो जड़ या अचेतन है, ईश्वर नहीं। विश्व का पर्याप्त कारण भूत ही है, इसलिए भूत के अतिरिक्त ईश्वर को परमार्थ मानने की आवश्यकता नहीं है। विश्व की व्याख्या के लिए किसी अलौकिक (Supernatural) नियम या पदार्थ की सहायता न लेने के कारण भौतिकवादियों का दावा है कि भौतिकवाद ही एकमात्र वैज्ञानिक मत है क्योंकि विज्ञान अलौकिक की वास्तविकता नहीं स्वीकार करता है जब कि भौतिकवाद के अतिरिक्त सभी दार्शनिक सिद्धांत किसी न किसी रूप में अलौकिक को वास्तविक मान ही बैठते हैं।

वस्तुतः भौतिकवाद के लिए भौतिक या लौकिक जगत ही वास्तविक है, उसके अतिरिक्त या परे कोई दूसरा जगत नहीं है। यह जगत स्वतन्त्र है, किसी ज्ञाता या अनुभवकर्त्ता के ज्ञान या अनुभव पर इसका अस्तित्व आश्रित नहीं है। विश्व को ज्ञाता या अनुभवकर्त्ता से निरपेक्ष मानने के कारण भौतिकवाद वस्तुवादी (Realistic) कहा जाता है। भौतिकवाद यंत्रवादी (Mechanistic) अर्थात यंत्रवाद (Mechanism) का समर्थक भी है क्योंकि विश्व-प्रक्रिया को बिना किसी प्रयोजन के यंत्रवत मानता है। उसके मूल में भूत है और केवल भौतिक नियमों के अनुसार उसका संचालन होता है, किसी तरह के प्रयोजन या उद्देश्य की पूर्ति उसका अभीष्ट नहीं है। विश्व में भौतिक या प्राकृतिक नियमों का अटल साम्राज्य है, कभी उनका उल्लंघन नहीं होता। जो भी घटना होती है वह उन्ही

नियमों का अवश्यंभावी परिणाम है, इसलिए विश्व में कहीं भी स्वेच्छा या नियम का अभाव नहीं है।

भौतिकवाद विश्लेषण (analysis) को तत्त्व-ज्ञान की पद्धति मानता है। उसकी मान्यता है कि विश्व और उसके सभी पदार्थ अनेक अवयवों के समूह हैं, इसलिए उनकी सच्ची व्याख्या तभी हो सकती है जब कि विश्लेषण कर उनके वास्तविक निर्मायक (constituent) तत्वों का पता लगाया जाय*। किसी संश्लिष्ट (composite) पदार्थ के निर्मायक तत्त्वों का ज्ञान विश्लेषण द्वारा ही हो सकता है। विश्लेषण पूर्ण होना चाहिए और वह पूर्ण तब होगा जब कि हमारी पहुँच उन तत्त्वों तक हो जाय जो अविभाज्य (indivisible) और सरल (simple) हैं, जिनका पुनः विश्लेषण न हो सके। ऐसे ही अविभाज्य तत्त्वों को भौतिकवाद मूल तत्त्व मानता है और उन्हें भौतिक तथा अचेतन बतलाता है।

भौतिकवाद की पद्धति

भौतिकवाद का मूल प्रत्यय (Root Concept) भूत है। इसलिए भूत से हम क्या समझते हैं उसी पर उसका अर्थ निर्भर करता है। यद्यपि विश्व के सभी भौतिकवादी भूत या जड़ को ही परम तत्त्व मानते हैं, उसके स्वरूप के विषय में सब का एकमत नहीं है। इसका कारण है कि उसका स्वरूप-निरूपण विज्ञानों का विषय रहा है और विज्ञानों का मत क्रमशः विकसित होते रहने के

भूत की सर्वसम्मत विशेषताएँ

* "The whole is to be accounted for by its parts, the higher by that which is lower, the more advanced stage of development by that which is more elementry—it is on this fundamental assumption that materialism proceeds."—C. Barrett, Philosophy, P.60.

कारण परिवर्तित होता गया है। भूत का जो स्वरूप आज के वैज्ञानिक अनुसंधानों ने स्थिर किया है वह प्राचीन या मध्ययुग के निष्कर्षों से नितांत भिन्न है। अपने मत को विज्ञान-सम्मत बनाए रखने के लिए भौतिकवादी दार्शनिक विज्ञानों की प्रगति के साथ पैर में पैर मिलाकर चलने की चेष्टा करते हैं जिससे वैज्ञानिक निष्कर्षों में परिवर्तन होने पर उन्हें भी अपने विचारों को बदलना पड़ता है। यही कारण है कि भूत के स्वरूप के विषय में भिन्न-भिन्न युगों के भौतिकवादियों में पूरी एकता नहीं है, फिर भी भूत की कुछ सामान्य विशेषताएँ हैं जिन्हें सभी स्वीकार करते हैं। उन्हें ही हम उसकी स र्वसम्मत विशेषताएँ कहेंगे।

(१) जिसे भौतिकवादी विचारक परम तत्त्व मानते हैं वह कोई विशिष्ट भौतिक द्रव्य (Particular kind of matter) जैसे पत्थर, लोहा, आदि नहीं बल्कि **सार्वभौम** और सार्वत्रिक है : वह सभी पदार्थों के तह में समानतः विद्यमान है और सबका आधार है। विशिष्ट पदार्थों में वह व्याप्त है किन्तु किसी एक में समाप्त नहीं होता है। (२) सार्वभौमता के बाद भूत की दूसरी विशेषता देश और काल में **विस्तार** या फैलाव (Extension in space and time) है। भौतिक पदार्थों का अस्तित्व सदा किसी देश और काल में रहता है। अतः सभी भौतिक पदार्थों के विषय में 'कब' और 'कहाँ' का प्रश्न हो सकता है। (३) भूत की तीसरी सर्वमान्य विशेषता है कि अपनी मौलिक या पारमार्थिक अवस्था में वह अत्यन्त ही **सूक्ष्म** (subtle), **असंख्य** (innumerable), **निरवयव** (partless), **अविभाज्य** कणों (indivisible elements) के रूप में रहता है। भौतिकवाद मूल तत्त्व की खोज अनुभूत पदार्थों के विश्लषण द्वारा करता है इसलिए स्वभावतः उसके लिए वही चरम तत्त्व होगा जिसकी उपलब्धि के साथ विश्लेषण की अंतिम अवस्था पहुँच जाय, किन्तु वह तभी संभव है जब कि वैसे पदार्थ मिल जायं जो निरवयव हों। विश्लेषण उसी पदार्थ का हो सकता है जो सावयव है क्योंकि

विश्लेषण का अर्थ किसी पदार्थ को उसके हिस्सों या अवयवों म विभाजित करना होता है। अतः सर्वांगपूर्ण विश्लेषण से प्राप्त चरम तत्त्व अवश्य ही निरवयव होगें और जो निरवयव हैं वे स्वभावतः अविभाज्य होंगे। वे अत्यंत ही सूक्ष्म भी होंगे क्योंकि निरवयव होने से नितांत छोटे हैं। संख्या में वे तत्त्व अनेक होते हैं किन्तु प्रकृति में एक होते हैं क्योंकि सभी भौतिक हैं। (४) भूत की चौथी विशेषता नित्यता (eternal reality) है। नित्यता भौतिक कणों के निरवयव होने का ही परिणाम है। भौतिकवाद मानता है कि भिन्न-भिन्न तत्त्वों के संयोग से किसी वस्तु की सृष्टि होती है और उसके निर्मायिक तत्त्वों को अलग-अलग कर देने से उसका विनाश होता है। लकड़ी के कई टुकड़ों के विशिष्ट संयोग से कुर्सी का निर्माण होता है और उसके हिस्सों को अलग-अलग कर देने से विनाश। अतएव हिस्सेवालों पदार्थों का ही सृजन या विनाश संभव है। किन्तु मूल भौतिक कण निरवयव हैं, इसलिए न उनकी सृष्टि हो सकती है न विनाश ही, अतः वे अनादि और अनश्वर हैं। विश्व के अनुभूत भौतिक पदार्थ उन्हीं निरवयव कणों के संयोग से निर्मित होते हैं; उनका सृजन और विनाश संभव है क्योंकि वे सावयव हैं किन्तु उनके आधारिक तत्त्वों का, अर्थात भत के मूल कणों का, सृजन या विनाश, कुछ भी नहीं हो सकता है। इसलिए कहा जाता है कि भूत से उत्पन्न पदार्थ नष्ट होते हैं किन्तु स्वयं भूत कभी नष्ट नहीं होता। (५) भूत से विश्व की व्याख्या के लिए भूत के साथ-साथ गति (Motion) की आवश्यकता सभी भौतिकवादी स्वीकार करते हैं। गति भूत को बाहर से मिलती है या वह स्वयं गतिशील है, इस संबंध में भौतिकवादियों में मतभेद है किन्तु गति की अनिवार्यता के विषय में सभी सहमत हैं। भौतिकवाद के अनुसार किसी भी पदार्थ की उत्पत्ति शून्य से नहीं बलिक पूर्वस्थिति नित्य भौतिक कणों (Pre-existing eternal material particles) के संगठन

(conjunction) से होती है, उसका विनाश निर्मायक तत्त्वों के विघटन (disjunction) से, और परिवर्तन निर्मायक तत्त्वों की संगठन-प्रणाली में परिवर्तन आने से होता है। इन सब क्रियाओं अर्थात संगठित, विघटित, तथा परिवर्तित होने के लिए भौतिक कणों के गतिशील होने की आवश्यकता है। अतः गतिशील भूत ही विश्व की व्याख्या कर सकता है। चाहे वह स्वभावतः गतिशील हो या उसे गतिशील करनेवाला कोई बाहरी पदार्थ हो, किंतु गतिशील होना उसके लिए अनिवार्य है। इसलिए भूत के साथ-साथ गति की आवश्यकता भी भौतिकवाद को स्वीकृत है। (६) मूल भौतिक कणों के ज्ञान के विषय में भौतिकवाद का मत है कि केवल इंद्रियों से नहीं बल्कि ऐंद्रिय ज्ञान की बौद्धिक व्याख्या से वह प्राप्त होता है। उन कणों से बने पदार्थों का अनुभव इंद्रियों द्वारा होता है किंतु उनके आधारभूत आदि तत्त्वों का ज्ञान कोरी इंद्रियानुभूति से संभव नहीं है। इंद्रियानुभूति को वह प्रामाणिक ज्ञान मानता है किन्तु उसीको पर्याप्त नहीं समझता। इंद्रियों से केवल विशेषों (particulars) का ज्ञान हो सकता है, किसी सार्वभौम सत्ता का नहीं। भूत सार्वभौम है, इसलिए उसके ज्ञान के लिए केवल इंद्रियों पर निर्भर करना पर्याप्त नहीं है।

भौतिकवाद का ऐतिहासिक विवेचन

पश्चिमी भौतिकवादः (१) प्राचीनकाल

पश्चिमी दर्शन में भौतिकवाद की उत्पत्ति दर्शन की उत्पत्ति के साथ ही हुई। यूनानी विचारक थेलिस (Thales, 624 B. C.-550 B. C.) दर्शन और भौतिकवाद दोनों के जन्मदाता माने जाते हैं। विश्व की व्याख्या के लिए उन्होंने 'जल' को मूलतत्त्व माना है और सभी पदार्थों की उत्पत्ति उसी से बतलाई है। एनेक्जिमेंडर (Anaximander, 611 B. C.-547 B. C.) भी, जो थेलिस के शिष्य और समकालीन हैं, भौतिकवादी

हैं। वे मानते हैं कि मूल तत्त्व जड़ ही है किन्तु जल की तरह कोई विशेष भौतिक पदार्थ नहीं बल्कि निर्विशेष (Indefinite) है जो अपरिमित और अपरिमेय (illimited and illimitable) है। उनका कहना है कि यदि किसी विशेष प्रकार के सीमित द्रव्य (जैसे जल) को मूल तत्त्व माना जाय तो उससे विभिन्न प्रकार के अनेक पदार्थों की उत्पत्ति नहीं हो सकती। इसलिए उन्होंने मूल-तत्त्व को विशेष धर्मों से रहित अर्थात निर्विशेष, निराकार (Formless), असीम (Boundless), आदि शब्दों से व्यक्त किया है। तीसरे भौतिकवादी विचारक **एनैक्जिमेनीज** (Anaximenes 588 B. C.–524 B. C.) हैं। वे किसी निर्विशेष को नहीं बल्कि थेलिस की तरह एक विशेष भौतिक द्रव्य, अर्थात 'वायु' को मूलतत्त्व मानते हैं। इन तीनों विचारकों में भौतिकवाद का आरंभ भर होता है, उसका विकसित रूप नहीं मिलता। भौतिकवाद की स्थापना के लिए जीव-अजीव, चेतन-अचेतन आदि के भेद की स्पष्ट चेतना आवश्यक है किन्तु उस जमाने में इसका अभाव था। इसलिए उन लोगों ने मूलतत्त्व को भौतिक तथा सजीव दोनों माना था। इसी कारण उनके भौतिकवाद को कुछ विद्वानों ने जीवात्मक भौतिक-वाद (Hylozoism–belief in living matter) की संज्ञा दी है।

बाद आनेवाले दार्शनिकों में **हेराक्लीटस** (Heraclitus 535 B. C.–475 B. C.) ने एक विशेष भौतिक द्रव्य, **'अग्नि'**, को मूल तत्त्व माना है किन्तु **एम्पेडाक्लस्** (Empedocles, 495 B. C.–435 B. C.) के अनुसार चार भौतिक तत्त्व परमार्थ हैं। उनका कहना है कि किसी एक पदार्थ से उसी प्रकार की चीजें बन सकती हैं, दूसरी नहीं, जैसे जल से जलीय वस्तुओं की ही उत्पत्ति हो सकती है। इसलिए विश्व में नाना तरह की वस्तुओं

को देखकर किसी एक तत्त्व को अपर्याप्त समझ वे चार तत्त्वों, पृथ्वी (Earth), वायु (Air), अग्नि (Fire), और जल (Water), को विश्व का मूल आधार मानते हैं। ये तत्त्व स्वयं निर्जीव और गतिहीन हैं। प्रेम (Love) और द्वेष (Hate) नाम की दो बाहरी शक्तियाँ (External forces) हैं जो उन्हें गति प्रदान करती हैं। प्रेम से आकर्षण अर्थात तत्त्वों का संगठन होता है और द्वेष से विकर्षण या विघटन। संगठन से पदार्थों का निर्माण और विघटन से विनाश होता है। ये शक्तियाँ पूर्णतः भौतिक हैं, इनके नाम से इन्हें मानसिक या आध्यात्मिक समझना नितांत गलत होगा। एम्पेडाक्लस् से भी अधिक शुद्ध और विकसित रूप भौतिक-वाद का ल्युकिपस (Leucippus) और डेमोक्राइटस (Democritus) के दर्शनों में मिलता है। उनके मत को परमाणुवाद (Atomism) कहते हैं क्योंकि उन्होंने भौतिक परमाणुओं (Material atoms) को मूलतत्त्व माना है। इस सिद्धांत के प्रतिष्ठाता ल्युकिपस हैं किन्तु उसे विकसित करने का श्रेय डेमो-क्राइटस को है। परमाणुवादियों के अनुसार विश्व के आधारभूत तत्त्व भौतिक परमाणु हैं। परमाणु भूत के अत्यंत ही सूक्ष्म, निरवयव, अविभाज्य टुकड़े हैं जो अनेक और अनश्वर हैं। ऐसे तत्त्वों के लिए 'Atom' शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग उन्हीं लोगों ने किया है। वे मानते हैं कि परमाणुओं में कोई गुणगत भेद (Qualitative difference) नहीं है, भेद है सिर्फ आकार और परिमाण (Quantity) का। एम्पेडाक्लस् भौतिक तत्त्वों में गुणगत भेद मानते हैं किन्तु परमाणुवादियों के लिए सभी परमाणु गुण में एक-से हैं। वे एक-दूसरे से अलग रहते हैं और उनके अलगाव के लिए रिक्त आकाश (Empty Space) की आवश्यकता है। दो परमाणुओं के बीच रिक्त आकाश ही है जो उन्हें अलग रखता

है। रिक्त आकाश की आवश्यकता गति के लिए भी है क्योंकि आकाश में ही परमाणु चलायमान होते हैं। इसलिये उनके साथ आकाश भी यथार्थ है। परमाणुओं को गति बाहर से नहीं मिलती बल्कि अंदर से ही उद्‌भूत होती है।* गतिशील होना उनके लिए स्वाभाविक है। गतिशील होने से वे एक-दूसरे से टकराते हैं और सामान आकार वाले मिलकर संगठित हो जाते हैं। पदार्थों की उत्पत्ति इसी संगठन से होती हैं और संगठन के नष्ट होने पर उनका नाश होता है। नाश होने पर वे फिर परमाणुओं की अवस्था को पहुँच जाते हैं। अतः न कोई पदार्थ शून्य से उत्पन्न होता है न नष्ट होने पर शून्य का रूप लेता है (Something cannot come out of nothing nor can it be reduced to nothing)।

अनुभव-जगत के पदार्थों में गुणगत भेद मालूम पड़ता है किन्तु डेमोक्राइटस का कहना है कि वह यथार्थ नहीं है क्योंकि मूल तत्त्वों में उसका अभाव है। पदार्थों की जो पारस्परिक भिन्नताएँ हैं वे उनके निर्मायक परमाणुओं के आकार, परिमाण तथा संगठन में विशिष्ट स्थान की विभिन्नताओं के कारण हैं। अतः जो भेद देखने में गुणगत लगता है वह भी तत्त्वतः गुणगत नहीं है। इसलिए चेतन और अचेतन में भी कोई वास्तविक गुणगत भेद डेमोक्राइटस को मान्य नहीं है। अचेतन पदार्थों की तरह चेतन

---

*"They are endowed with perpetual motion, which they donot receive from a transcendent principle, but which belongs to their essence"—Weber and Perry, History of Philosophy, P. 36.

और देखिए—

Materialism by M. N. Roy, P. 62.

या मन की उत्पत्ति भी भौतिक परमाणुओं से ही होती है; अंतर यही है कि उसकी उत्पत्ति अत्यंत ही चिकने, गतिशील और गोल परमाणुओं से होती है।

प्राचीन भौतिकवादियों में महत्त्वपूर्ण स्थान रखने वाले दो और विचारक हैं **एपीक्यूरस** (Epicurus 341 B. C.—270 B. C.) और **लुक्रेटियस** (Lucretius, 98 B. C.–54 B. C.)। एपीक्यूरस ने डेमोक्राइटस के परमाणुवाद को पूरी तरह मान लिया है, सिर्फ नाममात्र का परिवर्तन उसमें उन्होंने किया है। परमाणुओं की सभी विशेषताओं को स्वीकार करते हुए उनमें दो और, भार (weight) और इच्छा-स्वातंत्र्य (free will), को उन्होंने जोड़ दिया है। भार के विषय में कुछ विद्वानों का मत है कि डेमोक्राइटस भी परमाणुओं को भारयुक्त मानते हैं किन्तु दूसरों का कहना है कि वे ऐसा नहीं मानते, भार का विशेषण एपीक्यूरस की देन है। किन्तु इस विषय में कोई मतभेद नहीं है कि परमाणुओं में इच्छा-स्वातंत्र्य की कल्पना एपीक्यूरस की ही देन है। एपीक्यूरस मानते हैं कि भार के कारण आकाश में परमाणु सदा गिरते रहते हैं और एक-दूसरे से टक्कर खाकर भिन्न-भिन्न संघात (Combination) पैदा करते हैं। उनका भार उन्हें सदा नीचे की ओर गिरने को विवस करता है किन्तु इच्छा-स्वातंत्र्य होने से उनकी गति कभी-कभी मनमानी अर्थात सीधी न होकर टेढ़ी-मेढ़ी हो जाया करती है। निर्दिष्ट मार्ग से हट जाने की क्षमता को होवे इच्छा-स्वातंत्र्य कहते हैं। लुक्रेटियस प्रसिद्ध रोमन कवि हैं। उनकी कोई नीजी देन नहीं है। उन्होंने एपीक्यूरस के भौतिकवाद को पूर्णतः स्वीकार कर कविता द्वारा हृदयग्राही रूप में उसे व्यक्त किया है।

इस युग के भौतिकवादी दार्शनिकों की संख्या बहुत है जिनमें हाब्स, टोलैण्ड, लामेत्री, हेकेल, मार्क्स आदि प्रमुख हैं। **टामस हाब्स**

(Thomas Hobbes, 1588–1679) भौतिकवाद का समर्थन करते हैं किन्तु कुछ विद्वान उन्हें शुद्ध भौतिकवादी नहीं मानते हैं क्योंकि वे ईश्वर के अस्तित्व को सत्य मानते हैं। किन्तु उनका कहना है कि ईश्वर धार्मिक श्रद्धा का विषय है, दार्शनिक ज्ञान का नहीं। दार्शनिक ज्ञान सिर्फ भौतिक पदार्थों का ही हो सकता है, इसलिए दर्शन के लिए भौतिक जगत ही सत्य है। अतः विश्व के विषय में भौतिकवाद ही दार्शनिक चिंतन का अंतिम निष्कर्ष है। यही कारण है कि ईश्वर को सत्य मानने पर भी हाब्स को आधुनिक भौतिकवाद के इतिहास में प्रमुख स्थान हम दे रहे हैं। उनका कहना है कि हमारे लिए भौतिक जगत ही यथार्थ है और उसमें सभी चीजें भौतिक हैं और सभी क्रियाएँ भूत की गति हैं। संसार-चक्र भौतिक नियमों के अधीन यंत्रवत है। आत्मा भी मूलतः भौतिक है क्योंकि मस्तिष्क (brain) की क्रियाओं का परिणाम है। मनुष्य और पशुओं में सिर्फ विकास का भेद है, जाति का नहीं। दोनों इच्छा-स्वातंत्र्य से रहित जीवित मशीन मात्र हैं। **जान टोलैण्ड** (John Toland 1670-1721) भौतिकवाद के पूर्ण समर्थक हैं। उनके अनुसार भूत शक्तिरूप है, शक्तिहीन या निष्क्रिय द्रव्य नहीं। विस्तार, अभेद्यता (Impenetrability) और गति उसके आवश्यक गुण हैं। जीवन और चैतन्य भी भौतिक-शक्ति के रूप-विशेष हैं। चैतन्य मस्तिष्क का धर्म है, मस्तिष्क के अभाव में उसका अस्तित्व संभव नहीं है। **ला मेत्री** (La Mettrie 1709–1751) भी शुद्ध भौतिकवादी हैं। उनके लिए केवल भौतिक जगत ही सत्य है, ईश्वर की सत्ता मिथ्या है। हाब्स के भौतिकवाद और यंत्रवाद को वे स्वीकार करते हैं और उन्हीं की तरह शरीर-विरहित (disembodied) चैतन्य को असत्य मानते हैं। प्रकृति सदा विकसित होती रहती है और सभी पदार्थ उसी विकास-परंपरा के भिन्न-भिन्न दर्जों के सूचक हैं। मनुष्य

(२) आधुनिक काल

का पौधों और पशुओं से कोई तात्त्विक भेद नहीं हैं, सिर्फ यही कि वह उनसे अधिक विकसित है। अर्न्स्ट हेकेल (Ernst Haeckel, 1834–1919) के मत को एकवादी भौतिकवाद (Materialistic Monism) कहा जाता है क्योंकि उन्होंने भूत की एकता पर बड़ा जोर दिया है। भूत ही एकमात्र सत्य है। भौतिक जगत के दो नियम हैं: (१) द्रव्य और शक्ति की अक्षरता (Law of the conservation of substance and energy) तथा (२) सार्वभौम विकास (Universal law of evolution)। पहले नियम के अनुसार द्रव्य और शक्ति दोनों अनश्वर हैं और एक ही मूल जड़ तत्त्व के दो रूप हैं। विश्व के सभी मूर्त पदार्थ (जीव और अजीव) और सभी शक्तियाँ (भौतिक और मानसिक) उसी जड़ तत्त्व के विकार हैं। विश्व के मूल में जड़ तत्त्व को हेकेल स्वीकार करते हैं किन्तु उसके स्वरूप के विषय में अज्ञेयवादी (Agnostic) हैं। उनका कहना है कि हम इतना ही जानते हैं कि वह जड़ है, यह नहीं जान सकते कि उसका स्वरूप क्या है। दूसरे नियम के अनुसार सब कुछ विकास का फल है। भौतिक-रासायनिक अवस्था से जीव का विकास होता है और जीवित अवस्था से चैतन्य का।

मार्क्सवादी भौतिकवाद

कार्ल मार्क्स (Karl Marx, 1818–1888) द्वारा प्रतिपादित भौतिकवाद द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद (Dialectical Materialism) कहलाता है। विश्व के बौद्धिक जीवन पर इसका बड़ा व्यापक प्रभाव पड़ा है और आज भी इसके अनुयाई सब जगह विद्यमान हैं। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का आशय स्पष्ट करने के लिए द्वन्द्ववाद और भौतिकवाद की व्याख्या अपेक्षित है। द्वन्द्ववाद विश्व-प्रक्रिया (world-process) के विषय में एक विशिष्ट सिद्धांत है। उसके अनुसार विश्व एक

समष्टि है जिसके सभी अंग परस्पर-संबद्ध हैं तथा वह (विश्व) परिवर्तनशील, विकासोन्मुख और नित नूतन होने वाला घटना-प्रवाह है। उसके विकास-क्रम में जो परिवर्तन होते हैं वे वास्तविक होते हैं, भूतकालीन घटनाओं की आवृत्ति मात्र नहीं। इसलिए संसार में नूतन घटनाएँ, नूतन वस्तुएं सदा उत्पन्न होती रहती हैं। द्वन्द्ववाद विश्व-प्रक्रिया का रूप बतलाता है। अब प्रश्न उठता है कि इस प्रक्रिया के मूल में क्या है। इसी का उत्तर मार्क्स-वाद को भौतिकवादी बना देता है क्योंकि मार्क्स मानते हैं कि विश्व का मूल तत्त्व जड़ या भौतिक है। अतः द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद वह सिद्धांत है जिसके अनुसार परमार्थ तत्त्व भूत है जो स्थिर न रहकर द्वन्द्वनियम के अनुसार सदा विकसित होते रहने वाला है। द्वन्द्वात्मक विकास के तीन नियम हैं: (१) **गुणात्मक परिवर्तन** (The law of the transition of quantity into quality), (२) **विरोधि-समागम** (The law of the mutual penetration of opposites) और (३) **निषेध का निषेध** (The law of the negation of negation)। गुणात्मक परिवर्तन का अर्थ ह कि परिमाणगत परिवर्तन (quantitative change) के किसी खास सीमा तक पहुँच जाने पर गुणात्मक परिवर्तन (qualitative change) हो जाता है। विकास-क्रम में नितांत नए गुणों का आविर्भाव होता है जिसका कारण मात्रा-भेद रहता है क्योंकि मात्रा में घटती-बढ़ती होने से नए गुण उत्पन्न हो जाते हैं। जीव और चैतन्य जड़ से गुण में भिन्न हैं किन्तु उनकी भी उत्पत्ति इसी नियम के अनुसार होती है। भूत में परिमाण है और उसके परिमाणगत विकास की अवस्था-विशेष में जीव और चैतन्य का प्रादुर्भाव होता है। इस प्रकार भूत से जीव और चैतन्य की गुणात्मक भिन्नता मानते हुए भी उनकी उत्पत्ति भूत से ही सिद्ध

की जाती है। विरोधि-समागम के नियम के अनुसार सभी वस्तुओं में स्वभावतः अन्तर्विरोध रहता है, हर चीज दो विरोधियों का सम्मिलन-स्थल है। उन विरोधियों में संघर्ष होता है और जब वह तीव्र होता है तो एक पक्ष का निषेध दूसरा करता है। पहले को (जिसका निषेध होता है) वाद (Thesis) और दूसरे को (जो निषेध करता है) प्रतिवाद (Anti-thesis) कहते हैं। निषेध के निषेध का अर्थ है कि अपने स्वभावगत विरोधों के कारण प्रतिवाद का भी निषेध होता है। प्रतिवाद वाद का निषेध है इसलिए प्रतिवाद के निषेध को निषेध का निषेध कहते हैं। इस अंतिम निषेध को संवाद (Synthesis) कहते हैं क्योंकि इसमें वाद और प्रतिवाद दोनों के विरोधों का परिहार होकर सामंजस्य स्थापित होता है। इस संवाद में भी कुछ न कुछ विरोध रह जाता ह जिससे कि वह नया वाद का रूप लेता है जिसका प्रतिवाद होता है और तब नया संवाद उत्पन्न होता है। यह क्रम कभी रुकता नहीं बल्कि अधिक से अधिक विकसित अवस्थाओं की उत्तरोत्तर अवतारणा करते हुए बढ़ता चलता है।

(३) अर्वाचीन काल

वर्तमान युग में वैज्ञानिक अनुसंधानों ने भत-विषयक चिंतन में उथल-पुथल मचा दी है जिसके कारण आज का भौतिकवाद पहले से अत्यन्त भिन्न हो गया है। पहले के भौतिकवादियों ने परमाणु को भूत का अंतिम और अविभाज्य रूप माना है किन्तु आज वैज्ञानिकों ने सिद्ध किया है कि परमाणु भी विभाजनीय हैं। नील बोर (Nieles Bohr) ने बतलाया है कि परमाणु को तोड़ने पर दो तत्त्व मिलते हैं : प्रोटन (Proton) और एलेक्ट्रन। ये तत्त्व (Electron) स्थूल या स्थिर पदार्थ नहीं बल्कि विद्युत-तरंग हैं। प्रोटन धनात्मक विद्युत-तरंग (positive electrical charge) है और एलेक्ट्रन

ऋणात्मक (negative electrical charge)। सभी परमाणुओं का नाभिकरण (nucleus) प्रोटन रहता है और उसके इर्द-गिर्द एलेक्ट्रन रहते हैं। शक्तिरूप होने से ये तत्त्व सदा घूमते रहते हैं। बाद के वैज्ञानिकों ने इससे आगे बढ़कर उपर्युक्त दो तत्त्वों के अतिरिक्त परमाणु के अन्य निर्मायिक तत्त्वों को भी सत्य सिद्ध किया है। प्रोटन को तोड़ कर न्यूट्रन (Neutron) और पोजिट्रन (Positron) दो और तत्त्व मिले हैं। न्यूट्रन न धनात्मक है न ऋणात्मक किन्तु पोजिट्रन धनात्मक एलेक्ट्रन है। अतः आज परमाणु के अन्दर चार तत्त्व माने जाते हैं: प्रोटन, एलेक्ट्रन, न्यूट्रन तथा पोजिट्रन। इसलिए परमाणु नहीं बल्कि उक्त चारों तत्त्व भूत के आदि रूप माने जाते हैं, किन्तु हो सकता है कि उनको भी भविष्य में तोड़ कर अन्य तत्त्व पाए जायँ इसलिए उनको ही हठपूर्वक अन्तिम तत्त्व कहना उचित नहीं है। इतना ही हम कह सकते हैं कि अभी तक जो ज्ञान हम प्राप्त है उसके अनुसार उक्त चार प्रकार के तत्त्व भूत के मूल कण हैं। उनकी संख्या अनेक है और उनके शक्तिरूप होने से आज भूत को भी स्थिर नहीं बल्कि शक्तिरूप माना जाता है। भूत के स्वरूप को ऐसा ही मान कर उसी को मूल आधार समझ विश्व की व्याख्या अर्वाचीन भौतिकवाद करता है।

कुछ अर्वाचीन भौतिकवादी जैसे सेलर्स (R. W. Sellars) सांटायना (G. Santayana), आदि अपने मत को प्रकृतिवाद (Naturalism) कहते हैं। प्रकृतिवाद केवल प्रकृति को यथार्थ मानता है*। प्रकृति से तात्पर्य देश-काल में व्याप्त विश्व से है

* "Naturalism is the type of philosophy which takes nature......as the whole of reality. Naturalism denies the existence of anything beyond nature, behind nature, other-than-nature,......"

—W. E. Hocking, Types of Philosophy, PP. 40--41.

जिसका अनुभव मनुष्य को होता है । वस्तुतः सभी भौतिकवादी प्रकृतिवाद का समर्थन करते हैं किन्तु उपर्युक्त विचारकों ने विश्व की प्रकृतिवादी व्याख्या पर अधिक जोर दिया है । वे भी मूल तत्त्व को भौतिक मानते ह और उससे विश्व की व्याख्या प्रकृतिवादी ढंग से करते हैं । इसलिए उनका मत भी वस्तुतः भौतिकवाद ही है, प्रकृतिवाद या कोई दूसरा ही नाम उसे क्यों न दिया जाय । भौतिकवाद और प्रकृतिवाद का सम्बन्ध यह है कि भौतिकवाद सदा प्रकृतिवाद का समर्थक रहता है किन्तु प्रकृतिवाद को भौतिकवाद का समानार्थक नहीं कहा जा सकता है । प्रकृति मात्र को सत्य मानने से प्रकृतिवाद होगा और उसकी मूल सत्ता को भौतिक मानने से भौतिकवाद । किन्तु पहले को मानने पर दूसरे को मानना अनिवार्य नहीं है क्योंकि एक तरफ सिर्फ प्रकृति को ही सत्य और दूसरी तरफ उसके स्वरूप को अ-भौतिक या आध्यात्मिक मान लेने में कोई असंगति नहीं है ।

भारतीय भौतिकवाद

(१) चार्वाक मत

भारतीय दर्शन में भौतिकवाद का एक ही उदाहरण है चार्वाक दर्शन । उसके अनुसार विश्व के मूल में चार भौतिक तत्त्व हैं : वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी । उन्हीं के भिन्न-भिन्न प्रकार के संगठन से निर्जीव, सजीव, तथा चेतन सभी पदार्थों की उत्पत्ति होती है । यद्यपि उनमें कोई भी सजीव और चेतन नहीं है किन्तु उनके विशिष्ट संगठन और अवस्था के परिणाम स्वरूप जीवित शरीर बनता ह और उसमें एक नूतन गुण, चैतन्य, का प्रादुर्भाव होता है । यह उसी तरह संभव हैं जैसे कि पान, सुपारी, चूना, आदि में लाल रंग का अभाव होने पर भी उन्हें एक साथ करके चबाने से लाल रंग आ जाता है, या महुए में मादकता न रहने पर भी सड़ाने से उत्पन्न हो जाती है । इसी प्रकार जीव और

चैतन्य भी उत्पन्न होते हैं। आत्मा शरीर का गुण है। इसलिए शरीर के साथ उसका भी अन्त हो जाना आवश्यक है। अतः आत्मा की अमरता, पुनर्जन्म, मोक्ष, स्वर्ग, नरक, आदि कपोल-कल्पना मात्र हैं। ईश्वर में विश्वास करना भी अपने को धोखा देना ही है।

भौतिकवाद की समर्थक युक्तियाँ

भौतिकवाद केवल भूत को ही परमार्थ तत्त्व मानता है किन्तु हमारा अनुभव भौतिक और अभौतिक दोनों तरह के पदार्थों को प्रस्तुत करता है। जीव और चैतन्य अभौतिक के उदाहरण हैं, और दोनों की अनुभूति हमें होती है। जिस कलम से अभी मैं लिख रहा हूँ वह भौतिक है किन्तु मैं सजीव प्राणी हूँ और मेरे विचार जो अभी व्यक्त हो रहे हैं चेतन हैं। हमारी चेतना मानसिक क्रियाओं, जैसे स्मृति, विचार, कल्पना, राग-द्वेष आदि, में व्यक्त होती है। भौतिकवाद मनुष्य के इस अनुभव से मुँह नहीं मोड़ता, वह मानता है कि जीव और चैतन्य भी वस्तुतः अनुभूत पदार्थ हैं किन्तु उन्हें वह पारमार्थिक सत्ता का अधिकारी नहीं मानता बल्कि उन्हें भी भूत से ही किसी प्रकार उत्पन्न प्रमाणित करता है। भौतिकवाद की स्थापना के लिए जो युक्तियाँ दी जाती हैं वे यही करती हैं कि जीव और चैतन्य का मूल आधार भूत को सिद्ध कर उसकी ऐकांतिक सत्यता (Single or exclusive reality of matter) प्रमाणित करती हैं। यहाँ पर ऐसी ही कुछ युक्तियां हम दे रहे हैं।

(१) विश्व की उत्पत्ति और उसके विकास के विषय में किए गए वैज्ञानिक अनुसंधान भूत की परमार्थता (ultimateness) सिद्ध करते हैं। वे बतलाते है कि आरम्भ में पृथ्वी अत्यन्त ही गर्म

वायव्य निहारिका (glowing gaseous nebula) के रूप में थी जिस पर जीवन और चैतन्य का अभाव था। वह निहारिका निस्संदेह भौतिक थी। ठंढी होकर जब वह जीवित प्राणियों के रहने लायक हुई तो जीव का आविर्भाव हुआ और जीवों के विकास-क्रम में जब स्नायु-मंडल (nervous system) और मस्तिष्क (brain) की उत्पत्ति हुई तो चैतन्य का प्रादुर्भाव हुआ। इसलिए भूत विश्व के जन्म-काल से ही विद्यमान रहने के कारण मूल तत्त्व है और जीव तथा चैतन्य उसके परिणाम हैं।

✓(२) शक्ति की अनश्वरता का नियम (law of the conservation of energy) भी भौतिकवाद की पुष्टि करता है। वह विज्ञानों का प्रतिष्ठित नियम है। उसका मतलब है कि विश्व की कुल शक्ति समान रहती है, न घटती है न बढ़ती है, सिर्फ रूपांतरित होती है। यदि जीव और चैतन्य को हम अभौतिक मान लेते हैं तो उस नियम का उल्लंघन होता है। विज्ञानों ने सिद्ध किया है कि शरीर भौतिक तत्त्वों से बना है इसलिए भौतिक है। जीवन और चैतन्य का अधिष्ठान वही है। हम देखते हैं कि भौतिक पदार्थों (जैसे, अन्न, जल, गर्मी, आदि) से जीवन-शक्ति बढ़ती है। अब यदि जीवन-शक्ति भौतिक शक्ति से भिन्न है तो इसका मतलब होगा कि बढ़ी हुई जीवन-शक्ति के रूप में नई शक्ति की उत्पत्ति हुई है क्योंकि उसे अभौतिक होने से भौतिक शक्ति (अन्न, जल, आदि से प्राप्त शक्ति) का रूपान्तर नहीं कहा जा सकता। हम यह भी देखते है कि मानसिक इच्छाओं के कारण शरीर के अंगों का संचालन होता है। यहां भी मन या चैतन्य को अभौतिक मानने का मतलब होगा कि शारीरिक क्रियाओं के रूप में व्यक्त भौतिक शक्ति मन की इच्छाओं की अभौतिक शक्ति से उत्पन्न नई शक्ति है, क्योंकि भौतिक होने के कारण उसे अभौतिक शक्ति का रूपांतर नहीं माना

जा सकता। इस प्रकार जीव और चैतन्य को अभौतिक मानने का निष्कर्ष नई शक्ति की उत्पत्ति होता है किन्तु ऐसा होने से विश्व की कुल शक्ति में वृद्धि हो जायगी जो कि उपर्युक्त नियम के विरूद्ध है। अब चूँकि वह नियम सत्य है, उसका विरोधी नि कर्ष सत्य नहीं हो सकता, अतः जीव और चैतन्य को अभौतिक नहीं माना जा सकता।

(३) शरीर से भिन्न चैतन्य या मन का अस्तित्त्व हम मानसिक क्रियाओं की व्याख्या के लिए स्वीकार करते हैं। डेकार्ट (Descartes) कहते हैं कि हम सोचते हैं इसलिए सोचनेवाला कोई चेतन पदार्थ (आत्मा या मन) अवश्य ही सत्य होगा। किन्तु प्राणियों के जीवन में शरीर के अतिरिक्त किसी पदार्थ का हमें अनुभव नहीं होता। इसलिए उनकी सभी क्रियाओं का आधार शरीर को मानना ही स्वाभाविक है। अतः शरीर (जो भौतिक है) से भिन्न किसी अभौतिक पदार्थ को वास्तविक मानना अनुभव-सिद्ध नहीं है।

(४) शरीर-विज्ञान (Physiology) के अनुसंधानों ने प्रमाणित किया है कि चैतन्य मस्तिष्क पर निर्भर है। मस्तिष्क स्नायुमंडल का केन्द्र अर्थात शरीर का एक अंग-विशेष है। मस्तिष्क के ह्रास-विकास के साथ चैतन्य का भी ह्रास-विकास होता है। मनुष्य में चैतन्य का सर्वाधिक विकास हुआ है क्योंकि उसका मस्तिष्क अन्य जीवों से अधिक विकसित है। इन सब बातों से सिद्ध होता है कि चैतन्य भौतिक शरीर पर आधारित है। इसी तरह जीवन भी शरीर पर निर्भर है। यदि भौतिक तत्त्वों (अन्न, जल, आदि) से शरीर का पोषण न हो तो जीवन कायम नहीं रह सकता है।

(५) यदि चैतन्य को शरीर से स्वतंत्र मान लिया जाय तो शरीर के अभाव में उसका अस्तित्व अक्षुण्ण रहना चाहिए किन्तु

शरीर-विरहित चैतन्य की सत्ता असिद्ध है। अनुभव या वैज्ञानिक अनुसंधान कोई भी उसे सत्य नहीं बतलाते। उसी तरह शरीर के अभाव में या नष्ट हो जाने पर जीवन का भी अन्त हो जाता है।

(६) यदि शरीर के बिना भी आत्मा या चैतन्य रह सकता है तो चेतन क्रियाओं के लिए शरीर की आवश्यकता नहीं पड़नी चाहिए थी। किन्तु मनोविज्ञान बतलाता है कि उनके लिए स्नायु-मंडल और मस्तिष्क की सक्रियता अपेक्षित है। दूसरे, शरीर से स्वतंत्र रहने पर चैतन्य उसी में क्यों रहता है? क्यों नहीं उसके बाहर रहता या किसी दूसरे माध्यम से अपने को व्यक्त करता है? इन कठिनाइयों का संकेत यही है कि वह शरीर से स्वतंत्र नहीं है। इसी तरह जीवन को भी शरीर पर आश्रित सिद्ध किया जाता है।

उपर्युक्त प्रकार के तर्कों के निष्कर्ष के रूप में भौतिकवाद चैतन्य को मस्तिष्क की क्रिया का परिणाम मानता है। चैतन्य भूत पर आश्रित है किन्तु भूत किसी भी तरह उसपर आश्रित नहीं है। चैतन्य को कोई-कोई भौतिकवादी शरीर की छाया या उप-विकृति (Epi-phenomenon) मानते हैं जो उसपर निर्भर करता है किन्तु कोई कारणात्मक प्रभाव (Causal influence) नहीं डालता। इस मत को उप-विकृतिवाद (Epi-phenomenalism) कहते हैं। इस शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग टामस हक्सले (Thomas Huxley, 1825–1895) ने किया था। इस प्रकार निष्कर्ष के रूप में हम कह सकते हैं कि भौतिकवाद जीव और चैतन्य दोनों को भूत से उत्पन्न या उस पर आश्रित मानता है किन्तु उनसे भूत को पूर्णतः स्वतंत्र समझता है।

भौतिकवाद का मूल्यांकन

भौतिकवाद की प्रतिज्ञा है कि विश्व का मूल तत्त्व भूत है। इसको प्रामाणिक सिद्धांत के रूप में तभी स्वीकार किया जा सकता

है जब कि भूत से अनुभूत अभौतिक पदार्थों, जसे जीव और चेतन, की उत्पत्ति की व्याख्या कर दी जाय। भौतिकवादियों ने ऐसी व्याख्या देने की चेष्टा की है। अपने मूल्यांकन से हम यहां यही स्थिर करेंगे कि कहाँ तक उन्हें इसमें सफलता मिली है।

(१) किसी भी तत्त्वशास्त्रीय सिद्धांत की सफलता के लिए अनुभूत विश्व की संगत व्याख्या आवश्यक है। अनुभव-जगत में भौतिक और अभौतिक दो तरह के पदार्थ मिलते हैं। भूत से भौतिक पदार्थों की उत्पत्ति स्वाभाविक है किन्तु अभौतिक की उत्पत्ति असंभव-सी लगती है। अभौतिक के उदाहरण जीव और चेतन हैं। जीव के विषय में भौतिकवादियों का कहना है कि भूत के विकास-क्रम में किसी अवस्था-विशेष में जीव की उत्पत्ति होती है। किन्तु यह पूछने पर कि इसका कारण क्या है, क्यों भूत जीव को उत्पन्न करता है, क्यों नहीं वह भौतिक ही रहता है, उनके पास कोई उत्तर नहीं है। भूत और जीव में मौलिक भेद है—सजीव प्राणी का लक्षण है कि वह अपन अंगों का संचालन कर सकता है, बाहरकी सामग्री लेकर अपना भरण-पोषण कर सकता है, अपना विकास और वृद्धि कर सकता है, संतान पैदा कर सकता है, इत्यादि। ये लक्षण भौतिक पदार्थ में नहीं रहते हैं। इसलिए जब भूत इन लक्षणों से रहित है तो इनसे युक्त जीव की उत्पत्ति वह कैसे कर सकता है? अभी तक किसी भी विज्ञानवेत्ता को भौतिक कणों से जीव की उत्पत्ति वास्तविक प्रयोग द्वारा दिखाने में सफलता नहीं मिली है।

(२) चैतन्य की व्याख्या भी भौतिकवाद नहीं कर सका है। भूत से चेतन की व्याख्या दो प्रकार से की जाती है। कुछ लोग जड़ और चेतन में अभेद या तादात्म्य (identity) मानते हैं। उनका कहना है कि हर प्रकार की चेतन अवस्था की परीक्षा करने पर मस्तिष्क की क्रिया पाई जाती है, इसलिए चेतना

मस्तिष्क की क्रिया (Consciousness is brain-action) ही है। इस मत के विरुद्ध हमें कहना है कि भौतिक और चेतन में स्वभावगत विरोध या भिन्नता है इसलिए दोनों को एक कर देना न्यायोचित नहीं है। भौतिक पदार्थ (जैसे मस्तिष्क) देश में व्याप्त रहता है, जगह घेरता है, तथा उसकी नाप-जोख हो सकती है किन्तु चेतन तत्त्व जैसे मानसिक क्रियाएं, न देश में व्याप्त हैं, न उनकी नाप-जोख ही संभव है। स्मृति, कल्पना, चिंतन आदि की न नाप-जोख हो सकती है न देश में स्थानीयकरण (localisation in space) ही। भूत से चेतन के भेद को कितने भौतिकवादियों ने भी महसूस किया है और उसकी उत्पत्ति की दूसरी व्याख्या दी है। उनका कहना है कि वह भौतिक नहीं बल्कि भूत का परिणाम या कार्य (effect) है। वे कहते हैं कि चैतन्य के साथ मस्तिष्क की क्रिया अवश्यंभावी रूप में विद्यमान रहती है और बिना उसके चैतन्य पाया नहीं जाता है। इसलिए चैतन्य उसपर निर्भर है, उसका परिणाम है। इस युक्ति के विषय में हमें यह कहना है कि मस्तिष्क के भौतिक होने के कारण उसमें उन गुणों का अभाव है जो चैतन्य में विद्यमान हैं इसलिए वह चैतन्य का कारण नहीं हो सकता। कोई भी कारण उन गुणों को उत्पन्न नहीं कर सकता जिनसे वह स्वयं वंचित है। दूसरे, चैतन्य और मस्तिष्क के साहचर्य से मस्तिष्क की कारणता सिद्ध नहीं होती। हो सकता है कि यह साहचर्य किसी तीसरे पदार्थ का कार्य हो। तीसरे यदि चैतन्य का शरीर पर निर्भर करना सत्य है तो शरीर का चैतन्य या मन पर निर्भर करना भी कम सत्य नहीं है। आधुनिक मनोविज्ञान स्पष्टतः बतलाता है कि केवल मानसिक कारणों से शरीर रुग्ण हो सकता है। हीस्टेरिया (Hysteria) आदि इसके उदाहरण हैं। दैनिक जीवन में भी मन का प्रभाव शरीर पर

पड़ता ही है—पुत्र-शोक से पाचन-संस्थान का दुर्बल हो जाना, विफल प्रेम की निराशा से शरीर का सूख जाना, आम घटनाएँ हैं। अतः जब कि शरीर पर मन के निर्भर होने से चेतन को उसका परिणाम माना जा सकता है तो मन पर शरीर के निर्भर होने से शरीर को भी मन का परिणाम क्यों न माना जाय? अतः निर्भरता के आधार पर भौतिकवाद को स्थापित करना सुरक्षित नहीं है।

(३) भूत से जीव और चेतन की नवीन व्याख्या मार्क्सवादियों ने दी है। वे कहते हैं कि गुणात्मक परिवर्तन के नियम द्वारा परिमाणगत परिवर्तन की विशेष अवस्था में जीव और चैतन्य उत्पन्न होते हैं। किन्तु ऐसा परिवर्तन क्यों होता है? क्यों जीव और चैतन्य से रिक्त रहने पर परिमाणगत परिवर्तन द्वारा उनका विकास भूत से होता है? इस 'क्यों' का कोई उत्तर मार्क्सवादियों के पास नहीं है।

(४) प्रकृतिवाद से प्रभावित भौतिकवादियों का कहना है कि भूत के विकास-क्रम में एक अवस्था आती है जब कि जीव और चैतन्य उत्पन्न होते हैं। इसका कारण प्राकृतिक नियम है। अतः इस व्याख्या का मतलब है कि उनका विकास होता है क्योंकि वही प्रकृति का नियम है। किन्तु यह तो कोई व्याख्या नहीं हुई। यह तो यही कहने के बराबर है कि विकास होता है क्योंकि वह होता (अर्थात प्रकृतिक) है। स्पष्टतः यह तर्क नहीं बल्कि तर्काभास है।

(५) शक्ति की अनश्वरता के नाम पर भौतिकवाद के लिए दिया गया तर्क भी निर्दोष नहीं है। जीव और चेतन को भूत से स्वतंत्र मानने पर उक्त नियम का उल्लंघन होता है, इसलिए उन्हें स्वतंत्र नहीं माना जा सकता—यही भौतिकवादियों का तर्क

है। किन्तु यह तर्क तभी कारगर हो सकता है जब कि पहले यह मान लिया जाय कि जीव, चेतन तथा जड़ सब की व्याख्या भौतिक-रासायनिक नियमों (physico-chemical laws) द्वारा हो सकती है क्योंकि शक्ति की अनश्वरता का नियम भौतिक-रासायनिक नियम ही है।* किन्तु यह मान लेना तो भौतिकवाद को ही मान लेना है। अतएव यह तर्क भौतिकवाद को प्रमाणित करने के पहले ही उसे मान लेता है जो कि उचित नहीं है। कुछ प्रमुख वैज्ञानिकों का मत है कि उक्त नियम भौतिक-रासायनिक जगत के लिए ही है, जीव या चेतन जगत के लिए नहीं। उस हालत में तो निस्सन्देह ही वह भौतिकवाद की पुष्टि नहीं कर सकता।

उपर्युक्त समीक्षा का निष्कर्ष यही है कि मूल तत्त्व के विषय में भौतिकवाद सफल सिद्धांत नहीं है क्योंकि सिर्फ भुत को मूल तत्त्व मानने से विश्व के सभी अंगों की व्याख्या नहीं होती है। जीव और चैतन्य विश्व के महत्त्वपूर्ण अंग हैं किन्तु उनकी व्याख्या सिर्फ भूत को परमार्थ तत्त्व मान कर नहीं की जा सकती है। इसलिए भौतिकवाद को मूल तत्त्व के प्रकृति-विषयक तत्त्व-शास्त्रीय प्रश्न का सफल समाधान नहीं कहा जा सकता है।

---

*देखिए—

An Introduction to Philosophy by W. Jerusalem, P. 147.

पाँचवाँ अध्याय

(२) प्रत्ययवाद

प्रत्ययवाद (Idealism) के अनुसार विश्व का मूल तत्त्व चेतन (conscious) या आध्यात्मिक (spiritual) है। विश्व की आधार-भूत सत्ता चैतन्य (Consciousness), प्रत्यय (Idea), आत्मा (Self), या मन (Mind) है, भूत या जड़ नहीं। मूल तत्त्व के आध्यात्मिक होने से तत्त्वतः सारा विश्व ही आध्यात्मिक या चिदात्मरूप अर्थात अभौतिक है। यदि कोई पदार्थ भौतिक लगता है तो वह प्रतीति (appearance) मात्र है, वास्तविक नहीं। प्रत्ययवाद का दावा है कि जो भौतिक जान पड़ता है वह भी प्रत्ययात्मक (of the nature of ideas) है, आत्मा या मन का विकार है। मोटी बुद्धि से देखने पर सचमुच भूत भूत-सा लगता है किन्तु सूक्ष्म बुद्धि से परखने पर वह भी वस्तुतः आध्यात्मिक सिद्ध होता है। इस प्रकार भौतिक तत्त्व की कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। आत्मा ही एकमात्र परमार्थ तत्त्व ह। वह भूत पर निर्भर नहीं करता किन्तु भूत को आत्मा का मुँह जोहना पड़ता है क्योंकि वह आत्मा का विवर्त्त (phenomenan) है।

प्रत्ययवाद की सामान्य विशेषताएँ

प्रत्ययवाद की प्रवृत्ति अ-प्रकृतिवादी (Anti-naturalistic) है क्योंकि प्रकृति की व्याख्या के लिए प्राकृतिक नियमों को वह पर्याप्त नहीं मानता है। देश-काल में व्याप्त जगत को वह अपूर्ण, परत्रंत मानता है, और उसकी व्याख्या के लिए आत्मा या चैतन्य

को आवश्यक समझता है क्योंकि वही उसका (जगत का) आधार है। परम तत्त्व को आध्यात्मिक मानने से प्रत्ययवाद का ईश्वरवाद से कोई स्वभावगत विरोध नहीं है क्योंकि ईश्वर को ईश्वरवाद आध्यात्मिक ही मानता है। प्रायः प्रत्ययवाद के समर्थक ईश्वरवादी बन जाते हैं। बल्कि अधिकांश प्रत्ययवादी ईश्वर को परम तत्त्व मानते हैं। प्रत्ययवाद यंत्रवाद (Mechanism) का विरोधी है क्योंकि विश्व प्रक्रिया को वह अर्थहीन या निष्प्रयोजन नहीं मानता है। विश्व को मूलतः आ यात्मिक मानने के कारण आध्यात्मिक मूल्यों को वह वास्तविक मानता है और विश्व-प्रक्रिया को प्रयोजन-पूर्ण। उसका प्रयोजन उन मूल्यों की सिद्धि (realisation) है। इसलिए वह प्रयोजनवाद (Teleology) का समर्थन करता है।

प्रत्ययवाद और भौतिकवाद

प्रत्ययवाद भौतिकवाद का पूर्ण विरोधी है। भौतिकवाद प्रकृति-वाद, अनीश्वरवाद और यंत्रवाद का समर्थक है जब कि प्रत्ययवाद उनका विरोध करता है। भौतिकवाद मूल तत्त्व को अचेतन और भौतिक मानता है तो प्रत्ययवाद चेतन और अभौतिक। पहले के अनुसार चेतन जगत अतात्त्विक है, भूत का परिणाम है, तो दूसरे के अनुसार भौतिक जगत अतात्त्विक है, चैतन्य का परिणाम है। मूल तत्त्व की प्रकृति के विषय में दोनों एकवादी (Monistic) हैं क्योंकि दोनों के अनुसार उसकी प्रकृति एक तरह की है, प्रत्यय-वाद के लिए सिर्फ चेतन और भौतिकवाद के लिए सिर्फ भौतिक, किन्तु उनका एकवाद परस्पर-विरोधी है। जड़-चेतन का द्वैत (duality) किसी को स्वीकार नहीं है किन्तु इस द्वैत का परिहार वे विपरीत तरीके से करते हैं क्योंकि प्रत्ययवाद चेतन में जड़ का अंत-र्भाव करता है तो भौतिकवाद जड़ में चेतन का। इस प्रकार मूलतत्त्व

की प्रकृति को एक सिर्फ चेतन मानता है और दूसरा सिर्फ भौतिक* ।

प्रत्ययवाद के लिए अँग्रजी में Idealism, Spiritualism, आदि शब्द प्रचलित हैं किन्तु अधिकांश लेखक Idealism को ही पसंद करते हैं। इसका कारण है कि Spiritualism का व्यवहार आजकल तत्त्व-शास्त्रीय अर्थ से भिन्न अर्थ में होता है---शरीर-विरहित आत्माओं से बातचीत करने की प्रणाली के अन्वेषण के अर्थ में इसका प्रयोग होता है । इसलिए किसी तत्त्व-शास्त्रीय सिद्धांत की संज्ञा के रूप में इसका प्रयोग अस्पष्टता पैदा कर सकता है । यही कारण है कि Idealism Spiritualism से अधिक उपयुक्त है क्योंकि उससे कोई अर्थभद होने का भय नहीं है । Idealism शब्द 'Idea' से बना है, Ideal (आदर्श) से नहीं, इसलिए उसके लिए हिन्दी में 'आदर्शवाद' नहीं बल्कि 'प्रत्ययवाद' शब्द का प्रयोग होना चाहिए । Idealism के अर्थ को ध्यान में रखते हुए हिन्दी में 'प्रत्ययवाद' और 'अध्यात्मवाद' दोनों का प्रयोग उसके लिए हो सकता है ।

प्रत्ययवाद के विभिन्न रूप

प्रत्ययवादी विचारा-धारा इतनी विस्तृत और समृद्ध है कि उसके सभी समर्थकों के सिद्धान्तों का वर्णन अलग-अलग करना संभव नहीं है । इसलिए प्रत्ययवादी दर्शनों को भिन्न-भिन्न वर्गों में रखकर प्रत्ययवाद के विभिन्न रूप (forms) हम स्थिर करेंगे और विचारकों के बदले उन्हीं रूपों के विवेचन द्वारा प्रत्ययवाद का विकास दिखलायेंगे। किन्तु प्रत्ययवाद का विकास इतनी विभिन्न दिशाओं में हुआ है कि ऐसा वर्गीकरण जिसमें

---

*Materialism emphasises the spatial, pictorial, corporeal, sensuous, non-valuational, factual, and mechanistic. Idealism stresses the supra-or non-spatial, non-pictorial, incorporeal, suprasensuous, normative or valuational, and teleological.— Dictionary of Philosophy. ed. by D. D Runes. P. 136.

सभी प्रत्ययवादी प्रवृत्तियों का समुचित समावेश हो जाय, दुःसाध्य-सा लगता है। यहां पर जो वर्गीकरण दिया जा रहा है उसके अंदर प्रत्ययवाद के सभी रूपों के निश्शेष सन्निवेश (inclusion without residue) का दावा हम नहीं करते किन्तु हमारा विश्वास है कि उसके अंतर्गत प्रत्ययवाद के सभी प्रतिनिधि रूप (representative forms) चले आते हैं।

पश्चिमी दर्शन में प्रत्ययवाद के तीन रूप मिलते हैं। (१) आत्म-निष्ठ प्रत्ययवाद (Subjective Idealism), (२) वस्तु-निष्ठ प्रत्ययवाद (Objective Idealism) और (३) निरपेक्ष प्रत्ययवाद (Absolute Idealism)। 'मूल तत्त्व आत्मा या प्रत्यय है'—इस वाक्य को सभी प्रत्ययवादी मानते हैं। अतः आत्मा या प्रत्यय ही उनकी मूल धारणा (root concept) है। यहाँ एक नया प्रश्न उठता है। आत्मा या प्रत्यय का स्वरूप क्या है? वह हमारे-जैसे सीमित आत्माओं और उनके प्रत्ययों की तरह है या वस्तु-निष्ठ, असीम, और सार्वभौम है? इस प्रश्न के दो उत्तर दिए गए हैं। कुछ विचारक ससीम आत्मा (finite self) को ही परम तत्त्व मानते हैं। उनके मत को आत्म-निष्ठ प्रत्ययवाद कहते हैं। दूसरे उसे असीम मानते हैं जो ससीम आत्माओं पर आश्रित नही बल्कि वस्तु-निष्ठ अस्तित्व वाला है। इस मत को वस्तु-निष्ठ प्रत्ययवाद कहते हैं। आगे चलकर वस्तु-निष्ठ प्रत्ययवाद का विकास एक विशिष्ट रूप में होता है जिसे निरपेक्ष प्रत्ययवाद की संज्ञा देते हैं। अब एक-एक करके तीनों का संक्षिप्त परिचय यहां हम देंगे।

पश्चिमी प्रत्ययवाद के विभिन्न रूप

आत्म-निष्ठ प्रत्ययवाद का उदाहरण बर्कले (George Berkely 1685-1753) के दर्शन में मिलता है। अपने दार्शनिक जीवन के पूर्वार्द्ध में उन्होंने इसका समर्थन किया है। इस सिद्धांत के अनुसार केवल

ससीम आत्माएँ और उनके प्रत्यय (finite minds and their ideas) वास्तविक हैं, उनके परे या उनसे भिन्न कोई वास्तविकता नहीं है। विश्व के सभी पदार्थ विचारों या प्रत्ययों के समूह हैं और चूँकि विचारों का अस्तित्व विचार करनेवाल (आत्मा) पर निर्भर है, समचा संसार आत्मा पर निभर है। इस प्रकार सभी पदार्थों का अस्तित्व किसी विचार द्वारा सोचे जाने या उसके अनुभव के विषय बनने पर आश्रित है। इस तथ्य को बर्कले ने अपनी प्रसिद्ध उक्ति Esse est percipi द्वारा व्यक्त किया है जिसका मतलब है कि अस्तित्व का अर्थ अनुभव का विषय होना है (existence consists in being perceived or experienced)।

(१) आत्म-निष्ठ प्रत्ययवाद

बर्कले के अनुसार कोई भी पदार्थ विचारों से भिन्न अर्थात जड़ नहीं है। उदाहरण के लिए किसी को हम ले सकते हैं जिसे साधारणतया भौतिक माना जाता है जैसे टेबुल, कुर्सी, शक्कर, पुष्प, आदि। जब हम कहते हैं कि 'यह पदार्थ शक्कर है' तो इसका मतलब यही होता है कि वह उजलापन, मीठापन, रूखापन आदि गुणों का संघात (collection) है। लाख प्रयत्न करने पर भी गुणों के अतिरिक्त शक्कर के अंदर और कुछ नहीं मिलेगा। सिर्फ मिथ्या ज्ञान या मानसिक अभ्यासबस हम समझते हैं कि गुणों से भिन्न 'शक्कर' नाम का कोई भौतिक पदार्थ है जो उनका आधार है किन्तु अनुभव कभी वैसे गुणातीत द्रव्य (qualityless substance) का पता नहीं देता है। इसलिए वस्तुओं को सिर्फ गुणों का समूह भर मानना प्रमाणसंगत है। किन्तु गुण वस्तु-निष्ठ, (objective), मन के बाहर या मन से स्वतंत्र (extra-mental) नहीं बल्कि आत्म-निष्ठ (subjective), मन या आत्मा के अनुभव

पर आश्रित, अर्थात मन के प्रत्यय हैं। चखने के अनुभव पर मीठापन, देखने पर उजलापन, तथा छूने पर रूखापन निर्भर हैं; इन अनुभवों से अलग करके उनका कोई अर्थ नहीं होता है। इस प्रकार सभी गुण आत्मा पर आश्रित या प्रत्यय हैं। अनुभव तो सिर्फ प्रत्ययों का ही होता है, किन्तु आत्मा का ज्ञान अन्य पदार्थों से भिन्न तरीके से होता है। आत्मा का प्रत्यय हमें नहीं मिलता लेकिन उसका ज्ञान एक विशेष प्रकार के अनुभव द्वारा होता है जिसे बर्कले आंतरिक अनुभव या अंतर्बोध (notion) कहते हैं। यह किसी प्रकार का ऐंद्रिय अनुभव नहीं है। आत्मा को बर्कले चेतन, अनुभव का अधिष्ठान, और प्रत्ययों का आश्रय या आधार मानते हैं। उसे वे आध्यात्मिक द्रव्य (spiritual substance) भी कहते हैं। इस प्रकार आत्मा प्रत्यय या प्रत्ययों का संघात नहीं बल्कि उनका आश्रयभूत द्रव्य (substratum) है जिसके बिना प्रत्ययों की कल्पना नहीं की जा सकती। अत: आत्म-निष्ठ प्रत्ययवादी बर्कले का निष्कर्ष है कि केवल हमारे आत्मा और उनके प्रत्यय परमार्थ हैं।

आत्म-निष्ठ प्रत्ययवाद की त्रुटियाँ

बर्कले द्वारा प्रतिपादित आत्म-निष्ठ प्रत्ययवाद का प्रभाव बड़ा क्रांतिकारी सिद्ध हुआ है। साधारण जनता तथा दर्शन के अधिकांश विद्वानों ने उसका तीव्र विरोध किया है क्योंकि सारे संसार को प्रत्ययों का समूह मानने में बड़ी कठिनाई होती है। जब सब कुछ प्रत्यय-रूप है तब तो हमलोग प्रत्यय खाते हैं, प्रत्यय पीते हैं, और प्रत्यय पहनते हैं, किन्तु यह तो बड़ा बेढंगा-सा लगता है। साधारण जनता को यह कतई स्वीकार नहीं हो सकता। दार्शनिकों ने भी बड़ा ही सूक्ष्म विश्लेषण करके यह सिद्ध किया है कि सभी पदार्थों को ससीम आत्माओं पर आश्रित मानना उचित नहीं है। मान लीजिए मैं देखता हूँ कि सामने से एक अत्यंत ही

विकराल सर्प मेरी ओर आ रहा है। बर्कले के अनुसार वह प्रत्ययों का समूह है, और मेरे अनुभव पर आश्रित है। तो क्या मेरी आँखों के बंद हो जाने पर (अनुभव के अभाव में) उसकी सत्ता मिट जायगी? और, यदि उसकी सत्ता मिट जाती है तो फिर कुछ देर के बाद आँखें खोलने पर वह मेरे और निकट कैसे आ गया रहता है और काटने-काटने-सा लगता है? यदि आँख बंद करने से वह नष्ट हो जाता है तो आँख बंद रहते ही कैसे काट खाता है? आत्म-निष्ठ प्रत्ययवाद ऐसी कठिनाइयों के सामने निरुत्तर हो जाता है। और प्रकार से भी उसके दोषों को स्पष्ट कर आलोचकों ने दिखाया है कि वह स्वीकार करने योग्य नहीं है। बर्कले ने स्वयं भी आगे चलकर अपने मत की दुर्बलताओं को महसूस किया है। इसलिए अपने दार्शनिक जीवन के उत्तरार्द्ध में उसे परिवर्तित कर वे वस्तु-निष्ठ प्रत्ययवाद की शरण लेते हैं। अतः अंत तक आत्म-निष्ठ प्रत्ययवाद का समर्थन बर्कले नहीं करते हैं। वस्तुतः पश्चिमी दर्शन के इतिहास में तत्त्व-विषयक सिद्धांत के रूप में आत्म-निष्ठ प्रत्ययवाद का पूरा समर्थन करने वाला कोई भी विचारक नहीं है।* बर्कले और फिक्टे (J G. Fichte) को इसका पूर्ण समर्थक कुछ लोगों ने माना है किन्तु वह ठीक नहीं है।

वस्तु-निष्ठ प्रत्ययवाद परमतत्त्व को आध्यात्मिक कहता है किन्तु उसे ससीम न मानकर असीम और सार्वत्रिक (Universal) मानता है। वही हमारे ससीम आत्माओं तथा अनुभव-जगत का मूल आधार है। अतः विश्व का अस्तित्व हमारे-जैसे ससीम आत्माओं के अभाव में नष्ट नहीं हो सकता क्योंकि वह उन पर नहीं

(२) वस्तु-निष्ठ प्रत्ययवाद

---

* देखिए—
Introduction to Philosophy by Oswald Kulpe, P. 195.

बल्कि असीम आध्यात्मिक सत्ता पर आश्रित है जिसका अभाव संभव नहीं है।

वस्तु-निष्ठ प्रत्ययवाद का सर्व प्रथम उदाहरण प्राचीन यूनान के प्रसिद्ध विचारक प्लेटो (Plato, 427–347 B. C.) के दर्शन में मिलता है। उनके अनुसार परमतत्त्व धारणाओं या सामान्य प्रत्ययों की एक समष्टि (a system of concepts) है जिसमें सामान्य तारतम्यात्मक श्रेणी में व्यवस्थित (arranged in an heirarchical order) रहते हैं। सामान्य के लिए उन्होंने Idea शब्द का प्रयोग किया है। उनका तात्पर्य वैसे प्रत्यय से है जो किसी वर्ग-विशेष के सभी सदस्यों में विद्यमान रहता है और उनके सार और सामान्य गुणों को व्यक्त करता है, जैसे अश्वत्व (horseness), मनुष्यत्व (manness), इत्यादि। पदार्थों के हरएक वर्ग के लिए एक सामान्य होता हैं, अतः जितने वर्ग हैं उतने सामान्य हैं। सामान्य आपस में असंबद्ध नहीं बल्कि बड़ाई-छोटाई के अनुसार श्रेणीबद्ध रहते हैं। कम व्यायक अपने से अधिक व्यापक के अंदर समाविष्ट रहते हैं। अश्वत्व, गोत्व (cowness), आदि पशुत्व (bruteness) के अन्तर्गत हैं जो उनसे अधिक व्यापक है, तथा पशुत्व और मनुष्यत्व जीवत्व (livingness) के अन्तर्गत हैं। इस प्रकार कम से अधिक व्यापकता की ओर बढ़ती हुई सामान्यों की पंक्ति ऐसा तारतम्य बनाती है जिसकी पहली सीढ़ी पर न्यूनतम व्यापकतावाला प्रत्यय है और अंतिम पर श्रेष्ठतम व्यापकतावाला। श्रेष्ठतम सामान्य को प्लेटो ने श्रेयस-प्रत्यय (The Idea of the Good या The Good) या शुभ प्रत्यय की संज्ञा दी है। उसकी व्यापकता सर्वाधिक है, इसलिए अन्य सभी सामान्य उसके अधीन हैं जब कि वह किसी के अधीन नही है क्योंकि उससे महान कोई है ही नहीं। श्रेयस-प्रत्यय

को ही वे ईश्वर भी कहते हैं और सभी सामान्यों के अस्तित्व का आधार मानते हैं।

सामान्यों के स्वरूप के विषय में प्लेटो का मत है कि वे परमार्थ (substantial) ' सार्वभौम (universal), विचार-स्वरूप (of the nature of thoughts), एकात्मक (one) अपरिवर्तनशील, अनश्वर (indestructible), सारभूत (essences), पूर्ण (perfect), देश और काल से परे (beyond space and time), तथा बुद्धिग्राह्य (rationally cognisable) हैं। उन्हें परमार्थ कहा जाता है क्योंकि वे विश्व के मूल आधार अर्थात परमार्थ तत्त्व हैं। वे अपने-अपने वर्ग के सभी सदस्यों में सर्वदा विद्यमान रहते हैं, इसलिए सार्वभौम हैं। उन्हें विचार-स्वरूप कहने का मतलब हैं कि वे विचारों की तरह आध्यात्मिक और अभौतिक हैं। किन्तु विचार-स्वरूप होने से किसी विचारक पर निर्भर नहीं हैं। प्लेटो मानते हैं कि सामान्यों का अस्तित्व वस्तु-निष्ठ है, किसी अनुभव-कर्त्ता पर आश्रित नहीं है। इसलिए उन्हें वस्तु-निष्ठ प्रत्ययवाद का समर्थक हम मानते हैं। सामान्यों की एकात्मता स्वतः सिद्ध है क्योंकि वे पदार्थों की प्रकृति को व्यक्त करते हैं और एक वर्ग के पदार्थों की एक ही प्रकृति होती है। वे अपरिवर्तनशील हैं अर्थात भूत, वर्तमान, और भविष्य में एक समान रहते हैं। इसका मतलब है कि विशेष पदार्थों में परिवर्तन होता है किन्तु उनके सारतत्त्व ज्यों के त्यों रहते हैं। उसी तरह विशेषों का नाश होता है किन्तु सामान्यों का न ीं। विशेष मनुष्य जन्म लेते हैं और मरते हैं किन्तु मनुष्यत्व कभी मरता नहीं, वह अनश्वर है। सामान्यों को सारभूत माना जाता है क्योंकि पदार्थों के अंदर विद्यमान सारतत्त्व को वे व्यक्त करते हैं। वे अपने आप में पूर्ण होते हैं। 'अश्वत्व' पूर्ण अश्व (perfect

horse) का सूचक है। सामान्यों को पूर्णता बाहर से नहीं मिलती बल्कि उनके अस्तित्व के आवश्यक अंग के रूप में उनमें अंतर्निहित रहती है। वे देश में नहीं है क्योंकि देश में होने पर किसी विशेष स्थान में रहते और उनका प्रत्यक्ष (perception) हमें अवश्य होता किन्तु ऐसा नहीं होता है। अपरिवर्तनशील होने से वे काल में भी नहीं हैं क्योंकि काल का आवश्यक लक्षण परिवर्तन है। उनका ज्ञान आँख, कान आदि किसी इंद्रिय द्वारा नहीं बल्कि बौद्धिक चिंतन द्वारा होता है, इसलिए उन्हें प्लेटो बुद्धिग्राह्य मानते हैं।

प्लेटो के अनुसार प्रत्यय-जगत (Ideal world) ही तात्त्विक है, अनुभव-जगत उसकी प्रतिलिपि, छाया या चित्र मात्र है, और वह भी अपूर्ण चित्र। वे मानते हैं कि भूत (Matter) पर प्रत्ययों की छाप पड़ने से विश्व के विभिन्न पदार्थों की उत्पत्ति होती है। इसलिए प्रत्ययों के अतिरिक्त भूत को भी वे परमार्थ मान लेते हैं। प्रत्यय और भूत दोनों को स्वीकार करने के कारण कुछ लेखक प्लेटो को प्रत्ययवादी मानने से हिचकते हैं। हमने उन्हें प्रत्ययवाद का समर्थक माना है क्योंकि वे प्रत्ययों को ही अधिक गौरव और महत्त्व देते हैं और भूत को गौण तथा महत्त्वरहित मानते हैं। यह इसी से स्पष्ट है कि भूत को उन्होंने असत् (Non-Being) की संज्ञा दी है। इतना हम स्वीकार करते हैं कि द्वैतवाद की प्रवृत्ति उनमें है किन्तु उनकी रचनाओं से पता लगता है कि उनका अभीष्ट विश्व की प्रत्ययवादी व्याख्या प्रस्तुत करना ही है। यह तो उनकी दुर्बलता है कि कि भूत की सहायता लिए बिना सिर्फ प्रत्ययों के आधार पर उसकी व्याख्या वे नहीं कर सके हैं। इसलिए उनके दर्शन के लक्ष्य को देखते हुए उन्हें प्रत्ययवादी कहना हम गलत नहीं समझते। उनकी द्वैतवादी प्रवृत्ति पर हम 'द्वैतवाद' वाले अध्याय में प्रकाश डालेंगे।

हम देख चुके हैं कि आत्म-निष्ठ प्रत्ययवाद की कठिनाइयों से बचने के लिए आगे चलकर बर्कले भी वस्तु-निष्ठ प्रत्ययवाद का समर्थक बन जाते हैं। अब वे एक असीम चिरंतन और सार्वभौम आत्मा को परम तत्त्व मानते हैं और उसे ईश्वर या परमात्मा कहते हैं। यह मानते हुए कि विश्व के तथाकथित भौतिक पदार्थ प्रत्ययात्मक हैं उनका कहना है कि वे किसी ससीम आत्मा के नहीं बल्कि ईश्वर के प्रत्ययों के समूह हैं। अतः विश्व ईश्वर के अनुभव पर आश्रित है; अभी भी उसका अस्तित्व अनुभव का विषय बनने में है किन्तु ससीम आत्मा के नहीं बल्कि ईश्वर के। इसलिए हमारे न रहने पर भी संसार बना रहता है क्योंकि उसका अनुभव-कर्त्ता या आधार परमात्मा है जो सर्वत्र और सर्वदा विद्यमान रहता है। यही कारण है कि हमारी आँखें बंद हो जाने पर भी सामने का सर्प नष्ट नहीं होता क्योंकि उसे देखनेवाला ईश्वर है जिसकी आँखें कभी बंद नहीं होतीं। इस प्रकार ईश्वर की सहायता से बर्कले विश्व की वस्तु-निष्ठता की रक्षा करते हैं। ईश्वर और विश्व का संबंध ऐसा है कि विश्व ईश्वर पर आश्रित है इसलिए उसके बिना वह नहीं रह सकता है, किन्तु ईश्वर के लिए विश्व आवश्यक नहीं है, वह बिना विश्व के भी रह सकता है। इस तरह बर्कले का अंतिम निष्कर्ष है कि ईश्वर और उसके प्रत्यय परम तत्त्व हैं। ससीम आत्माएँ भी ईश्वर के अंश हैं, अतः उसी पर आश्रित हैं। ईश्वर को परमसत्ता मानने से ही उनका पूर्वकालीन आत्म-निष्ठ प्रत्ययवाद वस्तु-निष्ठ प्रत्ययवाद का रूप ले लेता है।* बर्कले के अतिरिक्त और भी कई वस्तु-निष्ठ प्रत्ययवादी हैं किन्तु उनके सिद्धान्तों का विवेचन हम यहाँ नहीं करेंगे।

---

* "Thus........subjective idealism moves forthwith into an objective idealism."—V. Firm, First Adventures in Philosophy, P. 455.

कांट (Immanuel Kant 1724–1804) के उत्तरकालीन दार्शनिकों ने वस्तु-निष्ठ प्रत्ययवाद का विकास नवीन दिशा में किया है। उसके इसी विकसित रूप का नाम निरपेक्ष प्रत्ययवाद (Absolute Idealism) है। निरपेक्ष प्रत्ययवाद परम तत्त्व को वस्तु-निष्ठ प्रत्ययवाद के साथ असीम और सार्वभौम मानते हुए निरपेक्ष (Absolute) घोषित करता है और उसकी निरपेक्षता पर सर्वाधिक गौरव देता है। इसकी एक सामान्य मान्यता है कि अनुभव-जगत का अस्तित्व परमतत्त्व के लिए आवश्यक है और परमतत्त्व का अनुभव-जगत के लिए। वस्तु-निष्ठ प्रत्ययवाद से यही इसका अंतर है। हमने देखा है कि वस्तुनिष्ठ प्रत्ययवादी बर्कले विश्व के लिए परमतत्त्व अर्थात ईश्वर को आवश्यक मानते हैं किन्तु ईश्वर के लिए विश्व को नहीं। निरपेक्ष प्रत्ययवाद का आरंभ जर्मन दार्शनिक फिक्टे (J.G. Fichte, 1765–1814) के दर्शन में होता है और चरम विकास हीगल (Hegel) तथा हीगल के दर्शन से प्रभावित आधुनिक प्रत्ययवादियों में।

(३) निरपेक्ष प्रत्ययवाद

हीगल (G.W.F. Hegel, 1770–1831) जर्मनी के प्रसिद्ध दार्शनिक हैं। वे मानते हैं कि परमतत्त्व बुद्धि (Reason) है जो एक, असीम, सार्वभौम तथा निरपेक्ष है। उसे वे निरपेक्ष प्रत्यय (Absolute Idea) भी कहते हैं। बुद्धि से भिन्न कोई अबौद्धिक तत्त्व वास्तविक नहीं है, वास्तविकता (reality) और बौद्धिकता (rationality) समानार्थक हैं। इसलिए वे कहते हैं कि जो बौद्धिक है वह वास्तविक है और जो वास्तविक है वह बौद्धिक। निरपेक्ष बुद्धि अमूर्त (abstract) या रिक्त (contentless) नहीं बल्कि धारणाओं (categories or concepts) की समष्टि है। ये धारणाएँ अवश्यंभावी रूप में परस्पर-संबद्ध हैं। पहली धारणा दूसरी

की ओर अवश्यमेव संकेत करती है, दूसरी तीसरी की ओर, तीसरी चौथी की ओर, इत्यादि। इस तरह अनेक धारणाओं की यह समष्टि उनके आवश्यक संबंधों से गठी हुई है। इसलिए हीगल बुद्धि को मूर्त इकाई (concrete unity) या अनेकता में एकता (unity in multiplicity) कहते हैं क्योंकि उसकी इकाई शुद्ध एक की इकाई नहीं बल्कि अनेक तत्त्वों के एक सूत्र में ग्रथित होने से उत्पन्न इकाई है। विश्व बुद्धि की अनिवार्य अभिव्यक्ति (manifestation) है, अतः बिना विश्व के रूप में अभिव्यक्त हुए वह नहीं रह सकती। इसलिए विश्व उसके लिए आवश्यक है और वह विश्व के लिए क्योंकि वही विश्व में प्रकाशित है। बुद्धि किसी विचारक या आत्मा की बुद्धि नहीं है बल्कि उसकी सत्ता स्वतंत्र है। वह सतत विकासशील है और उसका विकास द्वन्द्व-नियम (The Dialectical Method) के अनुसार होता है। इस नियम का मूल सिद्धांत है कि धारणाओं में अन्तर्विरोध (inner contradiction) रहता है, इसलिए एक धारणा अपने विरोधी को उत्पन्न करती है और तब दोनों का समन्वय तीसरी धारणा में होता है। तीसरी का भी विरोधी उसी से उत्पन्न होता है और तब फिर दोनों का समन्वय होता है। इस क्रम में पहली धारणा को **वाद** (Thesis) दूसरी (विरोधी) को **प्रतिवाद** (Anti-thesis), और समन्वय करनेवाली को **संवाद** (synthesis) कहते हैं। इस क्रम का अंत एक सर्वांगपूर्ण धारणा में होता है जो सर्वांगपूर्ण होने से बिलकुल विरोधरहित (free from contradiction) होती है और इसी लिए उससे उसका विरोधी उत्पन्न नहीं होता। इस अंतिम धारणा को हीगल **पूर्ण प्रत्यय** (the most perfect category) या पूर्ण चैतन्य (Absolute Spirit) कहते हैं। इसके अन्दर सभी धारणाएँ अपने-अपने अन्तर्विरोधों से मुक्त होकर समाविष्ट रहती हैं। द्वन्द्व-नियम का ऐसा प्रतिपादन सर्वप्रथम हीगल ने ही किया है।

हीगल से ही उसे लेकर मार्क्स ने उसके अनुसार विश्व की भौतिकवादी व्याख्या प्रस्तुत की है।

आधुनिक युग के प्रत्ययवादी हीगल से बहुत प्रभावित हुए हैं। इसलिए उनके प्रत्ययवाद को **नवीन हैगलीयवाद** (Neo-Hegelianism) कहते हैं। इन विचारकों में स्टर्लिंग (J.H. Stirling), ग्रीन (T.H. Green) बोसांक्वेट (B Bosanquet), ब्रैडले (F. H. Bradley), क्रोचे (B. Croce), जेंटिले (G. Gentile), आदि प्रमुख हैं। इन लोगों ने भिन्न-भिन्न रूप से निरपेक्ष प्रत्ययवाद का मंडन किया है।

भारतीय प्रत्ययवाद का आरंभ उपनिषदों में होता है और चरम विकास **शंकराचार्य** के वेदांत दर्शन में। शंकर के मत को अद्वैतवाद या अद्वैत वेदांत कहते हैं। वैदिक परंपरा से अलग रहने वाले दर्शनों में बौद्धों का **योगाचार** संप्रदाय भी प्रत्ययवाद का प्रतिपादन करता है। यों तो अन्य कई प्राचीन विचारकों में भी प्रत्ययवादी प्रवृत्तियाँ मिलती हैं किन्तु यहां हम योगाचार मत और अद्वैतवाद का ही विवेचन करेंगे क्योंकि वे सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण हैं।

भारतीय प्रत्ययवाद

योगाचार दर्शन बौद्ध दर्शन का एक संप्रदाय-विशेष है। प्रत्ययवादी होने से उसे **विज्ञानवाद** भी कहते हैं। वह मानता है कि केवल चित्त (Mind) परमार्थ तत्त्व है। चित्त से उसका आशय किसी अपरिवर्तनशील आत्मा से नहीं है। चित्त को वह विज्ञान-प्रवाह (stream of consciousness) या विभिन्न मानसिक अवस्थाओं का संघात (collection of mental states) मात्र मानता है। विज्ञान के अतिरिक्त भौतिक जगत, ईश्वर या स्थाई आत्मा को वह नहीं मानता। विज्ञान मात्र को वास्तविक मानने से भी उसकी संज्ञा विज्ञानवाद है। उसके

(१) योगाचार मत

अनुसार हमारा विज्ञान, संसार के विभिन्न व्यक्तियों का विज्ञान, ही परम तत्त्व है, कोई सार्वभौम आत्मा नहीं। इस विज्ञान के बाहर या इससे स्वतंत्र कोई पदार्थ नहीं है। इसलिए बाह्य जगत या भौतिक जगत का अस्तित्व नहीं है, जो मन के बाहर या भौतिक जान पड़ता है वह वस्तुतः मन के भीतर, मनोमय, है। जो मन का प्रत्यय है वही भ्रमवस मन के बाहरी पदार्थ की तरह दीख पड़ता है जिस तरह स्वप्न की वस्तुएँ मन के अंदर होने पर भी मन के बाहर मालूम पड़ती हैं। मन या विज्ञान के बाहर या उससे स्वतंत्र किसी पदार्थ को नहीं स्वीकार किया जा सकता क्योंकि मन से अलग या संबंधरहित करके किसी पदार्थ का ज्ञान हमें नहीं होता। इसलिए सब कुछ मन पर निर्भर, मन के प्रत्ययों का समूह मात्र है। यह मत बर्कले के आत्म-निष्ठ प्रत्ययवाद से काफी मिलता है, इसलिए इसे **भारतीय आत्म-निष्ठ प्रत्ययवाद** कहा जा सकता है। किन्तु बर्कले से इसका अंतर यह है कि बर्कले पहले स्थायी द्रव्य के रूप में ससीम आत्मा को और पीछे ईश्वर को मान लेते हैं किन्तु विज्ञानवाद केवल विज्ञान को मानता है और उसे स्थाई आत्मा नहीं बल्कि मनोदशाओं का संघात मात्र समझता है।

(२) अद्वैतवाद या शांकर मत

अद्वैतवाद परम तत्त्व को ब्रह्म की संज्ञा देता है। ब्रह्म सच्चिदानन्द (सत्+चित्+आनन्द, existence+consciousness+bliss) है। परम तत्त्व को चेतन मानने के कारण ही वह प्रत्ययवादी है। ब्रह्म को वह एक, अनन्त, निर्गुण (qualityless), निरपेक्ष तथा चिरंतन मानता है। वही एक मात्र सत्ता है, और उसकी इकाई शुद्ध इकाई (pure unity) है जिसके अन्दर किसी प्रकार की अनेकता नहीं है। शुद्ध इकाई होने से वह सम्बन्धशून्य (ierrelational) है क्योंकि सम्बन्ध के लिए कम से कम दो पदार्थ अपेक्षित हैं।

उसमें किसी भी गुण का आरोप नहीं किया जा सकता क्योंकि गुणों से विशिष्ट होने पर वह मर्यादित या सीमित (limited) हो जायगा और सीमित पदार्थ पारमार्थिक सत्ता का अधिकारी नहीं हो सकता। इसलिए उसे निर्गुण या निर्विशेष ही कहना उचित है। भूत, वर्तमान और भविष्य तीनों काल में उसकी सत्ता विद्यमान रहती है इसलिए वह चिरंतन या शाश्वत है। विश्व की सत्ता केवल व्यावहारिक (emprial i.e. real for practical purposes only) है, पारमार्थिक (ultimate) नहीं। वह देखने में सत्य लगता है और व्यावहारिक जीवन के लिए उसे सत्य माना भी जाता है किन्तु वस्तुतः वह सत्य है नहीं। सत्य न होने पर भी वह सत्य लगता है इसलिए उसे विवर्त्त (appearance) कहा जाता है। इस विवर्त्त का कारण अविद्या या माया (ignorance) है। जिस प्रकार अविद्या या अज्ञान के चलते अँधेरे में रस्सी सर्प-जैसी दीखती है उसी प्रकार ब्रह्म अविद्या के कारण विश्व के रूप में प्रतीत होता है। सर्प-भ्रम में वस्तुतः सर्प रहता नहीं है, किन्तु रस्सी का ज्ञान न रहने से हम उसे देखते हैं, हमारी अविद्या रस्सी पर सर्प का अध्यास (projection) करती है जिससे उसका प्रत्यक्ष होता है। इसी तरह ब्रह्म पर अविद्या विश्व का अध्यास करती है जिससे सत्य न होने पर भी उसकी प्रतीति होती है। ब्रह्म-ज्ञान होने पर विश्व का भ्रम मिट जाता है और सिर्फ ब्रह्म ही सत्य रह जाता है। ब्रह्म-ज्ञान अपरोक्षानुभूति में होता है। व्यक्तिगत आत्मा (individual self) अपने शुद्ध रूप में ब्रह्म से तत्त्वतः अभिन्न है, इसलिए ब्रह्म-ज्ञान और आत्म-ज्ञान एक ही है। इसमें ब्रह्म और आत्मा के अद्वैत का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है।

भारतीय विचारकों पर अद्वैतवाद का बड़ा गहरा प्रभाव पड़ा है। आधुनिक युग के अधिकांश विद्वान इससे प्रभावित हुए हैं।

उन लोगों ने अपने-अपने ढंग से प्रत्ययवाद का मंडन किया है। आधुनिक प्रत्ययवादियों में स्वामी विवेकानन्द, रवीन्द्र नाथ ठाकुर, कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य, सर्वपल्ली राधाकृष्णन, आदि प्रमुख हैं।

प्रत्ययवाद की समर्थक युक्तियाँ

प्रत्ययवाद विश्व को तत्त्वतः आध्यात्मिक और अभौतिक मानता है किन्तु भौतिक जगत अपने अस्तित्व का प्रमाण बार-बार हमारे अनुभव को देता रहता है। इस अनुभव को प्रत्ययवाद इनकार नहीं करता किन्तु उसका दावा है कि यों जो भौतिक लगता है वह अनुभव के सच्चे स्वरूप को समझने पर अभौतिक या आध्यात्मिक सिद्ध होता है। अपनी भिन्न-भिन्न युक्तियों द्वारा प्रत्ययवादियों ने यही प्रमाणित करने की चेष्टा की है और उनका निष्कर्ष है कि सब कुछ मूलतः आध्यात्मिक है। उनकी कुछ प्रसिद्ध युक्तियाँ यहाँ दी जातीं हैं।

(१) प्रत्ययवाद के लिए बर्कले का तर्क बड़ा प्रसिद्ध है। उनका तर्क उनकी ज्ञान-मीमांसा का निष्कर्ष है। वे अनुभववाद (Empiricism) के समर्थक हैं इसलिए ज्ञान की उत्पत्ति सिर्फ अनुभव से मानते हैं। इसका परिणाम है कि उसी को सत्य माना जा सकता है जो अनुभूत या अनुभवगम्य है। किन्तु, जैसा कि हम देख चुके हैं, अनुभव का विश्लेषण कर वे बतलाते हैं कि अनुभव गुणों का होता है और गुण मन के प्रत्यय हैं, इसलिए अनुभूत वस्तुओं का सत्य रूप प्रत्ययात्मक है। इस प्रकार सभी पदार्थों को वे प्रत्ययों का समूह सिद्ध करते हैं, अतः भूत नाम की कोई वास्तविक चीज नहीं है। भत को हम वास्तविक इसलिए मानते हैं कि हमारे अन्दर विश्वास है कि हमारे प्रत्यय भूत से उत्पन्न होते हैं। जैसे 'शक्कर' नाम का भौतिक पदार्थ शक्कर-विषयक-प्रत्ययों

को उत्पन्न करता है। बर्कले का कहना है कि यह विश्वास निराधार और मिथ्या है। पहले तो कभी भूत या भौतिक पदार्थ का अनुभव होता नहीं, अनुभव सिर्फ प्रत्ययों का होता है। इसलिये भूत की सत्यता स्वीकार करना प्रमाणसंगत नहीं है। दूसरे, यदि उसे सत्य मान भी लिया जाय तो वह अनुपयोगी (useless) सिद्ध होता है। कहा जाता है कि भौतिक पदार्थ है क्योंकि उससे प्रत्यय उत्पन्न होते हैं, किन्तु उससे प्रत्यय नहीं उत्पन्न हो सकते क्योंकि वे अभौतिक हैं, भौतिक से अभौतिक की उत्पत्ति कदापि संभव नहीं है। इसलिए जिस लाभ के लिए उसे माना जाता है वह लाभ उससे नहीं हो सकता। तीसरे, प्रत्ययों की उत्पत्ति आत्मा से ही हो सकती है क्योंकि वह आध्यात्मिक है। इसलिए विश्व के मूल में एक परम आत्मा या ईश्वर को मानना आवश्यक है क्योंकि कोई ससीम आत्मा इतने बड़े विशाल विश्व का कारण नहीं हो सकता। इस प्रकार विश्व की व्याख्या आध्यात्मिक सत्ता से ही हो सकती है। किन्तु जब आध्यात्मिक तत्त्व व्याख्या कर देता है तो उसके लिए भौतिक पदार्थ को स्वीकार करना अनावश्यक है। इन तर्कों द्वारा वर्कले भौतिकवाद और अनीश्वरवाद का मूलोच्छेद कर प्रत्ययवाद और ईश्वरवाद को प्रतिष्ठित करते हैं।

(२) कुछ प्रत्ययवादी ज्ञान की संभावना (possibility of knowledge) से विश्व की आध्यात्मिकता सिद्ध करते हैं। ज्ञान की वास्तविकता असंदिग्ध है, यह अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि ज्ञान की प्राप्ति हमें होती ह। ज्ञान विश्व का होता है इसलिए यह निश्चित है कि ज्ञात होने की क्षमता उसमें हें। यह क्षमता तभी हो सकती है जब की ज्ञान-प्रक्रिया से उसका स्वरूप विपरीत न हो। किन्तु ज्ञान निश्चय ही आध्यात्मिक है, इसलिये विश्व भी अवश्य ही आध्यात्मिक हो·ा अन्यथा उसका ज्ञान असंभव हो जायगा। विश्व के ज्ञात होने का अर्थ है कि वह ज्ञान के नियमों के अनुकूल

है, किन्तु वे नियम उसी पदार्थ पर लागू हो सकते हैं जो ज्ञान से विजातीय नहीं है। अतः ज्ञान की संभवनीयता की व्याख्या के लिए विश्व को ज्ञान का सजातीय, ज्ञान स्वरूप या आध्यात्मिक अवश्य ही मानना पड़ेगा। तर्क के लिए कोई कह सकता है कि विश्व को अज्ञेय मान लेने म क्या हानि है? वस्तुतः कुछ विचारक उसे अज्ञेय मानते भी हैं। उन्हें अज्ञेयवादी (Agnostic) कहते हैं। इसके विरुद्ध प्रत्ययवादियों का कहना है कि पहले तो विश्व अज्ञेय नहीं है क्योंकि अनुभव इसका प्रमाण है कि उसका ज्ञान प्राप्त होता है। दूसरे, 'अज्ञेय' की धारणा ही विरोधपूर्ण (contradictory) है। अज्ञेय वह है जिसके विषय में तनिक भी ज्ञान नहीं हो सकता है, अतः उसके विषय में हम कुछ भी नहीं कह सकते हैं। इसलिए यदि विश्व अज्ञेय है तो उसके विषय में कुछ कहा नहीं जा सकता, यह भी नहीं कि 'वह अज्ञेय है' क्योंकि उसका अर्थ होगा कि इतना मात्र ज्ञान है कि 'वह अज्ञेय है'। किन्तु तनिक भी ज्ञान होने पर अज्ञेयवाद खंडित हुए बिना नहीं रह सकता। अतः अज्ञेयवाद आत्म-घातक सिद्धांत हैं क्योंकि विश्व को अज्ञेय कह कर वह अपने आप को खंडित करता है। प्रत्ययवाद के लिए उपर्युक्त तरह का तर्क **हीगल और उनसे प्रभावित कुछ आधुनिक प्रत्ययवादियों** ने दिया है।

(३) **हीगल** ने विश्व की व्याख्येयता (explainability) के आधार पर भी प्रत्ययवाद की पुष्टि की है। दर्शन और विज्ञान यह मान कर चलते हैं कि विश्व की व्याख्या संभव है क्योंकि ऐसा नहीं मानने पर उनकी प्रगति नहीं हो सकती। किन्तु किसी वस्तु की व्याख्या का अर्थ उसे बोधगम्य बनाना होता है। वह बोधगम्य तब होती है जब उसका स्वरूप बुद्धि के नियमों के अनुकूल दीखता है। इसलिए विश्व को व्याख्येय मानने का अर्थ है कि वह बौद्धिक नियमों के अनुसार संचालित है किन्तु वैसा होने पर वह बौद्धिक अर्थात

आध्यात्मिक हो जायगा क्योंकि बौद्धिक नियम बौद्धिक पदार्थ का ही संचालन कर सकते हैं।

(४) ग्रीन (T. H. Green, 1836–1882) ने विश्व के व्यवस्थित रूप के आधार पर प्रत्ययवाद का मंडन किया है। वे कहते हैं कि विश्व एक समष्टि (system) है जिसमें अनेक पदार्थ परस्पर-संबद्ध होकर उसे एक इकाई बनाए हुए हैं। इस समष्टि की विशेषता है कि अनेक तत्त्वों को नष्ट किए बिना ही एकता स्थापित होती है। ऐसी एकता कैसे संभव है? ग्रीन कहते हैं कि अनुभव बताता है कि ऐसी विचित्र एकता स्थापित करनेवाला मन या आत्मा ही है। वही अनेक तत्त्वों के अस्तित्व को बिना मिटाए उन्हें एक सूत्र में पिरो सकता है। भौतिक पदार्थ अपने आप ऐसी व्यवस्था नहीं स्थापित कर सकते और भौतिक प्रणाली से स्थापित एकता में अनेकता मिट जाती है। इसलिए विश्व के मूल में मन या आत्मा को ही मानना पड़ेगा क्योंकि अन्यथा उसके व्यवस्थित रूप की व्याख्या नहीं हो सकती। यह आत्मा अवश्य ही असीम और सार्वभौम होगा क्योंकि विश्व अनन्त पदार्थों की समष्टि है जिसका निर्माण किसी ससीम आत्मा से संभव नहीं है।

(५) **प्रयोजनवादी विचारक** (upholders of the teleological view) विश्व में व्याप्त नियमवर्तिता (order) और सामंजस्य के आधार पर प्रत्ययवाद को प्रमाणित करते हैं। वे कहते हैं कि संसार में नियमों का अखंड साम्राज्य है—सभी घटनाएँ विशेष क्रम से होती हैं। विश्व के इस समंजस रूप की व्याख्या तभी हो सकती है जब उसके मूल में बुद्धि या चेतन तत्त्व को स्वीकार किया जाय क्योंकि अनुभव यही बताता है कि बिना बुद्धि के पथ-प्रदर्शन के ऐसी व्यवस्थित रचना नहीं हो सकती।

(६) भारतीय प्रत्ययवादी **शंकराचार्य** ने भी बड़े ही मौलिक तरीके से मूल तत्त्व को चेतन प्रमाणित किया है। वे कहते हैं कि वही पदार्थ मूल तत्त्व कहा जा सकता है जो त्रिकाल-सत्य (real for all times और सर्वान्तर्यामी (present in all things) है। त्रिकाल-सत्य उसे कहते हैं जिसकी सत्ता भूत, वर्तमान, और भविष्य तीनों काल में अक्षुण्ण रहती है अर्थात जो चिरंतन है। सर्वान्तर्यामी का अर्थ सार्वभौम अर्थात सभी पदार्थों के अंदर विद्यमान होना है। संसार के पदार्थों की परीक्षा करने पर पता चलता है कि कोई भी विशेष पदार्थ (particular object) जैसे जल, मिट्टी, आदि इन लक्षणों से युक्त नहीं है, इसलिए उनमें से किसी को परमार्थ तत्त्व नहीं कहा जा सकता। किन्तु शुद्ध सत्ता (Pure Existence) दोनों लक्षणों से युक्त है—शुद्ध सत्ता से तात्पर्य किसी विशिष्ट पदार्थ की सत्ता से नहीं बल्कि सत्ता मात्र (Existence as such) से है। वह सभी पदार्थों में है, अतः सार्वभौम है, और उसका विनाश भी असंभव है। उसके अभाव का अनुभव कभी नहीं होता और न उसकी कल्पना ही की जा सकती है। यदि उसके अभाव की कल्पना की जाय तो उससे उस कल्पना की सत्ता तो प्रमाणित होती है, अतः सत्ता मात्र का अभाव अचिंतनीय है। इसलिए शुद्ध सत्ता परमार्थ तत्त्व है। वह चेतन है। हम अपने मन की वृत्तियों (mental states) को चेतन मानते हैं। उनका लक्षण **स्वयंप्रकाश्यता** अर्थात अपने को प्रकाशित या व्यक्त करने की शक्ति (the power of self-expression) है; जब कोई मनोदशा विद्यमान रहती है तो वह अपने को व्यक्त कर देती है। किन्तु यह शक्ति सभी पदार्थों में है। जो सत्तावान (existent) है वह अपने को प्रकट करता ही है। वस्तुतः यही सत्तावान और सत्ताशून्य का अंतर है—जो सत्तारहित है, जैसे वंध्या-पुत्र (a barren woman's

son), वह अपने को प्रकट नहीं कर सकता। इसलिए विश्व का सर्वव्यापी तत्त्व शुद्ध सत्ता है जो चेतन है क्योंकि सभी पदार्थों में सत्ता और चैतन्य विद्यमान हैं। अतः मूल तत्त्व चेतन है।

प्रत्ययवाद का मूल्यांकन

प्रत्ययवाद मूल तत्त्व के प्रकृति-विषयक प्रश्न का एक विशिष्ट उत्तर है जिसके अनुसार वह पूर्णतः आध्यात्मिक है। यहां हमें यही देखना है कि विश्व को सर्वांशतः आध्यात्मिक सिद्ध करने में उसे कहां तक सफलता मिलती है।

(१) प्रत्ययवाद के विभिन्न रूपों में आत्म-निष्ठ प्रत्ययवाद अधिक कड़ी आलोचना का विषय रहा है, यहां तक कि कितने प्रत्ययवादियों ने भी उसकी धज्जियाँ उड़ाई हैं। भारतीय दर्शन में शंकराचार्य की आलोचना प्रसिद्ध है और आधुनिक युग में पश्चिमी वस्तुवादियों की। बौद्ध विज्ञानवादियों के विरुद्ध शंकर कहते हैं कि (क) वाह्य जगत का हमें प्रत्यक्ष ज्ञान (perceptual knowledge) होता है, इसलिए उसकी सत्ता को इनकार नहीं किया जा सकता। प्रत्यक्ष जगत को इनकार करना वैसा ही है जैसे कोई जीभ पर अन्न रखकर उसके स्वाद को (जो प्रत्यक्ष अनुभव का विषय है) अस्वीकार करे। (ख) फिर, यदि प्रत्यक्ष को अस्वीकार किया जा सकता है तो मनोदशाओं को भी सत्य नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उनका भी तो प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। (ग) और, यदि वहिर्जगत को नहीं स्वीकार करते हैं तो यह कहना कि "मन के प्रत्यय बाहरी पदार्थों की तरह दीखते हैं," निरर्थक हो जाता है। 'बाहरी पदार्थों की तरह' वाक्यांश अर्थहीन है जब कि बाहरी पदार्थ की सत्ता ही नहीं है। यह वैसा ही लगता है, जैसे कोई कहे कि अमुक व्यक्ति बन्ध्या-पुत्र की तरह है। इस प्रकार के कई और

तर्कों द्वारा शंकर बतलाते हैं कि विश्व को मनोमय या मन के प्रत्ययों का समूह नहीं माना जा सकताा। ये तर्क बर्कले के आत्म-निष्ठ प्रत्ययवाद के विषय में भी लागू हो सकते हैं।

(२) प्रत्ययवाद मात्र की मुख्य समस्या भौतिक जगत की व्याख्या है। यदि मूल तत्त्व चेतन है तो यह अचेतन भौतिक जगत कहां से आ गया? इस समस्या को प्रत्ययवादियों ने भौतिक जगत को वस्तुतः आध्यात्मिक सिद्धकर सुलझाने का प्रयत्न किया है। बर्कले ने कहा है कि भौतिक पदार्थ मूलतः भौतिक नहीं बल्कि प्रत्ययों का समूह है। इसके विरुद्ध हमारा कहना है कि बर्कले भूत की व्याख्या नहीं करते, अर्थात यह नहीं बताते कि भौतिक द्रव्य क्यों और कैसे उत्पन्न होते हैं; वे सिर्फ भूत का दूसरा नाम रख देते हैं जब कि उसे भूत नहीं बल्कि प्रत्ययों का समूह करार करते हैं। रूप, रस, गंध, स्पर्श आदि के अनुभव को तो वे मानते ही हैं, सिर्फ उन्हें प्रत्ययात्मक (ideal) कहते हैं जब कि साधारण आदमी उन्हें भौतिक समझता है। प्रत्ययों की उत्पत्ति का कारण वे ईश्वर को मानते हैं, किन्तु बर्कले जैसे अनुभववादी के लिए ईश्वर और स्थायी आत्मा--जिनका कभी अनुभव नहीं होता है--को मानना न्यायोचित नहीं है। यदि भौतिक द्रव्य को अनुभूत न होने से असत्य कहा जा सकता है तो ईश्वर और स्थायी आत्मा को भी क्यों नहीं असत्य कहा जाय?

(३) हीगल और उनके अनुयायी ज्ञान की संभावना से विश्व को ज्ञान-स्वरूप अर्थात आध्यात्मिक सिद्ध करते हैं। किन्तु फिर प्रश्न रह ही जाता है कि यदि वह आध्यात्मिक है तो भौतिक क्यों लगता है? इस प्रश्न का कोई संतोषजनक उत्तर हीगल आदि ने नहीं दिया है। भौतिक जगत का अनुभव हमें निस्संदेह होता है। हम जानते हैं कि भौतिक पदार्थों की विशेषता विस्तार (extension)

है और चैतन्य विस्तारशून्य होता है। इसलिए यदि विश्व के मूल में चैतन्य है तो उससे भौतिक पदार्थों की उत्पत्ति असंभव-सी लगती है, क्योंकि विस्तारशून्य से विस्तारपूर्ण की उत्पत्ति चिन्तनीय नहीं है। लाईबनीज (G. W. Leibniz), जो एक प्रमुख प्रत्ययवादी हैं, कहते हैं कि वस्तुओं का विस्तार यथार्थ नहीं बल्कि अस्पष्ट ज्ञान (confused perception) का परिणाम है। ऐसा कहकर वे समझते हैं कि विस्तार की व्याख्या हो गयी किन्तु उनका सुझाव सिर्फ दलील भर मालूम पड़ता है। क्या विश्व के सभी मनुष्यों का ज्ञान अस्पष्ट है कि विस्तार सत्य दीखता है?

(४) ग्रीन कहते हैं कि विश्व के व्यवस्थित रूप के लिए एक परम आत्मा आवश्यक है। इससे तो यही प्रमाणित होता है कि एक परम आत्मा है और अनेक पदार्थ हैं जिनको वह एक विशेष क्रम से संबंधित करता है, अर्थात आत्मा ही एक मात्र सत्ता नहीं है। किन्तु इस निष्कर्ष से प्रत्ययवाद की स्थापना नहीं होती, क्योंकि वह आत्मा को एकमात्र सत्ता मानता है। (५) प्रयोजनवादियों के तर्क के विषय में भी हमें यही कहना है कि उससे आत्मा की ऐकांतिक सत्ता (exclusive reality) सिद्ध नहीं होती। पहले तो यही विवादास्पद है कि विश्व में सामंजस्य है या नहीं। किन्तु यदि मान भी लिया जाय कि सामंजस्य है और उसके लिए बुद्धि आवश्यक है तो इससे यही सिद्ध होता है कि बुद्धि विश्व के लिए आवश्यक है, यह नहीं कि वही एकमात्र सत्ता है। अपने से भिन्न तत्त्वों से विश्व की रचना करके भी बुद्धि सामंजस्य स्थापित कर सकती है, किन्तु बुद्धि के अतिरिक्त भिन्न पदार्थों को वास्तविक मानते ही प्रत्ययवाद की जड़ कट जाती है।

प्रत्ययवाद की उपर्युक्त समीक्षा के आधार पर हम कह सकते हैं कि चेतन मात्र को परमार्थ मानकर भौतिक जगत की व्याख्या नहीं हो सकती। वस्तुतः चेतन से अचेतन का आविर्भाव उतना ही

कठिन है जितना कि अचेतन से चेतन का। चेतन मात्र को सत्य मानने पर भौतिक जगत को असत्य ही मानना पड़ेगा अन्यथा उसकी व्याख्या नहीं हो सकती। पश्चिमी प्रत्ययवादियों ने इस तथ्य को पूरी तरह महसूस नहीं किया है, इसलिये चेतन से अचेतन की व्याख्या का विफल प्रयत्न वे करते हैं। भारतीय प्रत्ययवादी शंकर इस तथ्य को अच्छी तरह समझते हैं जिसके फलस्वरूप विश्व की उनकी व्याख्या सर्वश्रेष्ठ होती है और उनका प्रत्ययवाद सर्वोत्तम सिद्ध होता है। वे कहते हैं कि जब परम तत्त्व शुद्ध चैतन्य, एक, चिरंतन और अनन्त है तो भौतिक जगत परमार्थ नहीं हो सकता, क्योंकि वह अनेकात्मक, परिवर्तनशील और सीमित है। अतः विश्व वस्तुतः सत्य नहीं है बल्कि प्रतीति मात्र है। इसलिए शंकर के सामने यह प्रश्न नहीं है कि विश्व की वास्तविक उत्पत्ति कैसे होती है क्योंकि वह वास्तविक है ही नहीं। उनके लिए प्रश्न है कि विश्व की प्रतीति (appearance) क्यों होती है, क्यों वह वास्तविक लगता है जबकि वास्तविक नहीं है? इसके उत्तर में शंकर का कहना है कि यह प्रतीति अज्ञान के कारण है और अज्ञान के नष्ट होने पर यह भी नष्ट हो जाती है। जिस तरह सत्य ज्ञान होने पर भ्रम में अनुभूत सर्प नष्ट हो जाता है, उसी तरह ब्रह्म ज्ञान होने पर विश्व का भ्रम नष्ट हो जाता है और सिर्फ ब्रह्म ही वास्तविक दीख पड़ता है।

इस प्रकार अपने मुल्यांकन के निष्कर्ष के रूप में हम कह सकते हैं कि शंकर का अद्वैतवाद प्रत्ययवादी आधार पर विश्व की समुचित व्याख्या कर प्रत्ययवाद का सर्वोत्कृष्ट नमूना प्रस्तुत करता है। इसलिए खास-खास प्रत्ययवादों की असफलता से प्रत्ययवाद की असफलता नहीं घोषित की जा सकती क्योंकि शंकर के प्रत्ययवाद में विश्व की व्याख्या, जो दर्शन का उद्देश्य है, पूरी हो जाती है।

छठवाँ अध्याय

(३) द्वैतवाद

द्वैतवाद की सामान्य विशेषताएँ

द्वैतवाद (Dualism) मूल तत्त्व की प्रकृति में (duality) मानता है। उसके अनुसार विश्व का मूल तत्त्व एक प्रकार का नहीं है बल्कि उसमें स्वाभाविक (natural) या गुणात्मक (qualitative) द्वैत है। भौतिकवाद, प्रत्ययवाद और अनुभयवाद मानते हैं कि मूल तत्त्व की प्रकृति एकात्मक है। भौतिकवाद के लिए वह सिर्फ भौतिक, प्रत्ययवाद के लिए सिर्फ आध्यात्मिक और अनुभयवाद के लिए सिर्फ अनुभय है। इसलिए इन सिद्धांतों से द्वैतवाद का प्रत्यक्ष विरोध होता है। द्वैतवाद का कहना है कि मूल तत्त्व को किसी एक तरह का मानना गलत है क्योंकि उसकी प्रकृति में मौलिक द्वैत है। उसका दावा है कि उपर्युक्त तीनों सिद्धांत उसे एकधर्मी मानते हैं इसीलिए विश्व की व्याख्या में असफल होते हैं। उनकी असफलता का लाभ उठाकर द्वैतवाद मूल तत्त्व की गुणात्मक एकता को अस्वीकार करता है और द्वैत को सत्य मानता है। इस द्वैत को वह अमिट और परमार्थ मानता है, अर्थात द्वैत ऐसा है कि कभी उसका परिहार नहीं हो सकता। मूल तत्त्व की प्रकृति में दो भिन्न धर्म या भिन्न प्रकार के तत्त्व हैं जो ऐसे हैं कि एक का दूसरे में अंतर्भाव असम्भव है। अतः द्वैत शाश्वत है। विश्व के पदार्थों में जितनी भिन्नताएँ या विरोध हैं वे इसी आधारिक द्वैत के कारण हैं।

तत्त्वशास्त्रीय सिद्धांतों में हमने द्वैतवाद की चर्चा दो जगह की है, क्योंकि मूल तत्त्व की प्रकृति और संख्या दोनों के विषय में द्वैतवाद का समर्थन किया जा सकता है। किन्तु जो विचारक उसे संख्या में दो मानते हैं वे प्राकृतिक द्वैत को भी स्वीकार करते हैं जिससे संख्यात्मक द्वैतवाद (Numerical dualism) प्रकृति-विषयक-द्वैतवाद के अन्तर्गत चला आता है। इसलिए द्वैतवाद का विवेचन हम प्रकृति-विषयक सिद्धांतों के साथ कर रहे हैं और संख्यात्मक द्वैतवाद का विवेचन भी अलग न करके उसी के अन्दर करेंगे क्योंकि वह भी उसी का एक भेद मात्र है।

द्वैतवाद के विभिन्न रूप

व्यापक दृष्टि से देखने पर सर्वप्रथम द्वैतवाद के दो भेद किए जा सकते हैं जिन्हें हम **अदार्शनिक द्वैतवाद** (Unphilosophical or Popular Dualism) और **दार्शनिक द्वैतवाद** (Philosophical Dualism) कहेंगे।

(१) अदार्शनिक द्वैतवाद

अदार्शनिक द्वैतवाद से हमारा तात्पर्य उस द्वैतवादी सिद्धांत से है जिसे साधारण जनता किसी बौद्धिक छान-बीन के बिना ही स्वीकार किये चलती है। आम जनता में द्वैतवाद अत्यन्त ही लोकप्रिय है क्योंकि उसकी सत्यता अत्यन्त स्पष्ट और स्वाभाविक मालूम पड़ती है। भौतिकवाद, प्रत्ययवाद या अनुभयवाद किसी को स्वीकार करना एक साधारण आदमी के लिए सहज नहीं है क्योंकि उनका आधार साधारण अनुभव नहीं बल्कि सूक्ष्म बौद्धिक विश्लेषण है जो उसके लिए सम्भव नहीं है। किन्तु मनुष्य को संसार में विद्यमान द्वैत का अनुभव सदा होता रहता है। जड़-चेतन, निर्जीव-सजीव, सुख-दुःख, शुभ अशुभ, आदि ऐसे विरोधियों के जोड़े हैं जो जाने-अनजाने हर घड़ी अपने अस्तित्व

की सूचना देते रहते हैं। अपने इस अनुभव के आधार पर वह बरबस विश्व के मूल में दो ऐसे विरोधी पदार्थों की कल्पना करने लगता है जिनके द्वैत का परिहार नहीं हो सकता तथा जो विश्व के सभी द्वैतों और विरोधों का उद्गम हैं। अपने उस निष्कर्ष के लिए वह कोई तीव्र बौद्धिक चिंतन नहीं करता, उसके लिए यौक्तिक आधार ढूँढ़ने की चेष्टा भी नहीं करता, न उससे भिन्न सिद्धांतों की असत्यता प्रमाणित करने का ही प्रयत्न करता है। अपने अनुभव का विश्लेषण कर उसकी तह में वह नहीं पैठता, बल्कि ऊपरी सतह को ही देखता है और उसी को सब कुछ मान कर अपना निष्कर्ष निकाल लेता है। चूँकि इस द्वैतवाद का मंडन तर्क और बौद्धिक चिंतन का परिणाम नहीं होता, इसे हमने अदार्शनिक द्वैतवाद की संज्ञा दी है। इसके समर्थक किसी भी देश के साधारण लोगों में मिल सकते हैं। इसकी रूप-रेखा अत्यन्त ही अस्पष्ट रहती है क्योंकि इसका शिलान्यास सजग बौद्धिक चिंतन के आधार पर नहीं होता।

(२) दार्शनिक द्वैतवाद

दार्शनिक द्वैतवाद (Philosophical Dualism) तर्क और युक्ति के आधार पर स्थापित द्वैतवाद है। यद्यपि उसका भी निष्कर्ष अदार्शनिक द्वैतवाद के समान ही है क्योंकि वह भी विश्व के मूल में द्वैत स्वीकार करता है, किंतु अपने निष्कर्ष की स्थापना के लिए वह बौद्धिक चिंतन का सहारा लेता है, अनुभव का विश्लेषण कर उसका वास्तविक अर्थ समझने की चेष्टा करता है तथा अन्य सिद्धांतों को अग्राह्य सिद्ध करता है। मूल सत्ता का ठीक रूप क्या है, उसके अन्दर विद्यमान द्वैत किस प्रकार का है, तथा विश्व की सृष्टि कैसे और क्यों होती है, आदि प्रश्नों को अदार्शनिक द्वैतवाद न तो ठीक-ठीक समझता है, न उनके उचित समाधान के लिए व्यग्र ही रहता है। किन्तु दार्शनिक द्वैतवाद इन

तथा ऐसे ही कई अन्य प्रश्नों की ओर सजग र ा है और यथा-शक्ति उन्हें सुलझाने का प्रयत्न करता है। यही कारण है कि दार्शनिक द्वैतवाद में ही द्वैतवाद की रूप-रेखा साफ-साफ व्यक्त होती है। इसलिए इसीका अध्ययन और मूल्यांकन हम बौद्धिक स्तर पर कर सकते हैं।

दार्शनिक द्वैतवाद के विभिन्न भेद किये जा सकते हैं। इसका कारण है कि सभी द्वैतवादियों का एक मत नहीं है। इस बात को

दार्शनिक द्वैतवाद के विभिन्न भेद

तो सभी स्वीकार करते हैं कि मूल तत्त्व में द्वैत है किन्तु इस द्वैत के स्वरूप (nature) तथा उससे सम्बन्धित कई अन्य महत्त्वपूर्ण विषयों के सम्बन्ध में उनका अलग-अलग मत है। चूँकि द्वैत-वाद के लिए सबसे महत्त्वपूर्ण **द्वैत का स्वरूप** स्थिर करना ही है इसलिए इस विषय में प्रतिपादित भिन्न-भिन्न सिद्धांतों के आधार पर द्वैतवादी दर्शनों का वर्गीकरण हम करेंगे।

सभी द्वैतवादी दर्शन इस विषय में सहमत हैं कि मूल सत्ता की **प्रकृति** (nature) में द्वैत है। किन्तु इसे स्वीकार करने पर यह बतलाना आवश्यक होता है कि मूल सत्ता की **संख्या** क्या है। इस विषय में तीन मुख्य सिद्धांत हैं जिनके आधार पर द्वैतवाद के तीन रूप हो जाते हैं। (१) एक सिद्धांत उनका है जो मानते हैं कि मूल सत्ता की प्रकृति में द्वैत है किन्तु उसकी संख्या एक (duality in nature but unity in number) ही है। (२) दूसरा मत उनका है जो प्रकृति और संख्या दोनों में द्वैत (duality in both, nature and number) स्वीकार करते हैं। (३) तीसरा मत उन विचारकों का है जिनके अनुसार मूल सत्ता की प्रकृति में द्वैत है किन्तु उसकी संख्या अनेक (duality in nature but plurality in number) है।

(१) पहले प्रकार के द्वैतवाद का बड़ा ही स्पष्ट उदाहरण भारतीय दार्शनिक **रामानुजाचार्य** के दर्शन में मिलता है। यूरोपीय दर्शन में इस मत का स्पष्ट या असंदिग्ध उदाहरण हम नहीं पाते हैं। रामानुज के अनुसार विश्व का मूल आधार ईश्वर या ब्रह्म है जिसकी संख्या एक है किन्तु प्रकृति द्वैतपूर्ण अर्थात जड़ात्मक और चिदात्मक है। ब्रह्म के अन्दर चित् और अचित् दो अंश हैं जिनमें पहल चेतन और दूसरा जड़ है। अतः रामानुज संख्यात्मक एकवाद (Numerical Monism) तथा गुणात्मक द्वैतवाद (Qualitative Dualism) के प्रतिपादक हैं। उनका दर्शन विशिष्टाद्वैत कहलाता है क्योंकि वे परम सत्ता अर्थात ब्रह्म को चित् (Spirit) तथा अचित् (Matter) से विशिष्ट या युक्त मानते हैं। अतः उनके अनुसार ब्रह्म निरवयव (partless) नहीं है। उसके अंदर द्वैत है इसलिए वह भेदरहित (without difference) भी नहीं कहा जा सकता। भेद तीन प्रकार के होते हैं: (१) विजातीय भेद जैसे, गाय और घोड़े का भेद, (२) सजातीय भेद, जैसे, एक घोड़े का दूसरे घोड़े से भेद, (३) स्वगत भेद, जो एक ही पदार्थ के भिन्न-भिन्न हिस्सों में रहता है जैसे एक ही मनुष्य के सिर और पैर का भेद। ब्रह्म पहले दो प्रकार के भेदों से रहित है, क्योंकि उससे अलग उसका विजातीय या सजातीय कोई पदार्थ सत्य नहीं है। किंतु उसमें स्वगत भेद विद्यमान है क्योंकि चित् और अचित् उसके दो ऐसे अवयव हैं जिनमें तात्त्विक या स्वाभाविक भेद है। चित् अचित् स पूर्णतः भिन्न है। विश्व की सृष्टि, उसका अस्तित्व, विकास तथा विनाश, सभी ब्रह्म पर निर्भर हैं। उसके चित् अंश से चेतन पदार्थों की तथा अचित् से भौतिक पदार्थों की उत्पत्ति होती है। प्रलय होने पर विशिष्ट चेतन और अचेतन पदार्थों का

नाश हो जाता है किन्तु उनके आधार तत्त्व, चित् और अचित्, नष्ट नहीं होते बल्कि ब्रह्म में अव्यक्त या बीज रूप में विद्यमान रहते हैं। ऐसे ब्रह्म को "कारण ब्रह्म" कहते हैं। सृष्टि होने पर चेतन और अचेतन पदार्थों में ब्रह्म अपने को व्यक्त करता है। ऐसे ब्रह्म को "कार्य ब्रह्म" कहते हैं।

(२) दूसरे प्रकार के द्वैतवाद का प्रतिपादन प्राचीन यूनान के दो विचारकों, **प्लेटो** और **एरिस्टाटल** के दर्शनों में हम पाते हैं। भारतीय दर्शन में उसका असंदिग्ध रूप नहीं मिलता है। पाँचवें अध्याय में हम देख चुके हैं कि प्लेटो शुद्ध प्रत्ययवाद की स्थापना में सफल नहीं होते हैं क्योंकि प्रत्ययों के अतिरिक्त भूत को भी वे परमार्थ मान लेते हैं। इसलिए उनका दर्शन वस्तुतः द्वैतवाद बन जाता है। अतः उनके अनुसार दो पदार्थ परमार्थ तत्त्व हो जाते हैं, पहला है शुभ प्रत्यय (The Idea of the Good) और दूसरा है भूत (Matter)। वे मानते जरूर हैं कि सामान्य प्रत्ययों (Ideas) की संख्या अनंत है और सभी सत्य हैं किन्तु सबको स्वतंत्र सत्ता प्राप्त नहीं है। पूर्णतः स्वतंत्र सत्ता सिर्फ शुभ प्रत्यय की है जो सर्वोत्कृष्ट, सर्वव्यापक, तथा अन्य प्रत्ययों का आधार है।* इसलिए हम कहेंगे कि मूल सत्ता के चेतन पक्ष में परमार्थ तत्त्व एक सार्वभौम प्रत्यय अर्थात शुभ प्रत्यय है। इसे उन्होंने ईश्वर भी कहा है। शुभ प्रत्यय के अतिरिक्त एक और पदार्थ परमार्थ है और वह भूत (Matter) है। भूत निर्गुण (quality-

---

*"The supreme Idea, he tells us, is the Good. This, as being the ultimate reality, is the ground of all other Ideas."—W. T. Stace, A Critical History of Greek Philosophy, P. 200.

less) तथा अरूप (formless) है। [मिट्टी या पत्थर आदि की तरह वह कोई विशेष भौतिक द्रव्य नहीं बल्कि सभी भौतिक पदार्थों का आधारस्वरूप सामान्य भूत अर्थात भूत मात्र (Matter as such) है। उसकी सत्ता शुभ-प्रत्यय या किसी अन्य पदार्थ पर आश्रित नहीं है, बल्कि शुभ प्रत्यय का वह ठीक उलटा है। शुभ प्रत्यय विचार-स्वरूप है किन्तु भूत अचेतन या जड़ है। एक अमिश्रित शुभ (pure goodness) और अक्षुण्ण पूर्णता (eternal perfection) का द्योतक है जब कि दूसरा अशुभ और अपूर्णता का। एक विश्व को शुभ बनाना चाहता है तो दूसरा उसमें अशुभ की अवतारणा करता है। इसी भूत पर विभिन्न प्रत्ययों की छाप पड़ने से विश्व के विभिन्न पदार्थों की उत्पत्ति होती है। यही विश्व-विन्यास की प्रक्रिया है। भूत उपादान है जिसपर विभिन्न प्रत्ययों के अंकित होने से विभिन्न पदार्थ बनते हैं। अंकित करने वाला शुभ प्रत्यय है अर्थात वह निमित्तकारण (efficient cause) है और भूत उपादान कारण (material cause) है। इस प्रकार प्रत्यय और भूत अर्थात चेतन और जड़ दोनों को प्लेटो विश्व का मूल आधार स्वीकार करते हैं जिससे उनका तत्त्व-शास्त्रीय सिद्धांत स्पष्टतः द्वैतवाद बन जाता है।* जब उन्हें हमने प्रत्ययवाद का समर्थक कहा है तो उनके दर्शन के आदर्श को देखकर, उसके वास्तविक रूप को नहीं। वस्तुतः वे द्वैतवादी हैं क्योंकि प्रत्यय और भूत दोनों को सत्य मानते हैं, किन्तु उनका आदर्श प्रत्ययवाद है, जिसका प्रमाण है कि प्रत्ययों को वे अधिक

---

*"The Idea and Matter stand face to face in Plato's system, neither derived from the other, equally ultimate, co-ordinate absolute realities. This is sheer dualism"—W. T. Stace, वही, पेज—२३१।

गौरव देते हैं। किन्तु प्रत्ययवाद की स्थापना न कर उनका दर्शन द्वैतवाद का रूप ले लेता है।

एरिस्टाटल (Aristotle) भी तत्त्वशास्त्रीय द्वैतवाद के प्रतिपादक हैं। उनका मत है कि विश्व के मूल आधार मूल स्वरूप (form) तथा जड़ या भूत (Matter) हैं। इन्हीं दोनों के संयोग से विभिन्न पदार्थों की उत्पत्ति होती है। जड़ उपादान कारण है, किंतु मूल स्वरूप के अंतर्गत निमित्त (Efficient), आकारिक (Formal), तथा प्रयोजन (Final), तीन कारण सन्निहित हैं। अतएव कुल मिलाकर चार कारण होते हैं और किसी भी कार्य की उत्पत्ति के लिए चारों अनिवार्य हैं। इनमें तीन मूल स्वरूप के अंतर्गत चले आते हैं, केवल उपादान कारण ही सदा स्वतंत्र सत्ता बनाए रहता है। इसलिए अंततः मूल स्वरूप (Form) और जड़ उपादान (Matter) यही दो मूल कारण सिद्ध होते हैं। फिर भी चारों की पृथक व्याख्या आवश्यक है। इस व्याख्या को सुबोध करने के लिए हम एक साधारण-सा उदाहरण ले लेंगे, जैसे मिट्टी के घड़े का निर्माण। एरिस्टाटल के अनुसार सभी वस्तुओं के चार कारण होते हैं और चारों एक साथ समानतः आवश्यक हैं। वर्तमान उदाहरण में मिट्टी **उपादान कारण** है क्योंकि मिट्टी से ही घड़ा बनता है। **निमित्त कारण** से एरिस्टाटल का आशय प्रेरक कारण (the cause of motion) है। यही उपादान को कार्य के रूप में परिवर्तित करता है। घट-निर्माण में कुम्हार निमित्त कारण है। तीसरा कारण **मूल स्वरूप** कारण (Formal cause) कहलाता है। मूल स्वरूप उत्पन्न होनेवाली वस्तु के स्वरूप की धारणा (concept) या उसके प्रत्यय (idea) को कहते हैं। कुम्हार के मन में घड़ा बनाने के पहले उसके स्वरूप की धारणा विद्यमान रहती है, जिसे वह मिट्टी पर उतारता है।

यही धारणा घड़े का **मूल स्वरूप** कारण है। चौथा कारण **प्रयोजन** कारण (Final cause) कहलाता है। प्रयोजन कारण कार्य-सम्पादन के उद्देश्य को कहते हैं। घड़ा बनाते समय जो कुम्हार का उद्देश्य था वही उसका प्रयोजन कारण है। इन चार कारणों की परीक्षा करने पर उपादान और मूल स्वरूप दो ही पारमार्थिक सिद्ध होते हैं। जब हम प्रयोजन को लेते हैं तो देखते हैं कि वह मूल स्वरूप से अभिन्न है क्योंकि प्रयोजन उद्देश्य को कहते हैं और उद्देश्य मूल स्वरूप की वास्तविक अवतारणा ही है। कुम्हार का उद्देश्य अपने मन में विद्यमान घट के स्वरूप को वास्तविक करना ही है। अतः मूल स्वरूप ही प्रयोजन कारण भी है। किंतु प्रयोजन कारण ही निमित्त कारण है। निमित्त कारण गति या परिवर्तन का कारण है जो उपादन को कार्य के रूप में रूपांतरित करता है। यहां पर एरिस्टाटल मानते हैं कि कार्य-संपादन का उद्देश्य ही निमित्त कारण है क्योंकि सभी क्रियायों का संचालक वही है। हमने कहा था कि घड़े का निमित्त कारण कुम्हार है, किन्तु वस्तुतः कुम्हार का जो उद्देश्य है वही कुम्हार की सभी क्रियाओं को संचालित करता है। इसलिए कहा जा सकता है कि उद्देश्य ही वास्तविक निमित्त कारण है। किंतु हम देख चुके हैं कि उद्देश्य या प्रयोजन कारण मूल स्वरूप से अभिन्न है। इस प्रकार मूल स्वरूप के अंतर्गत उद्देश्य और निमित्त दोनों चले आते हैं। किंतु उपादन सदा स्वतंत्र बना रहता है, इसलिए एरिस्टाटल कहते हैं कि मूल स्वरूप और जड़ उपादान यही दो पारमार्थिक कारण हैं। दोनों के स्वरूप के विषय में उनका मत है कि एक दूसरे के विपरीत हैं। उनकी प्रकृति में द्वैत है और द्वैत सदा बना रहता है। वे मानते हैं कि मूल स्वरूप सार्वभौम (universal) तथा विचार स्वरूप है, जबकि उपादान शुद्ध विशेष (particular) तथा पूर्णतः भौतिक है। अतः एरिस्टाटल का अंतिम निष्कर्ष है कि

विश्व के मूल तत्त्व संख्या में दो हैं और उनकी प्रकृति एक दूसरे से भिन्न है। अतः संख्या और प्रकृति दोनों का द्वैत वे स्वीकार करते हैं क्योंकि मूल स्वरूप और जड़ उपादान जो परम तत्त्व हैं, संख्या में दो हैं और उनकी प्रकृति में भी एकात्मता नहीं बल्कि द्वैत है।

(३) तीसरे प्रकार के द्वैतवाद के स्पष्ट समर्थक पश्चिमी दर्शन के इतिहास में प्राचीन यूनानी विचारक एनेक्जागोरस (Anaxagoras, 500 B. C.—428 B. C.) तथा भारतीय दर्शन में आचार्य कपिल हैं। कपिल द्वारा स्थापित दार्शनिक सम्प्रदाय सांख्य दर्शन कहलाता है।

द्वैतवाद का यह भेद मूल सत्ता में गुणात्मक द्वैत और संख्यात्मक अनेकता स्वीकार करता है। **एनेक्जागोरस** मानते हैं कि जड़ (Matter) और चित्तशक्ति (Nous or Intelligence) परस्पर विभिन्न प्रकृतिवाले पदार्थ मूल तत्त्व हैं। उनमें जड़ की संख्या अनन्त है। सोना, चान्दी, मिट्टी, पत्थर इत्यादि अनेक प्रकार के जड़ तत्त्व परमार्थ हैं। सृष्टि के आरंभ में सभी जड़ तत्त्व एक साथ मिले रहते हैं। चित्तशक्ति एक ही है और वही जड़ तत्त्वों से विश्व के भिन्न-भिन्न पदार्थों का निर्माण करती है। इस प्रकार एक चित्तशक्ति और अनेक जड़ तत्त्व मिलकर मूल तत्त्वों की संख्या अनेक हो जाती है। किंतु उनकी प्रकृति द्वैतपूर्ण हैं क्योंकि चित्तशक्ति चेतन है और जड़ तत्त्व भौतिक हैं।

सांख्य दर्शन भी विश्व के मूल में दो प्रकार के तत्त्वों को स्वीकार करता है। उसके अनुसार प्रकृति (Matter) और पुरुष (Spirit) परमार्थ तत्त्व हैं। दोनों एक दूसरे से स्वतन्त्र, स्वरूप में भिन्न तथा समानतः सत्य हैं; दोनों अजन्मा (uncaused) नित्य, सर्वव्यापक तथा विश्व के आधार हैं। किंतु दोनों का स्वरूप बिलकुल भिन्न है। प्रकृति भौतिक या अचेतन है किन्तु पुरुष चेतन या अभौतिक है।

प्रकृति सदा परिवर्तनशील बनने की क्षमता रखने वाली है किंतु पुरुष अपरिवर्तनशील तथा निष्क्रिय है। प्रकृति एक है किंतु पुरुष अनेक हैं। अतः सांख्य मत के अनुसार अनेक पुरुष और एक प्रकृति अर्थात अनेक तत्त्व परमार्थ हैं।

प्रकृति अपने अन्दर से विभिन्न भौतिक पदार्थों का प्रसव करती है, इसलिए उसे प्रसव-धर्मिणी कहते हैं। किन्तु पुरुष भौतिक या अभौतिक किसी भी पदार्थ को उत्पन्न नहीं करता, इसलिए उसे अप्रसवधर्मी कहते हैं। प्रकृति के अंदर सत्त्व, रज, और तम तीन तत्त्व हैं जिन्हें गुण कहते हैं। सत्त्व आनन्द और प्रकाश का कारण है, रज दुःख और गति का, एवं तम मोह, शैथिल्य, आदि का। इन त्रिविधि गुणों से युक्त होने के कारण प्रकृति को त्रिगुणात्मिका कहा जाता है, किंतु पुरुष तीनों गुणों से रहित है, इसलिए वह त्रिगुणातीत या निर्गुण माना जाता है। प्रकृति और पुरुष के संयोग से विश्व का विकास आरंभ होता है और विभिन्न पदार्थों की उत्पत्ति होती है। यदि यह संयोग न हो तो विश्व का विन्यास असंभव हो जायगा।

द्वैतवाद के इस विवरण में यूरोपीय दार्शनिक डेकार्ट (Descartes) की चर्चा न पाकर कुछ लोगों को आश्चर्य हो सकता है, क्योंकि अधिकांश लेखकों ने उनके दर्शन को ही द्वैतवाद के नमूने के रूप में पेश किया है। वस्तुतः हमने जान-बुझकर उनको यहां पर नहीं दिया है क्योंकि हमारा विचार है कि वे तत्त्वशास्त्रीय द्वैतवाद का समर्थन नहीं करते हैं। उनके अनुसार मूल सत्ता एक ही है जिसे वे द्रव्य (Substance) या ईश्वर कहते हैं। जड़ और चेतन उसी की सृष्टि हैं। जड़ और चेतन में पूरा द्वैत वे स्वीकार करते हैं इसलिए उनके अनुसार मल सत्ता में नहीं बल्कि उससे उद्भूत पदार्थों (जड़ और चेतन) में द्वैत है। अतः उनके सिद्धान्त को तत्त्वशास्त्रीय द्वैतवाद नहीं कहा जा सकता,

क्योंकि उसके लिए मूल सत्ता में संख्यात्मक या गुणात्मक द्वैत स्वीकार करना अनिवार्य है। कुछ लेखकों ने जोरास्ट्रियन धर्म (Zorastrianism) को द्वैतवाद का समर्थक माना है। किंतु ऐसा कहना बिलकुल गलत है। उक्त धर्म के अनुसार ईश्वर परम सत्ता है जो सर्वशक्तिमान, सर्वज्ञ तथा अन्य अनन्त गुणों से विभूषित है। इसे अहुरामज्दा (Ahura Mazda) कहते हैं। सृष्टि-कर्त्तृत्व (Creativity) ईश्वर का एक पक्ष है, इसको स्पेण्टा मैन्यू (Spenta Mainyu) कहते हैं। यह पुर्णतः शुभ है। इसके अतिरिक्त विश्व में अशुभ (Evil) भी है जिसे अहर्मान (Ahriman) की संज्ञा दी जाती है। अहर्मान भी ईश्वर से ही पैदा हुआ है और एक दिन उसका पूर्ण लोप होकर शुभ का साम्राज्य विश्व भर में हो जाना निश्चित है। इसलिए अहर्मान की सत्ता स्वतंत्र या शास्वत नहीं है। इस प्रकार कुछ समय तक ही वह कायम रहता है। अतः केवल ईश्वर ही वस्तुतः पारमार्थिक सिद्ध होता है। यही कारण है कि जोरास्ट्रियन धर्म को द्वैतवादी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि अहुरामज्दा और अहर्मान का द्वैत मौलिक या पारमार्थिक नहीं है।*

दैतवाद की समर्थक युक्तियाँ

द्वैतवाद के विभिन्न रूपों के दिग्दर्शन के बाद हम कह सकते हैं कि अंततः सभी द्वैतवादी जड़ और चेतन के द्वैत को ही किसी-न-किसी रूप में मौलिक मानते हैं। रामानुज के चित्-अचित्, प्लेटो के शुभ प्रत्यय और भूत, एरिस्टाटल के मूल स्वरूप और

---

*जोरास्ट्रियन धर्म की विस्तृत चर्चा के लिए देखिये--

'Zorastrianism' by M. N. Dhalla, Published in the Silver Jublee Commemoration Volume of the Indian Philoshphical Congress, 1950, Part I.

जड़ उपादान, एनेक्जागोरस के चित्तशक्ति और जड़ तत्त्व तथा सांख्य के पुरुष और प्रकृति सभी चेतन और जड़ के ही भिन्न-भिन्न नाम हैं। हम यह नहीं कहते कि अन्य किसी प्रकार के द्वैत की कल्पना संभव ही नहीं है, किन्तु यही कि दर्शन के इतिहास में उपर्युक्त द्वैत को सर्वाधिक गौरव प्राप्त हुआ है। चूँकि द्वैतवादी जड़ और चेतन दो परस्पर विरोधी पदार्थों को परमार्थ मानते हैं इसलिए इनकी परमार्थता सिद्ध करने का उत्तरदायित्व उनपर स्वभावतः आ पड़ता है। अपने विभिन्न तर्कों द्वारा उन्होंने इसे सिद्ध करने की चेष्टा की है। उनके कुछ तर्क निम्नलिखित हैं।

(१) द्वैतवाद का सबसे सबल प्रमाण अनुभव है। जड़ और चेतन, दो तरह के परस्पर विरोधी पदार्थों का अनुभव हमें सर्वदा होता है। हमारे विचार, हमारी धारणाएँ, कल्पनाएँ, भावनाएँ, स्मृतियाँ, इत्यादि सभी मानसिक या चेतन हैं जबकि, कागज, कलम, कुर्सी, टेबुल, इत्यादि भौतिक या अचेतन हैं। इसलिये जब कि अनुभव दो प्रकार के पदार्थों को व्यक्त करता है तो यही युक्ति-संगत है कि विश्व के मूल में जड़-चेतन का आधारिक द्वैत स्वीकार किया जाय अन्यथा अनुभूत द्वैत की व्याख्या नहीं हो सकती।

(२) द्वैतवाद का दूसरा तर्क है कि चूँकि जड़ और चेतन परस्पर विरोधी हैं इसलिए दोनों को परमार्थ मानना चाहिए, क्योंकि विरोधी होने के कारण किसी एक को ही परमार्थ मान कर दूसरे की व्याख्या नहीं हो सकती। प्रत्ययवादी और भौतिकवादी विचारक दोनों में किसी एक ही को परमार्थ मानते हैं और दूसरे को उसी में अंतर्भूत करते हैं या उसी से उत्पन्न बतलाते हैं, किंतु यह असंभव है। जड़ चेतन नहीं है। इसलिए उससे चेतन की उत्पत्ति अचिंतनीय है। उसी तरह चेतन से जड़ की उत्पत्ति या उसमें जड़ का अंतर्भाव संभव नहीं हैं। अतः किसी एक

को दूसरे का आधार या जनक कहकर परमार्थ मानना और दूसरे की परमार्थता अस्वीकार करना उचित नहीं है। इस प्रकार द्वैतवादियों का निष्कर्ष है कि जड़ और चेतन दोनों की परमार्थता स्वीकार किए बिना विश्व की संगत व्याख्या नहीं हो सकती है।

(३) सांख्य दर्शन ने भी बड़े मार्मिक ढ़ंग से द्वैतवाद की स्थापना की है। उसका कहना है कि चेतन और अचेतन पदार्थों की अनुभूति सार्वजनीन है। अपने अन्दर आत्मा के रूप में चेतन सत्ता का अनुभव सबको होता है। हम हैं, यह सभी जानते हैं। अपितु, आत्मा का अस्तित्व इनकार करना असंभव है क्योंकि इनकार करना ही इनकार करने वाले (अर्थात आत्मा) के अस्तित्व का प्रमाण हो जायगा। इसलिए आत्म-तत्त्व या पुरुष को सत्य मानना आवश्यक है। इसी तरह पुरुष से भिन्न भौतिक पदार्थों का अस्तित्व भी अत्यंत ही स्पष्ट है! किन्तु सभी अनुभूत भौतिक पदार्थ सीमित तथा किसी-न-किसी पदार्थ के कार्य या परिणाम (consequence) हैं। इसलिए उनका कोई अनादि और अनन्त कारण मानना आवश्यक है। यही प्रकृति है। इसलिए अंत में पुरुष और प्रकृति अर्थात चेतन और जड़ परमार्थ सिद्ध होते हैं।

(४) कुछ विचारकों का कहना है कि भौतिक विज्ञान (Physics), रसायन विज्ञान (Chemistry), शरीर विज्ञान (Physiology), मनोविज्ञान (Psychology) आदि सभी प्राकृतिक विज्ञान (Natural Sciences) विश्व में जड़ और चेतन के द्वैत को सत्य मानकर चलते हैं और इस मान्यता के आधार पर किए गये उनके प्रयोग सत्य उतरते हैं। इसलिए यह द्वैत सत्य है। किंतु जब यह सत्य है तो विश्व के मूल में इसके अंतिम आधार के रूप में जड़-चेतन द्विविध पदार्थों को स्वीकार करना अनिवार्य है अन्यथा इस द्वैत की व्याख्या नहीं हो सकेगी।

द्वैतवाद का मूल्यांकन

पिछले अध्यायों में हम कहते आये हैं कि सभी तत्त्वशास्त्रीय सिद्धान्तों का एक मात्र उद्देश्य विश्व की समुचित व्याख्या है, और इसी उद्देश्य की पूर्ति उनकी सत्यता-असत्यता की कसौटी है। द्वैतवाद का मूल्यांकन भी हम इसी कसौटी पर करेंगे। हम देख चुके हैं कि यह सिद्धान्त विश्व के मूल तत्त्व की प्रकृति को द्वैतपूर्ण मानता है। ऐसा मानने के लिए साधारण अनुभव के अतिरिक्त कोई दूसरा भावात्मक आधार (positive basis) उसे नहीं मिलता है। (१) किंतु हमारा कहना है कि अनुभव को ज्यों-का-त्यों वह स्वीकार कर लेता है, उस पर शंका नहीं करता। हमारे बहुत से अनुभव ऐसे होते हैं जो देखने में कुछ लगते हैं और वास्तव में कुछ और ही होते हैं। इसलिए अनुभुत द्वैत के आधार पर वास्तविक द्वैत का अनुमान करना सुरक्षित नहीं है। प्रत्ययवादी, भौतिकवादी, तथा अनुभयवादी विचारकों का यही कहना है कि जड़-चेतन का द्वैत सारभूत नहीं है। इन विचारकों के प्रति बिना किसी पक्षपात के हम भी स्वीकार करते हैं कि सिर्फ साधारण अनुभव के आधार पर द्वैतवाद को खड़ा करना निरापद नहीं है—साधारण अनुभव बड़ी ही कच्ची नींव है। किन्तु कोई दूसरा ठोस आधार द्वैतवाद को है भी नहीं।

(२) द्वैतवाद की बहुत बड़ी दुर्बलता विश्व की उत्पत्ति लेकर है। वह मानता है कि परस्पर विरोधी तत्त्वों के सहयोग से विश्व का निर्माण होता है। किंतु हमारा आक्षेप है कि यदि मूल तत्त्व परस्पर विरोधी हैं तो उनमें सहयोग या सम्पर्क असंभव हो जायगा, क्योंकि स्वभावतः विरोधी होने के नाते एक दूसरे से अलग रहेगा, न कि उसका साहचर्य खोजेगा। ऐसी हालत में विश्व की उत्पत्ति असंभव हो जायगी। इस आक्षेप का उपयुक्त उत्तर किसी भी द्वैतवादी विचारक ने नहीं

दिया है बल्कि सभी टाल-मटोल करने लगते हैं जिससे उनके सिद्धान्त की आन्तरिक निस्सारता स्पष्ट हो जाती है। सांख्य कहता है कि पुरुष और प्रकृति के सहयोग से विश्व का विकास होता है। यह पूछने पर की दोनों के विरोधी होने पर सहयोग कैसे होता है, वह तर्क के बजाय रूपक (metaphor) का सहारा लेता है। उसका कहना है कि जिस तरह एक अंधा और एक लंगड़ा जंगल पार करने के लिए आपस में मिल जाते हैं, अंधे के कंधे पर लंगड़ा चढ़ता है और दोनों पारकर जाते हैं, उसी तरह प्रकृति पुरुष मिलकर विश्व का निर्माण करते हैं। उदाहरण में अंधा प्रकृति का प्रतीक है क्योंकि प्रकृति अंधी अर्थात अचेतन है और लंगड़ा पुरुष का, क्योंकि पुरुष निष्क्रिय है। यहां हम अच्छी तरह समझ रहे हैं कि यह कोई व्याख्या तो है ही नहीं, पूर्ण रूपक भी नहीं है। अंधे लंगड़े परस्पर विरोधी नहीं हैं क्योंकि दोनों चेतन हैं तथा दोनों का एक उद्देश्य (जंगल पार करना) है; इसलिए उनका सहयोग चिंतनीय है, किन्तु प्रकृति और पुरुष का नहीं। पश्चिमी द्वैतवादी, जैसे एनेक्जागोरस, प्लेटो, एरिस्टाटल आदि भी इस समस्या का कोई संतोषजनक समाधान नहीं देते हैं। एनेक्जागोरस तो पश्चिमी दर्शन के शैशव-काल में ही हुए थे। इसलिए उनके सामने यह समस्या स्पष्ट न हो पायी थी। अतः इस विषय में उनका चुप रहना या सफल उत्तर न देना कोई विशेष आश्चर्य नहीं पैदा करता। किन्तु प्लेटो और एरिस्टाटल जो यूनानी दर्शन के गौरव हैं उनका असफल होना यही संकेत करता है कि द्वैतवाद के अन्दर विश्व की व्याख्या की क्षमता नहीं है। प्लेटो के अनुसार जब शुद्ध प्रत्यय भूत पर विभिन्न प्रत्ययों को अंकित करता है तो विश्व के विभिन्न पदार्थ उत्पन्न होते हैं। किन्तु शुभ प्रत्यय (The Idea of the Good) क्यों और कैसे भूत पर प्रत्ययों को अंकित करता है

इस प्रश्न का कोई युक्तिसंगत उत्तर वे नहीं देते। वे मानते हैं कि शुभ प्रत्यय पूर्णतः पूर्ण है अर्थात उसके अन्दर कोई कमी नहीं है। किन्तु जब उसमें कोई अभाव नहीं है तो क्यों विश्व का निर्माण वह करता है? क्यों नहीं अपने आप में वह सिमटा रहता है? प्लेटो यह भी मानते हैं कि अन्य प्रत्ययों (Ideas) की तरह शुभ प्रत्यय भी गतिहीन (motionless) या निष्क्रिय है। किन्तु निर्माण कार्य में गति और क्रिया अपेक्षित हैं। अतः क्रियाहीन प्रयत्य से विश्व का निर्माण संभव नहीं है। इन आक्षेपों का कोई बौद्धिक उत्तर प्लेटो के दर्शन में नहीं मिलता। इन विषयों की चर्चा करते हुए वे भी तर्क की भाषा छोड़ उपमा और रूपक का आश्रय लेते हैं। एरिस्टाटल को भी इस विषय में कोई विशेष सफलता नहीं मिलती है। वे मानते हैं कि मूल स्वरूप और जड़ उपादान मूल तत्त्व हैं जिनमें एक चेतन और दूसरा अचेतन है। दोनों को वे समानतः सत्य और वास्तव में एक-दूसरे से स्वतन्त्र और भिन्न मानते हैं और विश्व के सभी पदार्थों की उत्पत्ति उन्हीं के संयोग से बताते हैं। अतएव उनके अनुसार यद्यपि मूल तत्त्व वास्तव में अलग-अलग हैं किन्तु अनुभूत पदार्थों में संयुक्त हैं। किन्तु वस्तुतः स्वतन्त्र और भिन्न होने पर वे कैसे और क्यों संयुक्त होते हैं, इसकी व्याख्या एरिस्टाटल नहीं करते। वे सिर्फ कह भर देते हैं कि अनुभव-जगत में दोनों साथ-साथ अविच्छेद्य रहते हैं। किन्तु ऐसा क्यों होता है, इसका उत्तर वे नहीं देते हैं। रामानुज संख्या में मूल सत्ता को एक मानते हैं। किन्तु उसकी प्रकृति में द्वैत स्वीकार करते हैं। उनके विषय में हमारा आक्षेप है कि यह बात समझ में नहीं आती कि एक ही पदार्थ के अन्दर दो परस्पर विरोधी तत्त्व कैसे रह सकते हैं, एक ही पदार्थ चित् और अचित् दोनों से युक्त कैसे रह सकता है। तर्कशास्त्र का सर्वसम्मत नियम है कि एक ही पदार्थ के अन्दर

दो विरोधी तत्त्व या गुण नहीं रह सकते हैं, किन्तु चित् और अचित् दोनों को ब्रह्म का अंग मानकर रामानुज उसे विरोधी तत्त्वों से विभूषित करते हैं जो कि युक्तिसंगत नहीं है।

(३) द्वैतवाद के विरूद्ध बड़ा ही ठोस आक्षेप प्रो० सेलर्स ने किया है। उनका कहना है कि आधुनिक विकासवाद ने प्रमाणित कर दिया है कि चेतन कोई आदिम सत्ता नहीं है बल्कि विकास-क्रम में उत्पन्न हुआ है। जीव के विकास के पश्चात कुछ ऐसी स्थिति पैदा हुई कि चेतन का विकास हुआ। अतएव जब चेतन की सत्ता मौलिक नहीं है तो उस हालत में द्वैतवाद का यह कहना कि चेतन और जड़, दोनों समानतः मौलिक और परमार्थ हैं, यथार्थ नहीं है*।

(४) ज्ञान-मीमांसा की ओर से भी द्वैतवाद की आलोचना की गई है। चेतन को जड़ से नितान्त भिन्न मानने पर ज्ञान असंभव हो जाता है। यह मानी हुई बात है कि जड़ पदार्थों का ज्ञान हमें होता है। ज्ञान में ज्ञाता और ज्ञेय के बीच सम्बन्ध की स्थापना होती है, किन्तु यहां पर ज्ञाता चेतन है और ज्ञेय जड़ या भौतिक है। अब चूंकि द्वैतवाद चेतन और जड़ को परस्पर-विरोधी और स्वतंत्र मानता है इसलिए दोनों का सम्बन्ध सम्भव नहीं है। किन्तु संबंध के अभाव में चेतन द्वारा जड का ज्ञान असंभव हो जायगा। इसलिए द्वैतवाद को सत्य मानने पर ज्ञान असंभव हो जाता है। किन्तु ज्ञान होता ह, वह एक वास्तविक घटना है। इसलिए द्वैतवाद को सत्य नहीं माना जा सकता।

उपर्युक्त आलोचना इस बात को स्पष्ट कर देती है कि द्वैतवाद अत्यन्त ही दुर्बल सिद्धांत है। इसकी दुर्बलता दार्शनिकों ने महसूस की ह और यही कारण है कि इसके समथकों की संख्या अत्यन्त ही कम है।

---

*देखिये
"The Principles and Problems of Philosophy by R. W. Sellars, P. 207.

सातवाँ अध्याय

(४) अनुभयवाद

अनुभयवाद की सामान्य विशेषताएँ

अनुभयवाद (Neutralism) मूल तत्त्व की प्रकृति को न जड़, न चेतन, बल्कि दोनों से भिन्न (अनुभय) मानता है । इस सिद्धांत के अनुसार मूल तत्त्व ऐसा है कि उसकी उपयुक्त परिभाषा न तो भौतिक कह कर की जा सकती है, न मानसिक कह कर क्योंकि वह दोनों से विलक्षण है। दोनों में किसी के प्रति उसका झुकाव नहीं है, वह दोनों से तटस्थ (neutral) है। इसलिए अनुभयवाद को **ताटस्थ्यवाद** भी कहा जा सकता है, किन्तु निर्गुणवाद या निरपेक्षवाद नहीं । अनुभयवाद मानता है कि जड़ और चेतन दोनों समानतः सत्य हैं, इसलिए किसी एक का दूसरे में अन्तर्भाव करना उचित नहीं है । न तो जड़ की व्याख्या चेतन के आधार पर की जा सकती है, न चेतन की व्याख्या जड़ के आधार पर। दोनों में इस प्रकार का अन्तर है कि कोई एक दूसरे का कारण या आधार नहीं बन सकता। किन्तु यह अन्तर तत्त्व (Stuff) का नहीं बल्कि बनावट या रूप (Structure) का है। दोनों की उत्पत्ति एक प्रकार के तत्त्व से हुई है जो उनसे भिन्न और प्राथमिक (prior) है। यही तत्त्व परमार्थ सत्ता है।

चूँकि यह जड़ और चेतन दोनों से भिन्न है, इसलिए इसे अनुभय कहते हैं।

जड़ और चेतन की उत्पत्ति एक ही प्रकार के मूल तत्त्व से होती है; इसलिए उनका अन्तर परमार्थ (ultimate) नहीं है। यह मूल तत्त्व एक प्रकार का है, अर्थात इसकी प्रकृति एकात्मक है। किन्तु इसकी संख्या को अधिकांश अनुभयवादी अनेक मानते हैं। अतः अनेक अनुभय तत्त्व (many neutral entities) परमार्थ तत्त्व या विश्व के मूल आधार हैं। मूल तत्त्वों में एक विशेष प्रकार का संबंध होने से भौतिक पदार्थ उत्पन्न होते हैं और दूसरे प्रकार का संबंध होने से चेतन। जड़ और चेतन के निर्मायक तत्त्वों (constituent elements) में प्रकार का भेद नहीं है, सिर्फ उनकी सजावट का तरीका अलग-अलग है। कुछ दी हुई सीधी रेखाओं से चाहें तो हम त्रिभुज बनालें या चतुर्भुज। त्रिभुज और चतुर्भुज में अवश्य भेद है किन्तु यह भेद उनके आकार का है, तत्त्व का नहीं; क्योंकि उन्हें बनानेवाली रेखाएँ एक ही तरह की हैं। ये रेखाएँ अपने आप में न त्रिभुज हैं न चतुर्भुज, बल्कि दोनों से तटस्थ या उदासीन पदार्थ हैं। यही हालत अनुभव तत्त्वों की भी है।

अनुभय तत्त्वों के ज्ञान के विषय में अनुभयवाद का मत है कि वे हमारे अनुभव (experience) से परे नहीं, बल्कि अनुभवगम्य (experiencible) हैं। इसलिए अनुभयवाद के लिए कोई पदार्थ अनुभवातीत (trans-empirical or non-empirical) नहीं है क्योंकि मूल तत्त्व अनुभवगम्य हैं, जिसके फलस्वरूप उनसे उत्पन्न पदार्थ भी अनुभवगम्य ही होंगे। विश्व में ऐसी कोई चीज नहीं है जिसका उद्गम अनुभय तत्त्व न हो। इसलिए सारा विश्व अनुभवगोचर है।

मूल तत्त्व को अनुभय मानने के कारण अनुभयवाद भौतिकवाद

प्रत्ययवाद, और द्वैतवाद तीनों से भिन्न पड़ता है और कुछ विषयों में उनसे अधिक सुलझा हुआ भी जान पड़ता है।

अनुभयवाद और अन्य सिद्धान्त

हम देख चुके हैं कि भौतिकवाद और प्रत्ययवाद की असफलता का मुख्य कारण जड़ और चेतन में किसी एक को ही मूल तत्त्व मानकर दूसरे को उसमें अन्तर्भूत करना है। उनकी असफलता से यही शिक्षा मिलती है कि किसी एक को परमार्थ मानकर दूसरे की वास्तविकता की व्याख्या संभव नहीं है। अनुभयवाद इस तथ्य को महसूस करता है और चूँकि वह केवल जड़ या केवल चेतन को नहीं बल्कि दोनों से भिन्न अपर तत्त्व को परमार्थ मानता है, इसलिए उसे जड़ से चेतन या चेतन से जड़ की व्याख्या का असंभव कार्य्य संपादित करने की विफल चेष्टा नहीं करनी पड़ती। जड़ और चेतन के भेद को समझ कर एक का दूसरे में अन्तर्भाव असंभव बता अनुभयवाद भौतिकवाद और प्रत्ययवाद की एकांगिता (one-sidedness) को दूर करता है। जड़-चेतन का भेद द्वैतवाद भी स्वीकार करता है, किन्तु उसके अनुसार यह भेद तात्त्विक और पारमार्थिक है, दोनों का कोई सम्मिलन-स्थल नहीं है। इसका परिणाम होता है कि द्वैतवाद इस बात की व्याख्या नहीं कर सकता कि उनमें पारस्परिक संबंध कैसे होता है या एक दूसरे को प्रभावित कैसे करता है। अनुभयवाद को इस विषय में कोई कठिनाई नहीं होती क्योंकि वह जड़ और चेतन के भेद को मौलिक या पारमार्थिक नहीं मानता है। उसके अनुसार दोनों का उद्गम एक है, दोनों के निर्मायक तत्त्व एक हैं, इसलिए पारस्परिक संबंध या प्रभाव बिलकुल स्वाभाविक है। इस प्रकार जड़-चेतन की तात्त्विक एकता (identity of stuff) स्वीकार कर अनुभयवाद द्वैतवाद की कठिनाइयों से बचता है और मूल तत्त्व को अनुभय मानकर भौतिकवाद और प्रत्ययवाद की कठिनाइयों से।

अनुभयवाद का इतिहास

अनुभयवाद अत्यन्त ही आधुनिक सिद्धांत है। इसका स्पष्ट रूप वर्तमान युग के कुछ दार्शनिकों की रचनाओं में ही मिलता है। अर्न्स्ट माक (Ernst Mach 1843–1896), रिचार्ड एवेनेरियस (Richard Avenarius 1843–1896), वीलियम जेम्स (William James 1842–1910), बर्ट्रेण्ड रसेल (Bertrand Russell), तथा अमेरिका के कुछ नवीन वस्तुवादी विचारकों की कृतियों में इसके विभिन्न रूप पाये जाते हैं। यों तो कुछ लेखकों ने स्पीनोजा (Spinoza) और शेलिंग (Schelling) को भी अनुभयवादी घोषित किया है किन्तु ऐसा करना उचित नहीं है। स्पीनोजा के विषय मे यह विवादास्पद है कि वे मूल द्रव्य को सचमुच चड़, चेतन, आदि अनन्त गुणों से युक्त मानते हैं या बिलकुल गुणरहित। इसलिए उन्हें अनुभयवादी कहना निर्विवाद नहीं है। अपितु, अधिकांश विद्वानों का मत है कि वे जड़, चेतन आदि को मूल द्रव्य का यथार्थ गुण मानते हैं। इस मत के अनुसार तो निश्चय ही वे अनुभयवादी नहीं हैं। शेलिंग का दर्शन भी असन्दिग्ध रूप में अनुभयवादी नहीं कहा जा सकता, बलिक पश्चिमी दर्शन के प्रमुख इतिहासकार उनकी गणना प्रत्ययवादी परम्परा के अन्तर्गत करते हैं। इसलिए स्पीनोजा और शेलिंग को अनुभयवाद के उदाहरण के रूप में हम नहीं देंगे। यहां हम उन्हीं विचारकों के मत का विवेचन करेंगे जिनका दर्शन निश्चित रूप से अनुभयवादी कहा जा सकता है।

यद्यपि अनुभयवाद का प्रवर्तक वीलियम जेम्स को माना जाता है, फिर भी उनके पूर्व माक और एवेनेरियस के विचारों में उसका आरंभिक रूप मिलता है। **माक** का कहना है कि विश्व का वही स्वरूप है जैसा वह प्रतीत होता है, प्रतीयमान जगत (apparent

world) से अलग कोई दूसरा जगत कभी हमें ज्ञात नहीं होता ; किन्तु प्रतीयमान जगत के सभी पदार्थ अपने-आप में जड़ और चेतन दोनों से भिन्न हैं। विभिन्न परिस्थितियों में वे कभी जड़ और कभी चेतन के रूप में दीख पड़ते हैं। एक ही पदार्थ एक दृष्टिकोण से भौतिक है तो दूसरे से वही मानसिक या आध्यात्मिक बन जाता है। दीवार टूटने से आवाज होती है। यदि हम आवाज को गिरती दीवार, वहां की जमीन, तथा अन्य भौतिक पदार्थों से संबंधित करते हैं तो वह भौतिक जान पड़ती है, और यदि उसे किसी सुननेवाले से संबंधित करते हैं तो वह एक संवेदन, एक अनुभूति बनकर मानसिक हो जाती है। इस तरह आवाज अपने आप में जड़ और चेतन दोनों से भिन्न है। उसके संबंध उसे कभी जड़, कभी चेतन, बना देते हैं। विश्व के सभी पदार्थ उसी तरह के हैं।

एवेनेरियस के विचार भी माक से मिलते-जुलते हैं यद्यपि उन्होंने स्वतंत्र तरीके से अपना निष्कर्ष स्थापित किया है। उनके अनुसार विश्व को जड़ और चेतन के दो वर्गों में विभक्त करना अनुचित है, क्योंकि मूल तत्त्व दोनों से तटस्थ, शुद्ध सार्वभौम अनुभव (Pure universal experience) है जो सभी पदार्थों का उद्गम है। इस सार्वभौम अनुभव के सभी तत्त्व अपने-आप में तटस्थ होते हुए भिन्न-भिन्न संबंधों में पड़ने पर जड़ या चेतन का रूप लेते हैं।

जैसा कि हम कह आये हैं, अनुभयवाद का विकसित रूप **जेम्स** के दर्शन में मिलता है। "क्या चैतन्य अस्तित्ववान है? (Does Consciousness exist ?)*" शीर्षक निबन्ध में उन्होंने बड़े

*यह निबंध जेम्स की 'Essays in Radical Emperecism' नामक पुस्तक में संकलित है।

ही जोरदार शब्दों में इस मत का प्रतिपादन किया है। उनके परवर्ती अनुभयवादियों पर इस निबंध का बड़ा महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ा है।

जेम्स के अनुसार मूलतत्व शुद्ध अनुभव (Pure Experience) है। अपने-आप में वह हमारी धारणाओं से मुक्त, कल्पना से स्वतंत्र और जड़-चेतन दोनों से विलक्षण अर्थात अनुभय है। न तो उसे जड़ कहा जा सकता है न चेतन; न उसमें दोनों का द्वैत ही विद्यमान है। उसके आदिम रूप का वर्णन करना बड़ा कठिन है। वह सतत प्रवाहशील सरिता (continuously flowing stream) की तरह है जिसके अन्दर अनेक तत्त्व हैं जो भिन्न-भिन्न संबंधों द्वारा संबंधित हैं। विश्व के सभी पदार्थ उन्हीं अनुभय तत्त्वों से बने हैं। अतः विश्व के मूल में एक ही प्रकार के अनेक अनुभय तत्त्व हैं जो भिन्न-भिन्न प्रसंगों में जड़ और चेतन के रूप में अनुभूत होते हैं।* एक उदाहरण द्वारा जेम्स इस कथन को स्पष्ट करते हैं। एक मकान के किसी कमरे को जब हम उस मकान के अन्य हिस्सों तथा समीपवर्ती स्थानों और भौतिक पदार्थों के साथ संबंधित करके देखते हैं तो वह भौतिक, मन के बाहर, लगता है और जब उसे किसी अनुभवकर्त्ता के अनुभवों के साथ संबंधित करते हैं तो वही मानसिक लगता है। इस प्रकार एक ही कमरा मानसिक और भौतिक होता है, भिन्न-भिन्न प्रकार से संबंधित होने के कारण। अपने-आप में वह मानसिक या भौतिक कुछ भी नहीं हैं। यदि कोई प्रश्न करे कि एक ही पदार्थ दो तरह का कैसे हो सकता है तो उसके उत्तर में जेम्स का

* "In a word, in one group it (neutral stuff) figures as a thought, in another group as a thing"—Essays in Radical Empiricism—P. 10

कहना है कि जिस तरह एक विन्दु दो रेखाओं पर रह सकता है उसी तरह एक अनुभय तत्त्व मानसिक और भौतिक दोनों हो सकता है । इस चित्र में 'च' विंदु एक दृष्टि से 'क ख' पर है और दूसरी से 'ग घ' पर । उसी तरह एक ही अनुभय तत्त्व जड़-चेतन दोनों हो सकता है* । इसलिए जेम्स के अनुसार अनुभय मूल तत्त्व से मानसिक पदार्थ की उत्पत्ति तब होती है जब कि कोई अनुभय तत्त्व अन्य मानसिक पदार्थों से सम्बन्धित होता है और भौतिक पदार्थ जब कि कोई अनुभय तत्त्व अन्य भौतिक पदार्थों से सम्बन्धित होता है । यहाँ पर यह आक्षेप किया जा सकता है कि एक तत्त्व से उत्पन्न होने पर मानसिक और भौतिक पदार्थों में घोर अन्तर क्यों दीख पड़ता है ? इसके उत्तर में जेम्स का कहना है कि दोनों में उतना अन्तर नहीं है जितना हम समझते हैं बल्कि उनमें काफी समानता है । दोनों का सम्बन्ध काल से है, दोनों सरल या जटिल होते हैं, दोनों के लिए समान विशेषण प्रयुक्त होते हैं, जैसे--सुन्दर विचार, सुन्दर कमरा, ठण्ढा दिमाग, ठण्ढा पानी इत्यादि** । इन समानताओं से प्रमाणित होता है कि दोनों में पूर्ण विरोध या पूर्ण वैषम्य नहीं है । वस्तु-स्थिति यह है, जेम्स कहते हैं, कि दोनों के तत्त्व एक हैं, अन्तर यही है कि एक के तत्त्व दूसरे के तत्त्वों से भिन्न प्रकार से सम्बन्धित हैं । इस प्रकार जड़ और चेतन पदार्थों के आधारिक तत्त्वों में नहीं बल्कि तत्त्वों के सम्बन्धों में अन्तर है ।

क घ च ग ख

---

* देखिए,

Essays in Radical Empiricism—P. 12.

** देखिए; वही, पेज २६ ।

अमेरिका के नवीन वस्तुवादियों में होल्ट (E B. Holt) और पेरी (R. B. Perry) के अनुभयवादी विचार महत्त्वपूर्ण हैं। होल्ट मानते हैं कि विश्व के मूल में अनुभय तत्त्व हैं जो भिन्न-भिन्न प्रकार से सम्बन्धित होकर भिन्न-भिन्न संघात (group) बनाते हैं। जड़ और चेतन इसी तरह के संघात हैं। पेरी भी मानते हैं कि मूल तत्त्व अनुभय हैं। उनका कहना है कि जड़ और चेतन में कोई मौलिक या आधारिक भेद नहीं है, क्योंकि दोनों के मूल में एक ही प्रकार के अनुभय तत्त्व हैं। वे बतलाते हैं कि जिन तत्त्वों को भौतिक विज्ञान परमार्थ मानता है वे भी परीक्षा करने पर अनुभय ही सिद्ध होते हैं, क्योंकि न तो उनमें चैन्तय है, न कोरी भौतिकता ही।

रसेल ने भी अपने कई ग्रन्थों में अनुभयवाद का समर्थन किया है। उनका मत है कि मूल तत्त्व प्रकृति में अनुभय हैं और संख्या में अनेक हैं। अनुभय तत्त्वों को वे घटनाएँ (events) कहते हैं। अतएव उनके अनुसार विश्व के सभी पदार्थ घटनाओं के समूह हैं। घटनाएँ अपने-आप में जड़ और चेतन दोनों से भिन्न हैं और देश-काल में स्थित हैं।* वे स्वभावतः गत्यात्मक (dynamic) हैं तथा एक दूसरे से सम्बन्धित हैं। हमारे अनुभव से वे परे नहीं, बल्कि अनुभवगोचर हैं, अतः घटना से उनका तात्पर्य किसी अनुभवातीत वस्तु से नहीं है।** घटनाओं के आपस के सम्बन्ध भिन्न-भिन्न प्रकार के

* "Every thing in the world is composed of "events"... ...... An event........is something occupying a finite amount of space-time"—Bertrand Russell, An outline of Philosophy—P. 287

** "When I speak of an "event" I do not mean anything out of the way. Seeing a flash of lightning is an event; so is hearing a tyre burst, or smelling a rotten egg, or feeling the coldness of a frog."—

वही, पेज २८७।

होते हैं जिनके कारण उनका कोई समूह जड़ कहलाता है और कोई चेतन। इस प्रकार जड़ पदार्थों की घटनाओं के पारस्परिक सम्बन्ध चेतन पदार्थों की धटनाओं के सम्बन्धों से भिन्न हैं यद्यपि कि दोनों में विद्यमान घटनाओं का स्वरूप एक ही है।

अनुभयवाद का मूल्यांकन

हम देख चुके हैं कि अनुभयवाद कुछ विषयों में भौतिकवाद, प्रत्ययवाद और द्वैतवाद से श्रेष्ठ है। उसकी श्रेष्ठता यही है कि जड़-चेतन दोनों में किसी की उपेक्षा वह नहीं करता, बल्कि दोनों को समान रूप से महत्त्वपूर्ण मानता है। इसलिए चेतन से जड़ या जड़ से चेतन की उत्पत्ति का प्रश्न नहीं उठता है। किन्तु इसका मतलब यह नहीं है कि वह कठिनाइयों से बिलकुल खाली है। वस्तुतः उसके लिए उक्त प्रश्न और भी व्यापक हो जाता है, क्योंकि सिर्फ जड़ या सिर्फ चेतन की ही नहीं, बल्कि दोनों की उत्पत्ति की व्याख्या उसे करनी है। यहाँ प्रश्न है : यदि मूल तत्त्व जड़ और चेतन दोनों से विलक्षण है तो दोनों की उत्पत्ति उससे कैसे होती है? इसी प्रश्न का समुचित उत्तर अनुभयवाद की सफलता का निर्णायक है। (१) हमारी धारणा है कि जड़ और चेतन से रहित होने पर अनुभय तत्त्व उनको उत्पन्न नहीं कर सकता, क्योंकि किसी पदार्थ से वही पदार्थ उत्पन्न हो सकता है जो किसी-न-किसी रूप में पहले से ही उसमें विद्यमान रहता है, अन्यथा अभाव से भाव (something from nothing) की उत्पत्ति मानने का दोष आ जायगा। (२) इस आक्षेप से बचने के लिए अनुभयवादी कहते ह कि अनुभय तत्त्व अपने आप नहीं बल्कि भिन्न-भिन्न सम्बन्धों से सम्बन्धित होने पर जड़ और चेतन को उत्पन्न करते हैं। उनका मतलब है कि अनुभय तत्त्वों में विशेष प्रकार का सम्बन्ध होने पर जड़ और दूसरे प्रकार का होने पर चेतन उत्पन्न

होता है । अतएव जो संबंध जड़ पदार्थ के आधारभूत अनुभय तत्त्वों में है वह चेतन के तत्त्वों में नहीं है । यहाँ हम पूछते हैं कि जड़ और चेतन को भिन्न करनेवाले संबंध किस प्रकार के हैं ? निस्संदेह ये संबंध अनुभय नहीं हो सकते, क्योंकि अनुभय संबंधों से संबंधित होने पर अनुभय तत्त्वों के दो भिन्न रूप नहीं हो सकते। मान लीजिए कि हमारे सामने चार अनुभयतत्त्व क, ख, ग, घ, मौजूद हैं । इनमें 'च' संबंध होने से चेतन और 'ज' संबंध होने से जड़ पदाथ बनते हैं । अब 'च' और 'ज' क्या हैं ? ये अनुभय नहीं हो सकते, क्योंकि अनुभय संबंध से संबंधित होनें पर अनुभय तत्त्व अनुभय ही रह जायेंगे ; जड़ और चेतन नहीं हो सकेंगे। अनुभय न होने का मतलब है कि वे "जड़ और चेतन दोनों से भिन्न" नहीं हैं; अर्थात जड़ और चेतन ही की तरह हैं। इस निष्कर्ष का मतलब है कि मूल तत्त्व सर्वांशतः अनुभय नहीं है, क्योंकि उनके अंतर्गत जो संबंध हैं वे अनुभय नहीं हैं। किन्तु मूल तत्त्व के पूर्णतः अनुभय न होने पर अनुभयवाद टिका नहीं. रह सकता । संबंधों को अवास्तविक मानकर इस आक्षेप से बचने का प्रयत्न किया जा सकता है किंतु सभी अनुभय-वादी संबंधों को वास्तविक मानते हैं । दूसरे, संबंधों को अवास्तविक मानने पर जड़-चेतन की व्याख्या के लिए अनुभयवादियों का एक मात्र साधन ही नष्ट हो जायगा, और विश्व में केवल अनुभय तत्त्व ही रह जायँगे। इसलिए उनकी स्थिति बड़ी विचित्र हो जाती है। जब संबंधों को वास्तविक मानते हैं तो अनुभयवाद को खंडित करते हैं और जब अवास्तविक मानते हैं तो जड़ और चेतन की व्याख्या से हाथ धोते हैं।

(३) जड़-चेतन की उत्पत्ति के लिए उत्तरदायी संबंधों की परीक्षा करते हुए डा० स्टेस (W. T. Stace) इस निष्कर्ष पर पहुँचते

हैं कि ये संबंध अनुभयवाद को वस्तुतः द्वैतवाद बना डालते हैं।*
वे कहते हैं कि यदि जड़ और चेतन का अंतर उनके तत्त्वों के संबंधों का अंतर है तो इसका मतलब है कि चेतन पदार्थ के तत्त्वों में जो संबंध है वह भौतिक पदार्थ के तत्त्वों के संबंध से बिलकुल भिन्न है, अर्थात वह भौतिक संबंध नहीं है। यह भी निश्चित है कि वह अनुभय नहीं है, लेकिन जब वह भौतिक और अनुभय नहीं है तो अवश्य ही मानसिक या चेतन होगा। अनुभय नहीं होने का मतलब है कि जड़ और चेतन दोनों से भिन्न नहीं है, अर्थात भौतिक या मानसिक है। यह भी मालूम है कि भौतिक नहीं है। इसलिए अवश्य ही मानसिक होगा। इसी तरह यह दिखाया जा सकता है कि भौतिक पदार्थ के तत्त्वों में विद्यमान संबंध भौतिक है। अतएव अनुभय तत्त्वों से चेतन पदार्थ को उत्पन्न करने वाले संबंध सिर्फ चेतन हैं और भौतिक पदार्थ को उत्पन्न करने वाले सिर्फ भौतिक। इसका मतलब है कि जड़-चेतन की भिन्नता मौलिक या आधारिक है। किन्तु ऐसा होने से उनका वास्तविक द्वैत सिद्ध होता है। इस द्वैत का परिहार नहीं हो सकता, क्योंकि यह द्वैत संबंधों का है और संबंध ही जड़ को जड़ और चेतन को चेतन बनाने वाले हैं। इस प्रकार जड़ और चेतन का वास्तविक द्वैत उत्पन्न कर अनुभयवाद द्वैतवाद बन जाता है, जिसका अर्थ है कि वह विश्व को पूर्णतः अनुभय नहीं सिद्ध कर सका है।

(४) जड़ और चेतन की व्याख्या न कर सकन के अतिरिक्त अनुभयवाद की और कठिनाइयाँ हैं। एक कठिनाई अनुभय तत्त्वों के

---

*देखिये--

"The Philosophy of Bertrand Russell, edited by P. A. Schilpp—Pages 355—384.

स्वरूप के विषय में है। अनुभयवादियों का कहना है कि मूल तत्त्व अनुभय है और साथ ही अनुभवगम्य भी। किन्तु कभी भी हमें किसी अनुभय पदार्थ का अनुभव नहीं होता। जब कभी किसी पदार्थ का अनुभव होता है तो भौतिक या मानसिक रूप में ही। इस कथन को स्पष्ट करने के लिए जेम्स का दिया हुआ उदाहरण हम लेते हैं। वे कहते हैं कि एक कमरा अपने-आप में अनुभय है जो किसी अनुभवकर्त्ता के अनुभवों के साथ संबंधित होने पर मानसिक बन जाता है और वातावरण के अन्य भौतिक पदार्थों के साथ संबंधित होने पर भौतिक। इसके विषय में हमारा कहना है कि कभी भी कमरा अपने-आप में अनुभूत नहीं होता। हम तो सदा उसे अपने अनुभवों से या बातावरण से संबंधित करके ही देखते हैं अर्थात हमारे लिए वह या तो मानसिक है या भौतिक, अतः कभी भी अनुभय नहीं है। वस्तुतः अनुभय पदार्थ की कल्पना भी दुष्कर लगतो है। (५) दूसरी कठिनाई है कि जब अनुभवों और भौतिक पदार्थों से संबंधित होने पर अनुभय तत्त्व मानसिक और भौतिक बनते हैं, तो इसका मतलब है कि अनुभय तत्त्वों के साथ-साथ अनुभव और भौतिक पदार्थ (जो अनुभय नहीं हैं) भी वास्तविक ह। किन्तु जब ऐसा मान ही लेंगे तो विश्व पूर्णतः अनुभय कहाँ रहा?

उपर्युक्त आलोचना का यही निष्कर्ष होता है कि अनुभयवाद विश्व की समुचित व्याख्या करने में सफल नहीं होता है। सचमुच वह अपने को प्रतिष्ठित नहीं कर पाता। बात यह है कि इस सिद्धांत का समुचित विकास नहीं हो सका है। इसके समर्थक वैसे दार्शनिक हैं जो तत्त्व-विज्ञान की ओर अपेक्षाकृत कम ध्यान देते हैं जिसका परिणाम है कि उन्होंने अनुभयवाद के अंग-प्रत्यंग को परिपुष्ट करने की चेष्टा नहीं की है। यही कारण है कि वह एक सुविकसित तत्त्वशास्त्रीय सिद्धांत के रूप में हमें नहीं प्राप्त होता है।

आठवाँ अध्याय

मूल तत्त्व की संख्या

(१) अनेकवाद

हम जानते हैं कि अनेकवाद (Pluralism) मूल तत्त्व के संख्या-विषयक प्रश्न का एक विशिष्ट उत्तर है। उसके अनुसार मूल तत्त्व की संख्या एक या दो नहीं बल्कि अनेक है, विश्व के मूल में अनक तत्त्व विद्यमान हैं जो सभी परमार्थ हैं। यह अनेकता (Plurality) ऐसी है कि किसी भी तरह उसका परिहार नहीं हो सकता है, किसी एक तत्त्व में अनेक तत्त्वों को अंतर्भूत नहीं किया जा सकता है। सबका अपना-अपना व्यक्तित्व है, अपने अस्तित्व के लिए सभी अपने ही उत्तरदाई हैं। किसी एक तत्त्व को अधिक महत्त्वपूर्ण या प्राथमिक तथा दूसरे को गौण नहीं कहा जा सकता है क्योंकि सबकी यथार्थता और महत्ता एक समान है। इसलिए विश्व अनेकात्मक है, अनेक पदार्थों का समूह भर है। यदि हम कहते हैं कि विश्व एक है तो यह सिर्फ कहने का तरीका है। वस्तुतः विश्व नाम का कोई एक पदार्थ नहीं है। केवल बोल-चाल की सुविधा के लिए हम 'विश्व' शब्द का प्रयोग ऐसा करते हैं कि उससे एक पदार्थ का बोध होता है किन्तु उससे वस्तुतः विश्व को एक समझना गलत है।

अनेकवाद की सामान्य विशेषताएँ

अनेकवाद विश्व की संख्यात्मक अनेकता (Numerical Plurality) प्रतिपादित करता है, इसलिए संख्यात्मक एकवाद (Numerical Monism) का विरोधी है क्योंकि वह विश्व की संख्यात्मक एकता (Numerical unity) घोषित करता है। किन्तु विश्व की प्रकृति के संबंध में अनेकवाद का रास्ता खुला हुआ है, किसी विशेष सिद्धांत से सहमत या असहमत होने के लिए वह बाध्य नहीं है। मूल तत्त्व की प्रकृति को वह भौतिक, आध्यात्मिक, अनुभय या भौतिक-आध्यात्मिक दोनों, कुछ भी मान सकता है। इसलिए प्रकृति-विषयक एकवाद जैसे भौतिकवाद, प्रत्ययवाद और अनुभयवाद से उसका कोई विरोध नहीं है। तीनों सिद्धांत मूल तत्त्व की प्रकृति को एकात्मक (one in nature) मानते हैं, इसलिए उन्हें प्रकृति-विषयक एकवाद (Oualitative Monism) कहते हैं।

अनेकवाद और अन्य सिद्धांत

अनेकवाद के विभिन्न रूप

मूल तत्त्व की संख्या को अनेक मानने पर यह प्रश्न उठता है कि उन अनेक तत्त्वों की प्रकृति क्या है क्योंकि उनकी प्रकृति जाने बिना उनके स्वरूप को समझना संभव नहीं है। इस प्रश्न की महत्ता सभी अनेकवादी स्वीकार करते हैं किन्तु उन्होंने जो उत्तर दिए हैं वे भिन्न-भिन्न हैं। (१) एक उत्तर उनलोगों का है जो यह मानते हैं कि मूल तत्त्वों की प्रकृति भी अनेकात्मक (Plural) है अर्थात उनके अन्दर गुणगत या स्वभावगत भेद है। इस मत के अनुसार मूल तत्त्व की संख्या और प्रकृति दोनों में अनेकता है। इसलिए इसे हम **सर्वांगीन अनेकवाद** (All-round Pluralism) कहेंगे। (२) दूसरा उत्तर उन विचारकों का है जो मानते हैं कि संख्या

अनेकवादी सिद्धांतों का वर्गीकरण

अनेक है किन्तु प्रकृति एक है, अर्थात एक प्रकृतिवाले अनेक तत्त्व वास्तविक हैं। इस मत के अनुसार मूल तत्त्वों में संख्यात्मक अनेकता और गुणात्मक एकता है। किन्तु यहां एक नया प्रश्न उपस्थित होता है। माना कि प्रकृति एक है, किन्तु वह है क्या? इसके तीन उत्तर दिए गए हैं। कुछ मानते हैं कि वह भौतिक है, कुछ मानते हैं कि आध्यात्मिक है तथा कुछ और हैं जो भौतिक और आध्यात्मिक दोनों से तटस्थ अर्थात अनुभय मानते हैं। इस प्रकार दूसरे उत्तर के तीन रूप होते हैं जिन में पहले को **भौतिकवादी अनेकवाद** (Materialistic Pluralism), दूसरे को **प्रत्ययवादी अनेकवाद** (Idealistic Pluralism) और तीसरे को **अनुभयवादी अनेकवाद** (Neutralistic Pluralism) कहते हैं। अतएव अनेकवाद मूलतत्त्व के प्रकृति-विषयक प्रश्न का चार उत्तर देता है जिसके कारण उसके चार रूप हो जाते हैं: (१) सर्वांगीन अनेकवाद, (२) भौतिकवादी अनेकवाद, (३) प्रत्ययवादी अनेकवाद और (४) अनुभयवादी अनेकवाद। यहां इन्हीं रूपों का वर्णन हम पश्चिमी और भारतीय दर्शनों के अनुसार करेंगे, किन्तु अन्तिम तीन का संक्षिप्त वर्णन ही किया जायगा क्योंकि उनका विवेचन पिछले अध्यायों में हो चुका है।

पश्चिमी दर्शन में सर्वांगीन अनेकवाद शुद्ध रूप में नहीं मिलता है। सर्वांगीन अनेकवाद मूलतत्त्व की प्रकृति और संख्या दोनों को अनेक मानता है। पश्चिमी दार्शनिकों में ऐसा कोई नहीं है जो स्पष्ट रूप से इस मत का समर्थन करता हो। किन्तु अन्य तीन प्रकार के अनेकवाद के असंदिग्ध उदाहरण वहाँ मिलते हैं।

पश्चिमी अनेकवाद (१) सर्वांगीन अनेकवाद का अभाव

भौतिकवादी अनेकवाद के अनुसार मूलतत्त्व की संख्या अनेक है किन्तु प्रकृति केवल भौतिक अर्थात एक तरह की है। अतएव अनेक भौतिक तत्त्व

परमार्थ हैं। इस प्रकार यह भौतिकवाद और अनेकवाद का सयुक्त रूप है। इसके समर्थक प्राचीनकाल से लेकर आज तक मिलते हैं।

(२) भौतिकवादी अनेकवाद

प्राचीन विचारकों में **एम्पेडाक्लस् डेमोक्राटस एपीक्यूरस**, आदि इसके समर्थक हैं। एम्पेडाक्लस मानते हैं कि पृथ्वी, वायु, अग्नि और जल चार भौतिक तत्त्व परमार्थ हैं किन्तु डेमोक्राइटस और एपीक्यूरस मानते हैं कि अनन्त भौतिक परमाणु मूलतत्त्व हैं। आधुनिक युग के **डाल्टन** (Dalton) आदि परमाणुवादी भी अनेक भौतिक परमाणुओं की सत्ता स्वीकार करते हैं। परमाणुओं का विभाजन होने पर एलेक्ट्रन, प्रोटन, आदि पाए गए हैं और उनकी संख्या भी अनेक मानी जाती है। इसलिए अर्वाचीन वैज्ञानिक भौतिकवाद भी अनेकवाद का समर्थक है क्योंकि विश्व के मूल में एलेक्ट्रन, प्रोटन, आदि के रूप में अनेक तत्त्वों को स्वीकार करता है।

(३) प्रत्ययवादी अनेकवादी

इस सिद्धांत के अनुसार मूलतत्त्व संख्या में अनेक और प्रकृति में आध्यात्मिक है। विश्व के मूल में एक नहीं बल्कि अनेक आध्यात्मिक तत्त्व विद्यमान हैं। प्रत्ययवादी अनेकवाद का स्पष्ट रूप हावीसन (G. H. Howison, 1834–1916) मैक्टेगार्ट (J. M. E. McTaggart, 1866–1925) आदि के दर्शनों में मिलता है। आंशिक रूप में **लाइबनिज** (Leibniz) भी इसके समर्थक कहे जा सकते हैं। **लाइबनिज** मानते हैं कि मूलतत्त्व चिद् विन्दु (Monads) हैं। चिद् विन्दु अत्यंत ही सुक्ष्म आध्यात्मिक तत्त्व हैं। उनकी संख्या अनेक है। वे यद्यपि आध्यात्मिक हैं किन्तु उनमें विकास-भेद है, कोई कम और कोई अधिक विकसित है। इस प्रकार वे एक तारतम्यात्मक श्रेणी (hierarchy) बनाते हैं जिसके आदि में अत्यंत ही कम विकसित और अंत में पूर्ण विकसित चिद् विन्दु है। इसी पूर्ण विकसित चिद् विन्दु

को **लाइबनिज** ईश्वर की संज्ञा देते हैं और अन्य सभी चिद् विन्दुओं का आधार मानते हैं। इस प्रकार चिद् विन्दुओं को वे अनेक मानते हैं किन्तु ईश्वर को एक और उनका अंतिम आधार कहते हैं। इसलिए उन्हें शद्ध अनेकवादी नहीं कहा जा सकता क्योंकि अन्ततोगत्वा सब का आधार होने से एक ईश्वर ही मूलतत्त्व हो जाता है। अतः हमारा निष्कर्ष है कि वे केवल आंशिक रूप में अनेकवादी हैं या अनेकवादी प्रवृति उनमें है क्योंकि चिद्विन्दुओं को अनेक मानते हैं और एक को दूसरे से स्वतंत्र समझते हैं।

हावीसन आधुनिक अमेरिका के प्रसिद्ध दार्शनिक हैं। उनका सिद्धांत है कि परम सत्ता अनेक पुरुषों, व्यक्तियों, या आत्माओं का समूह (a society of many persons, selves, or minds) है। सभी पुरुष एक दूसरे से स्वतंत्र हैं। उनकी उत्पत्ति किसी दूसरे पदार्थ से नहीं होती, अपने अस्तित्व के लिए वे आप उत्तरदाई हैं। ईश्वर का अस्तित्व है किन्तु वह पुरुषों का आधार या जन्मदाता नहीं है। ईश्वर उनका आदर्श है, जिस पूर्णता को वे अपना अभीष्ट समझते हैं, उसी की वास्तविक सिद्धि (the fulfilled Type of every mind) ईश्वर है। सभी पुरुषों का एक ही आदर्श (ideal) है, इसलिए आदर्श की एकता होने से वे परस्पर संबद्ध हैं किन्तु उनके संबंध ऐसे हैं कि उनकी स्वतंत्रता नष्ट नहीं करते। इस प्रकार हावीसन के लिए विश्व एक ही आदर्श से अनुप्राणित अनेक पुरुषों का समूह है जिसके सदस्य परस्पर-संबद्ध होते हुए भी अपना स्वतंत्र अस्तित्व बनाए रहते हैं।

मैक्टगार्ट भी मानते हैं कि मूलतत्त्व अनेक आत्माओं की समष्टि है। आत्माओं की अनेकता परमार्थ है, उसका अन्तर्भाव किसी इकाई में नहीं हो सकता। अत्माओं की समष्टि होने से विश्व को अवयवी (whole) और आत्माओं को अवयव (parts) कह सकते हैं।

यहां अवयवी और अवयव का संबंध ऐसा है कि अवयवी अपने अवयवों पर निर्भर करता है क्योंकि उन्ही के संघात से वह बना हुआ है, किन्तु अवयव अवयवी पर निर्भर नहीं करते हैं। मैक्टेगार्ट कालेज और उसके सदस्यों के उदाहरण द्वारा इस कथन को स्पष्ट करते हैं। कालेज कुछ व्यक्तियों की समष्टि है, उन व्यक्तियों से अलग उसकी सत्ता नहीं है, अतः उनपर वह अपने अस्तित्व के लिए निर्भर है। परम सत्ता भी पुरुषों का ऐसा ही समूह है। हरएक पुरुष शास्वत और स्वतंत्र है। पुरुषों के बीच पारस्परिक संबंध हैं किन्तु संबंधों से उनके स्वभाव या स्वतंत्र अस्तित्व में कोई अन्तर नहीं होता, उनकी अनेकता सदा अक्षुण्ण रहती है। मैक्टेगार्ट और हावीसन दोनों के मत को **व्यक्तित्ववादी अनेकवाद** (Personalistic Pluralism) कहा जाता है क्योंकि वे व्यक्तियों या पुरुषों को परमार्थ मानते हैं। दोनों में अंतर है कि मैक्टेगार्ट व्यक्तियों के आधार या आदर्श किसी भी रूप में ईश्वर को नहीं मानते हैं जब कि हावीसन आधारस्वरूप तो नहीं किन्तु आदर्श के रूप में उसे स्वीकार करते हैं।

इस सिद्धांत के माननेवालों में **जेम्स**, होल्ट, **पेरी**, **रसेल**आदि मशहूर हैं। वे मानते हैं कि मूल तत्त्वों की संख्या अनेक और प्रकृति अनुभय अर्थात जड़-चेतन से भिन्न है। अन्य विषयों में इसके समर्थकों में मतभेद है किन्तु इतना सभी कहते हैं कि अनेक अनुभय तत्त्व परमार्थ हैं।

(५) अनुभयवादी अनेकवाद

भारतीय दर्शन में अनेकवाद के चार भेदों में अनुभयवादी और प्रत्ययवादी अनेकवाद के उदाहरण नहीं मिलते हैं। यहां अनुभयवाद का ही सर्वथा अभाव है, इसलिए अनुभयवादी अनेकवाद का अभाव स्वाभाविक है। प्रत्ययवादी अनेकवाद का भी स्पष्ट उदाहरण नहीं मिलता है। किन्तु अन्य दो अर्थात सर्वांगीन और भौतिकवादी अनेकवाद के स्पष्ट उदाहरण पाए जाते हैं।

भारतीय अनकवाद: अनुभयवादी और प्रत्ययवादी अनेकवाद का अभाव

इस प्रकार का अनेकवाद वैशेषिक, मीमांसा आदि दर्शनों में मिलता है। इसके अनुसार न तो मूलतत्त्व की प्रकृति एकात्मक है, न उसकी संख्या ही। **वैशेषिक दर्शन** के अनुसार मूलतत्त्वों की संख्या सात है। वे यों हैः द्रव्य (Substance), गुण (Quality), कर्म (Action), सामान्य (Generality), विशेष (Particularity), समवाय (Inherence), और अभाव (Non-existence)।

(१) सर्वांगीन अनेकवाद

इन्हें **पदार्थ** की संज्ञा दी जाती है। पदार्थ से तात्पर्य सत्य या परमार्थ वस्तु से है। द्रव्य गुण और कर्म का आश्रय या अधिष्ठान होता है। वह गुण और कर्म से भिन्न है। जल, अग्नि, आत्मा आदि द्रव्य के उदाहरण हैं। द्रव्य नौ प्रकार के होते हैं। गुण उसे कहते हैं जो द्रव्य में आश्रित रहता है, जैसे रूप, रस गंध आदि। गुण चौबीस प्रकार के होते हैं। कर्म भी द्रव्य में ही आश्रित रहता है और गत्यात्मक (dynamic) होता है। कर्मों की संख्या पाँच है। चलना, गिरना आदि कर्म के उदाहरण हैं। सामान्य उसे कहते हैं जो किसी वर्ग के सभी व्यक्तियों में पाया जाता है जैसे गोत्व मनुष्यत्व, आदि। सामान्य तीन तरह के होते हैं। विशेष उसे कहते हैं जो नित्य द्रव्यों के अन्तर का कारण है। उसकी संख्या अनन्त है। समवाय चिरंतन सम्बन्ध को कहते हैं जिसके विनाश से सम्बन्धित पदों में कम से कम एक का विनाश हो जाता है। अवयवी (whole) और उसके अवयवों में ऐसा ही सम्बन्ध रहता है। समवाय एक ही प्रकार का होता है। अभाव चार प्रकार का होता है। किसी वस्तु की अविद्यमानता (absence) को अभाव कहते हैं। इस तरह अनेक पदार्थों को वैशेषिक परमार्थ मानता है। उनकी प्रकृति को भी वह एक नहीं मानता। जड़, चेतन, सजीव, निर्जीव आदि के स्वभावगत भेद को स्वीकार करता है। ईश्वर के अस्तित्त्व को वह सत्य मानता है

किन्तु उसे अन्य पदार्थों का श्रष्टा नहीं मानता, इसलिए ईश्वरवादी होने से उसका अनेकवाद खंडित नहीं होता।

मीमांसा दर्शन भी अनेक पदार्थों को सत्य मानता है और उन्हें भिन्न-भिन्न प्रकृति वाला घोषित करता है। उसके अनुसार अनुभव-जगत और उसके अन्दर विद्यमान अनेकता दोनों वास्तविक हैं। अनेक आत्माएँ, भौतिक पदार्थ, देवताएँ, स्वर्ग, नरक, आदि सभी सत्य हैं। विश्व की अनेकता पारमार्थिक है, ईश्वर या अन्य किसी एक सत्ता पर आधारित नहीं है। वस्तुतः ईश्वर का अस्तित्व ही मीमांसा को मान्य नहीं है।

(२) भौतिकवादी अनेकवाद

इस मत का एकमात्र उदाहरण चार्वाक दर्शन है क्योंकि भारतीय दर्शन में वही भौतिकवाद का समर्थन करता है। उसके अनुसार मूल तत्त्व भौतिक हैं और उनकी संख्या चार है। वे चार भौतिक तत्त्व वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी हैं।

अनेकवाद की समर्थक युक्तियाँ

अनेकवाद की स्थापना के लिए अनेकवादियों ने भावात्मक (positive) और आलोचनात्मक (critical) दो प्रकार के तर्कों का प्रयोग किया है। भावात्मक तर्कों द्वारा वे अनेकवाद के लिए भावात्मक आधार (positive basis) प्रस्तुत करते हैं और आलोचनात्मक तर्कों द्वारा उसके विरोधी सिद्धांत (संख्यात्मक एकवाद) को अग्राह्य सिद्ध कर अपने मत के लिए परोक्ष प्रमाण (indirect proof) देते हैं।

(१) अनेकवाद की मुख्य भावात्मक युक्ति शुद्ध अनुभव पर आधारित है। अनेकवादियों का कहना है कि हमारा अकृत्रिम अनुभव

(unsophisticated experience) विश्व को अनकात्मक बतलाता है। हम सदा अनेकता, विभिन्नता का अनुभव करते हैं।

भावात्मक युक्तियाँ

ऐसा कभी नहीं होता कि विश्व का कोई एक आधार अनुभूत होता हो। पदार्थों की अनेकता ही सर्व-प्रथम अनुभूत होती है। पीछे अपनी बौद्धिक क्रियाओं द्वारा उनका वर्गीकरण कर उनको भिन्न-भिन्न वर्गों में रख कर हम उन्हें एकत्रित करते हैं। अतः उनकी अनेकता वास्तविक या मौलिक है और एकता बुद्धिजन्य। वे वस्तुतः अनेक हैं किन्तु बुद्धि एक धागे में पिरो कर उन्हें हमारे सामने प्रस्तुत करती है। ऐसा वह अपनी सुविधा के लिए करती है। विश्व की विपुल अनेकता से वह घबड़ा जाती है, इसलिए अनेक पदार्थों को किसी कृत्रिम तरीके से एक करके देखती है।

(२) दूसरी भावात्मक युक्ति संबंधों की बाह्यता (externality of relations) के आधार पर पेश की जाती है। किसी भी संबंध के लिए कम से कम दो पद (terms) आवश्यक होते हैं जो उस संबंध द्वारा संबंधित होते हैं। संबंधों के स्वरूप के विषय में दो मत हैं। एक को अंतरंग संबंध सिद्धांत (Theory of internal relations) कहते हैं जिसके अनुसार संबंध संबंधित पदों के अंतर्गत होता है। दूसरे को बाह्य संबंध सिद्धांत (Theory of external relations) कहते हैं क्योंकि वह मानता है कि संबंध संबंधित पदों के बाहर हैं*। अनेकवाद संबंधों को बाह्य मानता है। संबंधों को बाह्य मानने का मतलब है कि वे पदों से अलग हैं, उनकी अपेक्षा पदों को नहीं रहती, अर्थात पद संबंधों के रहने या न रहने दोनों

---

* संबंधों के विस्तृत विवेचन के लिए देखिए—

'The Problems of Philosophy by Dr. S. C. Chatterjee, Chapters IX & X.

हालतों में एक-से रहते हैं। अतः बाह्य संबंध संबंधित पदों में कोई अंतर नहीं लाते हैं। इसका परिणाम है कि इस प्रकार संबंधित पद एक दूसरे से स्वतंत्र रहते हैं। जब मैं कमरे में आता हूँ तो कमरा और मेरे बीच संबंध स्थापित होता है किन्तु उस संबंध की अपेक्षा दोनों में किसी को नहीं है, दोनों एक-दूसरे से स्वतंत्र हैं क्योंकि जब यह संबंध टूटता है, अर्थात जब मैं कमरे से बाहर जाता हूँ, तब भी दोनों में कोई परिवर्तन नहीं होता। इस सिद्धांत का निष्कर्ष अनेकवाद होता है। जब विश्व के पदार्थ इस प्रकार संबंधित हैं कि एक-दूसरे से स्वतंत्र हैं तो इसका आशय यही है कि विश्व अनेक स्वतंत्र पदार्थों का समूह मात्र है। अनेक-वाद के लिए विभिन्न पदार्थों की पारस्परिक स्वतंत्रता आवश्यक है और यह स्वतंत्रता संबंधों की बाह्यता का परिणाम है। अतः संबंधों की बाह्यता अनेकवाद को प्रमाणित करती है। अनेकवाद मानता है कि विश्व के पदार्थ संबंधित हैं और असंबद्ध अनेकता (unrelated plurality) का अनुभव कभी नहीं होता। किन्तु संबंधों के बाह्य होने से संबंधित होना उनकी एकता नही बल्कि अनेकता सिद्ध करता है। वीलियम जेम्स, होल्ट, रसेल, आदि आधुनिक अनेकवादियों ने उपर्युक्त प्रकार का तर्क दिया है।

(३) वीलियन जेम्स ने अनेकवाद के लिए नैतिकता की ओर से बड़ा ही सुन्दर तर्क दिया है। वे कहते हैं कि अनेकवाद व्यक्तियों की स्वतंत्रता स्वीकार करता है जो नैतिक प्रयत्नों (moral efforts) के लिए आवश्यक है। व्यक्ति-स्वातंत्र्य के अभाव में नैतिक चेतना (moral consciousness) असंभव या निरर्थक हो जाती है। इसलिए अनेकवाद व्यक्तियों की स्वतंत्रता को सत्य बता नैतिकता की उचित व्याख्या कर सकता है किन्तु

दूसरे सिद्धांत जो उसे सत्य नहीं मानते नैतिकता की व्याख्या नहीं कर सकते। अतएव नैतिकता की संभावना और व्याख्या के लिए अनेकवाद को मानना आवश्यक है।

आलोचनात्मक युक्तियाँ

आलोचनात्मक तर्क संख्यात्मक एकवाद की असत्यता से अनेकवाद की सत्यता सिद्ध करते हैं।* उनका सारांश यही है कि एकवाद की स्थापना नहीं की जा सकती। एकवाद की आलोचना करते हुए अनेकवादी कहते हैं कि (१) पहले तो विश्व की एकता का कभी अनुभव नहीं होता, कभी कोई एक पदार्थ ऐसा नहीं मिलता जिसे सब का आधार माना जा सके, बल्कि अनुभव होता है अनेकता का। (२) एकवाद के माननेवाले कहते हैं कि अनेकता केवल अनुभूत होती है, वह वास्तविक नहीं है, अर्थात वह प्रतीति है, सत्य नहीं। किन्तु इससे एकवाद की स्थापना नहीं होती। विश्व के पदार्थों में इतनी विभिन्नताएँ हैं कि उन्हें मूलतः एक मानना या किसी तत्त्व में अंतर्भूत करना असंभव है**। अतः विश्व की अनेकता पारमार्थिक है। वह ऐसी नहीं है कि किसी एक पदार्थ को वास्तविक मानकर सब को उसी पर आश्रित कर दिया जाय।

---

*एकवाद की और आलोचना के लिए देखिए नवाँ अध्याय, पेज, १५६–६२।

**"How would you relate for instace such heterogenoeus data as green grass, sour milk, coal dust, an ichthyosaurus, an Abrahm Linclon, Curvilinear space, the call of the whippoorwill, a vermiform appendix ? Or, to go further, how would you relate a toothache wilh the square root of minus one-half ?"—V. Ferm, First Adventures in Philosophy, P. 134.

अनेकवाद का मूल्यांकन

अनेकवाद विश्व की एकता को अवास्तविक और अनेकता को वास्तविक मानता है। अनेकता का अनुभव निस्सन्देह हम करते हैं। इसलिए अनेकवाद का आधार कपोल-कल्पना नहीं बल्कि ठोस अनुभव है। अनुभव के निकट होने के कारण ही वह आम जनता को अपील करता है। किन्तु इसका मतलब यह नहीं कि वह बिलकुल निर्दोष है। सभी तत्त्व-शास्त्रीय सिद्धांतों की तरह उसका भी उद्देश्य विश्व की व्याख्या है। इसलिए उसका मूल्य प्रस्तुत व्याख्या की सफलता पर निर्भर करता है। हमारी धारणा है कि इसमें अपेक्षित सफलता उसे नहीं मिली है।

(१) अनेकवाद के विरुद्ध हमारा पहला आक्षेप है कि अनुभव के एक पक्ष पर वह ध्यान देता है, इसलिए उसका दृष्टि-कोण एकांगी है। माना कि अनेकता अनुभूत है किन्तु एकता भी अननुभूत नहीं है। विश्व के पदार्थों में विभेद या विभिन्नता का अनुभव होता है तो उनकी समानता, पारस्परिक निर्भरता का अनुभव भी कम सत्य नहीं है। एक मनुष्य दूसरे से भिन्न मालूम पड़ता है तो मनुष्य होने के नाते उसके समान भी लगता है; यदि वह कुर्सी के निर्जीव होने के कारण उससे भिन्न जान पड़ता है तो निर्माता के रूप में उसका कारण भी है; यदि वह पशुओं से भिन्न है तो सजीव होने के कारण उनके समान भी है, इत्यादि। इसी तरह पदार्थों की समानता भी अनुभूत होती है और विश्व की जड़ में विद्यमान एकता की ओर संकेत करती है। इसलिए अनुभव के इस संकेत की ओर ध्यान न देकर सिर्फ अनेकता को गौरव देने से अनेकवाद अनुभव के साथ अन्याय करता है।

(२) कुछ अनेकवादी संबंधों की वाह्यता के आधार पर अनेक-वाद की स्थापना करते हैं। उसके विषय में हमारा कहना है कि वाह्य

संबंधों का सिद्धांत ही भयंकर दोषों से भरा हुआ है। पहले तो अनुभव ही सिद्ध करता है कि सभी संबंध वाह्य नहीं हैं, जैसे आग और मोम का संबंध। जब दोनों में संबंघ होता है तो मोम पिघलने लगता है और संबंध के अभाव में पिघलना बंद हो जाता है। यहां संबंध पदों में परिवर्तन लाता है और उस परिवर्तन के लिए संबंध पर पदों को निर्भर करना पड़ता है। ऐसे अनेक संबंध मिल सकते हैं और ये वाह्य नहीं हैं क्योंकि वाह्य संबंधों से कोई परिवर्तन नहीं होता। दूसरे, यदि सभी संबंधों को वाह्य माना ही जाय तो उनके लिए पदों को संबंधित करना असंभव हो जाता है। मान लिया कि 'क' और 'ख' दो पद हैं जिनके बीच 'स' संबंध है। 'स' बाह्य संबंध है, इसलिए 'क और 'ख' से अलग है। किन्तु जब वह उनसे अलग है तो उनके साथ उसको संबंधित करनेवाला दूसरा संबंध होना चाहिए। मान लिया कि 'क' और 'स' को संबंधित करनेवाला 'ह' है। किन्तु 'ह' भी वाह्य है, इसलिए 'क', 'स' के साथ उसको भी संबंधित करनेवाला दूसरा संबंध अपेक्षित है। इस प्रकार इस प्रक्रिया का कहीं अन्त नहीं होगा जिससे अनवस्था दोष (fallacy of infinite regress) होता है। इसका निष्कर्ष यही है कि संबंधों की बाह्यता को स्वीकार नहीं किया जा सकता। इसलिए उसपर अनेकवाद को आधारित करना सुरक्षित नहीं है।

(३) अनेकवाद वस्तुओं के पारस्परिक प्रभाव की व्याख्या भी नहीं कर सकता है। यदि हम मानते हैं कि सभी पदार्थ स्वतंत्र और तत्त्वतः एक-दूसरे से भिन्न हैं तो यह समझ में नहीं आता कि क्यों और कैसे वे एक-दूसरे को प्रभावित करते हैं। किन्तु परस्पर प्रभावित करना पदार्थों का स्वभाव है, एक पदार्थ दूसरे से प्रभावित होता है और उसे प्रभावित करता भी है। इस सत्य की कोई संगत व्याख्या अनकवाद से नहीं मिलती है।

नवाँ अध्याय

(२) एकवाद

अनेकवाद की तरह एकवाद (Monism) भी मूलतत्त्व की संख्या के विषय में एक सिद्धांत-विशेष है। इसलिए और स्पष्ट करने के लिए उसे संख्यात्मक एकवाद (Numerical Monism) कह सकते हैं। वह मानता है कि मूल तत्त्व की संख्या एक है। विश्व की आधारभूत सत्ता एक है और जो बहुलता यहां दीखती है वह परमार्थ नहीं है। हमारी इंद्रियाँ निस्सन्देह हम अनेक पदार्थों की सूचना देती हैं और इंद्रियानुभूति की सतह पर लगता है कि अनेकता अंतिम सत्य है किन्तु ऐसा समझना गलत है। इंद्रियाँ विश्वसनीय नहीं हैं क्योंकि प्रायः वे असत्य ज्ञान दिया करती हैं। हम जानते हैं कि पृथ्वी गतिशील है किन्तु इंद्रियाँ उसे स्थिर बतलाती हैं। इसी तरह विश्व में अनेकता का साम्राज्य दीख पड़ता है किन्तु वस्तुतः उसके मूल में एक ही सत्ता विद्यमान है। सारा संसार उसी पर आधारित और उसी से उद्भूत है।

एकवाद की सामान्य विशेषताएँ

संख्या-विषयक सिद्धांतों में एकवाद अनेकवाद और द्वैतवाद का विरोधी है। अनेकवाद मूल तत्त्वों को अनेक मानता है और द्वैतवाद दो। किन्तु एकवाद के लिए एक ही पदार्थ मौलिक है।

दूसरे, अनेकवाद और द्वैतवाद इंद्रियानुभूति को प्रामाणिक और उसके निष्कर्ष को सत्य मानते हैं किन्तु एकवाद सत्य ज्ञान के लिए उसे पर्याप्त साधन नहीं समझता, इसलिए उसके निष्कर्ष को प्रामाणिक नहीं मानता है।

एकवाद और अन्य सिद्धांत

प्रकृति-विषयक सिद्धांतों में किसी के साथ एकवाद का कोई स्वभावगत विरोध नहीं है। मूल तत्त्व को संख्यामें एक मानने पर प्रकृति में कुछ भी माना जा सकता है। वस्तुतः एकवादी विचारकों ने ऐसा ही किया भी है।

एकवाद के विभिन्न रूप

एकवाद की अत्पत्ति अत्यंत ही प्राचीन है। तब से आज तक उसका समर्थन होता आया है और दर्शन के इतिहास में ऐसा कोई भी युग नहीं है जिसमें उसके समर्थकों का सर्वथा अभाव हो। इन समर्थकों ने यद्यपि एकवाद के मूल सिद्धांत अर्थात मूलतत्त्व की संख्यात्मक एकता को समान रूप से अपनाया है,

एकवादी सिद्धांतों का वर्गीकरण

किन्तु अन्य विषयों में उनका एकमत नहीं है। इसका परिणाम ह कि एकवाद के कई भेद या रूप हो जाते हैं। एकवादियों में मतभेद होता है मूल तत्त्व की प्रकृति को लेकर। हम कह आये हैं कि प्रकृति के विषय में किसी सिद्धांत-विशेष को मानना एकवाद के लिए अनिवार्य नहीं है। यह स्वच्छंदता उसके समर्थकों को विभिन्न दलों में बाँट देती है। मूल तत्त्व की संख्या एक मानने पर स्वभावतः जिज्ञासा होती है कि उसकी प्रकृति क्या है। इस विषय में विभिन्न मत प्रतिपादित किए गये हैं। मोटे तौर पर इन विचारकों को दो वर्गों में रखा जा सकता है। एक वर्ग के विचारक मानते हैं कि मूल तत्त्व की संख्या एक है किन्तु

प्रकृति अनेकात्मक है, अर्थात वह अनेक गुणों या धर्मों से युक्त है। इस मत को अनेकात्मक एकवाद (Pluralistic Monism) कह सकते हैं। यहाँ पर 'अनेकात्मक' कहने का मतलब है कि मूल तत्त्व की प्रकृति अनेकात्मक है। दूसरे वर्ग के विचारकों के अनुसार मूल तत्त्व की संख्या और प्रकृति दोनों एकात्मक है अर्थात वह एक ही गुण या धर्मवाला एक पदार्थ है। प्रकृति को एकात्मक मानने वालों के अंतर्गत दो दल हो गये हैं। एक उसे केवल भौतिक मानता है और दूसरा केवल आध्यात्मिक। पहले को भौतिकवादी एकवाद (Materialistic Monism) और दूसरे को प्रत्ययवादी एकवाद (Idealistic Monism) कहते हैं। इस प्रकार एकवाद के तीन भेद हो जाते हैं।

पश्चिमी एकवाद
(१) अनेकात्मक एकवाद

इस मत का बड़ा सुन्दर उदाहरण **स्पीनोजा** (Spinoza, 1632–1677) के दर्शन में मिलता है। मूल तत्त्व के लिए उन्होंने द्रव्य (Substance) शब्द का प्रयोग किया है। उनके अनुसार द्रव्य एक है और वही परमार्थ सत्ता का अधिकारी है। वह स्वयंभू (Self-caused) तथा असीम (unlimited) है। किन्तु संख्या में एक होते हुए भी उसकी प्रकृति अनेकात्मक है क्योंकि वह अनन्त धर्मों (Attributes) से युक्त है। धर्म उसे कहते हैं जो मानवी बुद्धि के लिए द्रव्य का सार तत्त्व या उसकी प्रकृति (nature) का द्योतक है। इसलिए अनन्त धर्मों का अधिष्ठान होने के कारण द्रव्य की प्रकृति को एकात्मक नहीं कहा जा सकता। किन्तु उसके अनेक धर्मों में सिर्फ दो ही का ज्ञान मनुष्य को होता है। वे दो हैं, विचार (thought) और विस्तार (extension)। इसका मतलब है कि मूल द्रव्य विचार-वान और विस्तृत अर्थात चेतन और जड़ दोनों है। इसी द्रव्य को स्पीनोजा ईश्वर भी मानते हैं।

इसका उदाहरण प्राचीन यूनानी दार्शनिकों के सिद्धांतों में मिलता है। थेलिस, एनैक्जिमेनीज और हेराक्लीटस इसके प्रमुख समर्थक हैं। थेलिस के अनुसार जल, एनैक्जिमेनीज के अनुसार वायु और हेराक्लीटस के अनुसार अग्नि मूल तत्त्व हैं। ये तीनों विचारक एकवादी हैं क्योंकि मूल तत्त्व की संख्या एक मानते हैं और भौतिकवादी हैं क्योंकि उसकी प्रकृति को भौतिक कहते हैं।

(२) भौतिकवादी एकवाद

इसका सर्वप्रथम उदाहरण प्राचीन यूनान के एलियातिक (Eleatic) दार्शनिकों के विचारों में मिलता है। उन्हें एलियातिक इसलिए कहते हैं कि वे एलिया (Elea) नामक जगह के रहने वाल थे। उनमें **पार्मेनिडीज** (Parmenedes) सबसे प्रमुख हैं। उनका मत है कि परम तत्त्व शुद्ध सत्ता (Pure Being) है। वह एक अजन्मा, अविनाशी और स्थिर है। उसके अन्दर किसी प्रकार का भेद या अनेकत्व नहीं है। अनेकता अवास्तविक है। इन्द्रियाँ विश्व के पदार्थों को अनेक घोषित करती हैं, किन्तु वे सत्य ज्ञान का साधन नहीं हैं। सत्यज्ञान बुद्धि से होता है और बुद्धि अनेकता को नहीं बल्कि शुद्ध सत्ता को सत्य बतलाती है। यह सत्ता पूर्णतः एक है, इसलिए अनेकतापूर्ण विश्व नहीं, बल्कि शुद्ध सत्ता परमार्थ तत्त्व है। यह किसी विशेष पदार्थ की सत्ता नहीं बल्कि सत्ता मात्र है। इसलिए इसे निर्गुण या निर्विशेष कहते हैं। कुछ विद्वान पार्मेनिडीज को भौतिकवादी मानते हैं। किन्तु दर्शन के प्रतिष्ठित आचार्य जैसे हीगल (Hegel), अर्डमान (Erdmann) स्वेग्लर (Schwegler), स्टेस (W. T. Stace)* आदि के अनु-

(३) प्रत्ययवादी एकवाद

* देखिए—A Critical History of Greek Philosophy by W.T. Stace—Chapter IV.

सार उनका मत प्रत्ययवादी है। यहां पर हमने इन्हीं विद्वानों का अनुसरण किया है और स्टेस की युक्ति को हम भी स्वीकार करते हैं कि 'शुद्ध सत्ता' एक विचार या धारणा है कोई स्थूल भौतिक पदार्थ नहीं। इसलिए पार्मेनिडीज को प्रत्ययवादी एकवाद का समर्थक कहना हम उचित समझते हैं किंतु इस चेतावनी के साथ कि उनका प्रत्ययवाद सुविकसित या स्पष्ट नहीं है।

प्रत्ययवादी एकवाद का स्पष्ट उदाहरण **फिक्टे** (Fichte) **शेलिंग** (Schelling), **हीगल** (Hegel), **शोपेनहावर** (Schopenhauer) तथा कुछ आधुनिक प्रत्ययवादियों के दर्शन में मिलता है। इस परम्परा के सभी विचारक यह मानते हैं कि परमार्थ सत्ता एक है और उसकी प्रकृति पूर्णतः आध्यात्मिक है। प्रत्ययवाद के विवेचन में हमने देखा है कि हीगल के लिए मूल तत्त्व बुद्धि (Reason) है जो निरपेक्ष (Absolute) और सर्वव्यापक है। वह एक है किन्तु उसकी इकाई सरल (simple) या अमूर्त (abstract) नहीं बल्कि मूर्त (concrete) है। इसका तात्पर्य है कि वह स्वभावतः अपने को अनेकता में व्यक्त करती है। किंतु उसकी अनेकात्मक अभिव्यक्ति उसकी तात्त्विक एकता को खंडित नहीं करती, क्योंकि विभिन्न अभिव्यक्तियाँ एक ही बुद्धि की विकास-परंपरा की विभिन्न अवस्थाएँ हैं। बुद्धि की एकता को अनेक पदार्थों के रूप में अभिव्यक्त होने की शक्ति से सम्पन्न मानने के कारण हीगल के एकवाद को मूर्त एकवाद (concretemonism) की संज्ञा दी जाती है।

शोपेनहावर (Schopenhauer 1718–1860) का मत है कि मूल तत्त्व आध्यात्मिक है और एक है किंतु उसे वे बौद्धिक (rational) नहीं बल्कि संकलपात्मक (volitional) मानते हैं। उनके अनुसार परम सत्ता एक निर्पेक्ष संकल्प-शक्ति (one abso-

lute will) है। ससीम आत्माएँ तथा विश्व के भौतिक पदार्थ सभी उसी की अभिव्यक्तियाँ (manifestations) हैं। अपने आप में वह एक है किन्तु अनन्त पदार्थों के रूप में अपने को प्रकट करती है। पदार्थों की अनेकता पारमार्थिक नहीं है क्योंकि सब के मूल में एक ही संकल्प-शक्ति विद्यमान है। जड़ और चेतन दोनों में उसी का प्रकाश है, अंतर सिर्फ मात्रा का है। जड़ पदार्थों में बिलकुल अस्पस्ट रूप में वह व्यक्त होती है, वनस्पतियों में कुछ स्पष्ट होती है, पशुओं में उससे भी अधिक स्पष्ट और मनुष्यों में उसकी स्पष्टता सर्वाधिक होती है।

आधुनिक प्रत्ययवादियों में ग्रीन (T. H. Green), स्टर्लिंग (J. H. Stirling), ब्रैडले (F. H. Bradley) आदि एकवाद के प्रमुख समर्थक हैं। उनमें ब्रैडले का सिद्धांत सबसे अधिक प्रौढ़ और विकसित है। वे मानते है कि परम सत्ता पूर्णतः आध्यात्मिक, शाश्वत और अनन्त है। उसे वे एक सर्वव्यापक अनुभव (one all-inclusive experience) की संज्ञा देते है।

भारतीय एकवाद (१) प्रत्ययवादी एकवाद

भारतीय दर्शन में अनेकात्मक और भौतिकवादी एकवाद का असंदिग्ध उदाहरण नहीं है किन्तु प्रत्ययवादी एकवाद का अत्यन्त ही सुविकसित उदाहरण शंकर के अद्वैतवाद में मिलता है। उसके अनुसार परम तत्त्व ब्रह्म है जो पूर्णतः एक और आध्यात्मिक है। उसमें किसी प्रकार का अनेकत्व नहीं है। वस्तुतः अनेकता मिथ्या है, वह सत्य नहीं बल्कि प्रतीति है और उसकी प्रतीति अज्ञान के कारण होती है। शंकर के एकवाद को अमूर्त एकवाद (abstract monism) की संज्ञा दी जा सकती है क्योंकि परम सत्ता को वे विशुद्ध इकाई अर्थात अनेकता से पूर्णतः रिक्त मानते हैं। एकवाद की यह पराकाष्ठा है क्योंकि यहां सिर्फ एक अर्थात ब्रह्म

को सत्य माना जाता है और अनेकता का बिलकुल वहिष्कार होता है ।

आधुनिक भारतीय दार्शनिकों में **स्वामी विवेकानन्द, रवीन्द्रनाथ ठाकुर, सर्वपल्ली राधाकृष्णन**, आदि प्रत्ययवादी एकवाद का समर्थन करते हैं। स्थानाभाव के कारण यहां हम सिर्फ **राधाकृष्णन** के सिद्धांत का विवेचन करेंगे । वे मानते हैं कि परम सत्ता निरपेक्ष आत्मा (Absolute spirit) है जो एक, सर्वव्यापक और स्वतंत्र है। अपने को अनन्त रूपों में व्यक्त करने की शक्ति उसमें विद्यमान है। विश्व उसकी केवल एक अभिव्यक्ति है, इसलिए विश्व में वह समाप्त नहीं है । परम आत्मा स्वतंत्र है इसलिए विश्व के रूप में अपने को व्यक्त करना उसके लिए अनिवार्य या आवश्यक नहीं है। जब कभी अपने को वह व्यक्त करता है तो अपनी स्वतंत्र इच्छा से, किसी बाहरी दबाव (external pressure) या आंतरिक आवश्यकता (inner necessity) से नहीं । किन्तु चूँकि विश्व उसी की अभिव्यक्ति है जो परमार्थ तत्त्व है, विश्व को मिथ्या या भ्रम नहीं क़हा जा सकता; बल्कि वह भी वास्तविक है । परम आत्मा की अभिव्यक्ति के भिन्न-भिन्न दर्जे होते हैं। वे यों हैं : जड़ (Matter), जीव (Life), चेतन (Mind), तथा आत्म-चेतन (Self-consciousness) । जड़ सब से कम विकसित है, उससे अधिक जीव, जीव से अधिक चेतन और चेतन से भी अधिक विकसित आत्म-चेतन है ।

एकवाद की समर्थक युक्तियाँ

एकवाद का का दावा है कि विश्व के मूल में कोई एक तत्त्व है जो सारे विश्व को एक बनाए हुए है । इस कथन को पुष्ट करने के लिए एकवादियों ने अनेक तर्क पेश किया है। यहाँ उनमें से कुछ दिए जाते हैं ।

(१) मूल तत्त्व की परिभाषा करते हुए **स्पोनोजा** कहते हैं कि वही पदार्थ परमार्थ सत्ता का अधिकारी हो सकता है जो किसी दूसरे पदार्थ पर निर्भर नहीं करता हो, अर्थात जो अपने अस्तित्व का स्वयं कारण (Self-existent) हो। ऐसा पदार्थ संख्या में एक ही हो सकता है क्योंकि यदि हम दो को सत्य मानते हैं तो एक दूसरे को सीमित करेगा और इसलिए एक दूसरे पर निर्भर करेगा। किन्तु हम देख चुके हैं कि दूसरे पर निर्भर करनेवाला परमार्थ नहीं हो सकता। अतः मूलतत्त्व एक ही है क्योंकि उसे एक से अधिक मानने पर उसकी परमार्थता नष्ट हो जाती है।

(२) **हीगल** तथा उनसे प्रभावित कुछ आधुनिक प्रत्ययवादी विचारक परम तत्त्व का तार्किक विश्लेषण कर उसकी एकता स्थापित करते हैं। उनका कहना है वि वह अवश्य ही सर्वव्यापक (all-inclusive) होगा क्योंकि वह सारे विश्व का आधार है। सर्वव्यापक उसे कहते हैं जिसके हृदय में विश्व के सभी पदार्थों के लिए स्थान हो, अर्थात जिसकी परीधि के बाहर कछ भी शेष न रह जाय। किन्तु जो सर्वव्यापक होगा वह अवश्य ही एक होगा क्योंकि दो सर्वव्यापक पदार्थों की कल्पना विरोधपूर्ण (contradictory) ह। यदि हम दो सर्वव्यापक पदार्थों को स्वीकार करते हैं तो उनमें एक दूसरे के अन्दर होगा या बाहर। यदि वह उसके अंदर होगा तो उसीका अंग है, इसलिए वस्तुतः दो नहीं बल्कि एक ही सत्ता विद्यमान है। यदि एक दूसरे के बाहर है तो दोनों में कोई यथार्थतः सर्वव्यापक नहीं है क्योंकि उसकी परिधि के बाहर एक पदार्थ विद्यमान है। इसलिए परम तत्त्व या मूल सत्ता को एक मानना ही पड़ेगा नहीं तो वह सर्वव्यापक नहीं कहा जा सकेगा जो उसकी परमार्थता के लिए अनिवार्य है।

(३) मूलतत्त्व की एकता के लिए **शंकर** का तर्क भी बड़ा सुन्दर है। हमने देखा है कि उनके अनुसार मूलतत्त्व शुद्ध सत्ता है जो किसी

विशेष पदार्थ की सत्ता नहीं बल्कि सत्ता मात्र (Existence as such) है। उसकी संख्या के विषय में उनका कहना है कि वह स्पष्टतः एक है। पदार्थों में पारस्परिक भिन्नता है किन्तु उनके मूल में विद्यमान सत्ता एक ही है। घट पट से भिन्न है किन्तु घट में विद्यमान सत्ता पट में विद्यमान सत्ता से भिन्न नहीं है। इस प्रकार यद्यपि विश्व के पदार्थ अपने प्रतीयमान रूप में (apparent form) में अनेक, परस्पर भिन्न हैं किन्तु उनके मूल में एक ही सत्ता विद्यमान है।

(४) **रहस्यवादी दार्शनिक** (Mystical philosophers) रहस्यात्मक अनुभूति (Mystic experience) के आधार पर मूलतत्त्व की एकता प्रमाणित करते हैं। उनका कहना है कि परम सत्ता का यथार्थ ज्ञान अपरोक्ष आध्यात्मिक अनुभूति (Immediate spiritual experience) में होता है और उसका निर्णय है कि वह एक है। आध्यात्मिक साधना के फलस्वरूप यह अनुभूति किसी को भी प्राप्त हो सकती है, इसलिए उचित प्रयत्न करने पर इसकी यथार्थता की परीक्षा हम सभी कर सकते हैं। इस तरह की युक्ति उपनिषदों में प्रायः मिलती है। शंकर, तथा आधुनिक भारतीय प्रत्ययवादी जैसे रवींद्रनाथठाकुर, राधाकृष्णन आदि यद्यपि बौद्धिक विवेचन द्वारा मूलतत्त्व की एकता प्रमाणित करते हैं किन्तु वे भी अपरोक्षानुभूति को उसके यथार्थ ज्ञान का सर्वश्रेष्ठ साधन मानते हैं। पश्चिमी दर्शन में प्लाटीनस (Plotinus) ने रहस्यात्मक अनुभति के आधार पर परम सत्ता की एकता स्वीकार की है।

एकवाद का मूल्यांकन

एकवाद को विश्व मूलतः एक मानता है किंतु अनुभव अनेकता की वास्तविकता घोषित करता है। अनेकता की अनुभूति अति स्पष्ट

है, मनुष्य पशु, पौधे, पहाड़, आदि अनेक पदार्थों के अस्तित्व की सूचना सदा अनूभव से मिलती है। इसलिए एकवाद अनुभव का विरोधी सिद्ध होता है। यही कारण है कि उसके आलोचकों की संख्या कम नहीं है। उस पर तीव्र प्रहार किए गये हैं। रसेल तो यहां तक कहते हैं कि एकवाद अत्यन्त ही तुच्छ और निस्सार है।*

(१) हम मानते हैं कि अनेकता का अनुभव होता है और हमारी धारणा है कि इस तथ्य से मुँह मोड़कर कोई भी दार्शनिक सिद्धांत अपने को स्थापित नहीं कर सकता। वस्तुतः सभी एकवादी विचारक अनेकता को अनुभूत मानते हैं किन्तु उसे परमार्थ नहीं मानते, क्योंकि उनके अनुसार उसके मूल में एक सत्ता विद्यमान है। इसलिए उनके सामने यह प्रश्न उठता है कि यदि परमार्थ सत्ता एक है तो अनेक पदार्थों की अनुभूति क्यों होती है। इस प्रश्न के दो उत्तर एक-वादियों ने प्रस्तुत किया है। पश्चिमी दर्शन में पहला उत्तर एलियातिक (Eleatic) दार्शनिकों का है जो कहते हैं कि अनेकता मिथ्या या अवास्तविक है और दूसरा उत्तर हीगल तथा उनके अनुयायियों का है जिनके अनुसार अनेकता मूल तत्त्व की अभिव्यक्ति है। एलियातिक विचारकों के अनुसार पदार्थों की अनेकता असत्य है। उसकी अनुभूति को वे भ्रम समझते हैं। किन्तु अनेकता को मिथ्या या भ्रम कह देने से उसकी व्याख्या नहीं होती। माना कि वह भ्रम है, किन्तु भ्रम क्यों होता है? यदि मूल तत्त्व एक है तो क्यों उसे एक के रूप में न देखकर हम अनेक पदार्थों को देखते हैं? इन प्रश्नों का कोई उत्तर उन्होंने नहीं दिया है। इसलिए हमारा निष्कर्ष है कि एक से अनेक की व्याख्या ये विचारक नहीं कर पाते हैं।

---

*"The most fundamental of my intellectual beliefs is that this (i.e. monism) is a rubbish".—Bertrand Russell, The Scientific outlook. Page 98

दूसरे वर्ग में हीगल आदि हैं। उनके अनुसार मूल तत्त्व एक है किन्तु अपने को अनेक पदार्थों के रूप में व्यक्त करता है। यह अभिव्यक्ति उसके लिए स्वाभाविक और आवश्यक है। किन्तु यहां पर हम पूछते हैं कि यदि अनेकात्मक अभिव्यक्ति की शक्ति (the power of pluralistic manifestation) मूल तत्त्व के स्वभाव में ही निहित है तो वह एक नहीं रह जाता है क्योंकि उसमें बीज रूप में अनेकता विद्यमान है। एक के अंदर से अनेक तभी आ सकता है जब कि वह उसमें पहले से ही विद्यमान है। किन्तु अपने गर्भ में अनेकता को संजोनेवाला पदार्थ सचमुच एक नहीं कहा जा सकता है। इसलिए हीगल आदि का मूल तत्त्व वस्तुतः एक नहीं ठहरता है। हीगल के एकवाद में एक और कठिनाई है। उनका मूल तत्त्व सामान्य प्रत्ययों की समष्टि है। किंतु विश्व के पदार्थ सामान्य नहीं बल्कि विशेष (Particular) हैं। हमें सामान्य कलम या सामान्य मनुष्य का नहीं बल्कि किसी खास कलम या खास मनुष्य का अनुभव होता है। इसलिए स्वभावतः यह प्रश्न उठता है कि सामान्य से विशेष की उत्पत्ति कैसे होती है। हीगल के एक आलोचक पूछते है कि सामान्य से विशेष जैसे जिस कलम से अभी मैं लिख रहा हूँ उसकी उत्पत्ति कैसे होती है। हीगल इसपर झुंझला उठते हैं और कहते हैं कि दर्शन का काम इस कलम या उस मकान जैसे तुच्छ विशेषों (Petty particulars) की व्याख्या नहीं, बल्कि उनसे महान विषयों का विवेचन करना है। किंतु इससे यह समझते देर नहीं लगती कि उनकी झुंझलाहट एक से अनेक की व्याख्या की असमर्थता का ही द्योतक है। हम तो मानते हैं कि यदि मूल तत्त्व एक है तो उससे संसार के तुच्छ और महान सभी पदार्थों की व्याख्या हो जानी चाहिए अन्यथा संसार का मूल आधार होने का श्रेय उसे नहीं दिया जा सकता। इसलिए हमारा निष्कर्ष

है कि हीगल तथा उनके अनुयायी विचारक भी विश्व की अनुभूत अनेकता की व्याख्या नहीं कर पाते है। वस्तुतः पश्चिमी दर्शन में मूल तत्त्व की एकता स्वीकार करके विश्व की अनेकता की समुचित व्याख्या कोई भी विचारक नहीं दे सका है।

(२) उपर्युक्त एकवाद की दूसरी दुर्बलता है कि वह परिवर्तन की व्याख्या नहीं कर सकता है। विश्व के पदार्थ क्षण-क्षण परिवर्तित होते रहते हैं। परिवर्तित होने का अर्थ अपने से भिन्न होना होता है। जब हम कहते हैं कि 'क' में परिवर्तिन होता है तो इसका अर्थ है कि वह अपने से भिन्न जैसे 'ख' या 'ग' बन जाता है। किन्तु विश्व को मूलतः एक मानने पर परिवर्तन असंभव हो जाता है। जब कि मल सत्ता एक है तो उसका परिवर्तन नहीं हो सकता क्योंकि उससे भिन्न या उसके अतिरिक्त कोई पदार्थ है ही नहीं। इसलिए उसे अपरिवर्तनशील या स्थिर मानना ही पड़ेगा। किन्तु जब विश्व का मूल आधार ही स्थिर है तो विश्व के पदार्थों में परिवर्तन संभव नहीं है। किंतु अनुभव परिवर्तन का होता है। हमें पदार्थों के परिर्वातित होने की अनुभूति अवश्य होती है। इसलिए परिवर्तन को असंभव नहीं कहा जा सकता क्योंकि असंभव की अनुभूति भी असंभव ही हो जायगी। इस कठिनाई को दूर करने के लिए कुछ एकवादी परिवर्तन को असत्य मानते हैं। किन्तु असत्य कहने से व्याख्या नहीं होती। इसके विरूद्ध कई आपतियाँ हैं। पहले तो हम पूछते हैं कि परिवर्तन असत्य है तो उसका अनुभव क्यों होता है। दूसरे, उसे असत्य मानने पर प्रगति या विकास भी असत्य हो जाते हैं क्योंकि प्रगति में नीचे से ऊपर की ओर परिवर्तन होता है, जो असमृद्ध है वह समृद्ध होता है। किंतु प्रगति को असत्य करार करना सैद्धांतिक और व्यावहारिक दोनों दृष्टियों से अग्राह्य है। सैद्धांतिक दृष्टि से इसलिये कि विश्व का इतिहास

प्रगति की सत्यता प्रमाणित करता है और व्यावहारिक दृष्टि से इसलिये कि उसे असत्य मानने पर जीने के लिए कोई प्रेरणा नहीं रह जाती है। जब प्रगति ही असत्य है तो प्रयत्न बेकार हैं और प्रयत्नों के अभाव में मनुष्य निष्क्रिय हो जाता है।

(३) व्यक्तित्व (Individuality) और व्यक्ति-स्वातंत्र्य (Individual freedom) की व्याख्या भी एकवाद से नहीं होती है। हम सभी महसूस करते हैं कि हमारे अंदर अपना-अपना व्यक्तित्व है और एक का व्यक्तित्व दूसरे से भिन्न है। किंतु यदि हम विश्व के मूल आधार को एक मानते हैं तो हमारा व्यक्तित्व नष्ट हो जाता है क्योंकि जब मूल सत्ता ही एक है तो अनेक व्यक्तियों का अस्तित्व संभव नहीं है। इसी तथ्य को यह कहकर एकवादी विचारक व्यक्त करते हैं कि भिन्न-भिन्न व्यक्ति मूल सत्ता के विकार या पर्याय (modes) मात्र हैं। एकवादी दर्शन में बूँदों की तरह परम सत्ता में विभिन्न व्यक्तियों का अस्तित्व खो जाता जाता है। व्यक्तित्व के विनाश के साथ व्यक्ति-स्वातंत्र्य का भी नाश स्वाभाविक है। जब व्यक्ति ही नहीं है तो उसकी स्वतंत्र क्रिया-शक्ति ही कैसे सत्य हो सकती है? किंतु व्यक्ति-स्वातंत्र्य के अभाव में नैतिक आचरण निरर्थक हो जाता है। किंतु नैतिक आचरण को अर्थहीन कर देने से सामाजिक संगठन नहीं टिक सकता है। उस हालत में न तो चोर को दंडित करने के लिए ही कोई कारण है, न समाज-सेवी को पुरष्कृत करने के लिए, क्योंकि दोनों में किसी के अन्दर भी व्यक्ति-स्वातंत्र्य अर्थात कार्य करने की स्वतंत्रता विद्यमान नहीं है।

(४) एकवाद में दुख और अशुभ (pain & evil) की व्याख्या की क्षमता भी नहीं है। विश्व में दुख है, अशुभ वस्तुएँ भी हैं; वे इतनी स्पष्ट हैं कि उनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। यहां

हम पूछते हैं कि मूल तत्त्व से उनका क्या संबंध है, या तो वे उसके अन्दर विद्यमान हैं या विद्यमान नहीं हैं। यदि विद्यमान हैं तो वे मूल तत्त्व का अंग हैं और उसका अंग होने से परमार्थ हैं क्योंकि परमार्थ तत्त्व का अंग भी परमार्थ ही होगा। किंतु इस हालत में उनका विनाश असंभव हो जायगा जिसका आवश्यक परिणाम निराशावाद होगा जो जीवन के लिए बड़ा घातक है। दूसरे, यदि दुख और अशुभ मूल तत्त्व के अंदर नहीं हैं तब उनकी उत्पत्ति कैसे होती है ? इस प्रश्न का कोई समुचित उत्तर एकवाद के किसी भी पश्चिमी समर्थक के दर्शन में नहीं मिलता।

एकवाद की उपर्युक्त आलोचना से यही जान पड़ता है कि उसमें विश्व की व्याख्या करने का सामर्थ्य नहीं है। किंतु हमारी धारणा है कि यह निष्कर्ष पश्चिमी एकवाद के विषय में ही सत्य है। हम मानते हैं कि वह उपर्युक्त दोषों से ग्रसित है इसलिये उसे स्वीकार नहीं किया जा सकता। किंतु जब हम भारतीय एकवाद की ओर देखते हैं तो पाते हैं कि शंकर का अद्वैतवाद उक्त दोषों से मुक्त है और विश्व की व्याख्या करने में सफल है। हमारा विश्वास है कि शांकर मत का निष्पक्ष अध्ययन इस कथन की सत्यता अवश्य प्रमाणित करेगा। शंकर मानते हैं कि मूल तत्त्व ब्रह्म है जो शुद्ध इकाई है। अनुभूत अनेकता तथा परिवर्तन, दुःख-अशुभ, वैयक्तिक विभिन्नता आदि को वे स्वीकार करते हैं किन्तु उन्हें सत्य नहीं बल्कि प्रतीति (appearances) भर मानते हैं। वे सत्य नहीं हैं क्योंकि उनमें सत्य होने का लक्षण, अर्थात सार्वभौमता और चिरन्तनता नहीं हैं। यहां यही प्रश्न है कि उनकी प्रतीति क्यों होती है। इसके लिए शंकर का उत्तर है कि उसका कारण अज्ञान है। अज्ञान से भ्रम की उत्पत्ति आम घटना है। एलियातिक विचारकों ने भी अनेकता परिवर्तन आदि को असत्य कहा था

किन्तु उनके अस्तित्व या अनुभव की व्याख्या वे नहीं कर सके थे। शंकर की विशेषता यही है कि वे उन्हें परमार्थ या परम सत्य नहीं मानते हैं किन्तु उनकी अनुभूति की व्याख्या कर देते हैं। इस अनुभूति का कारण अज्ञान या माया है। माया को स्वीकार करने से कुछ लोग आक्षेप करते हैं कि तब तो ब्रह्म और माया दो परम तत्त्व हो जाते हैं। किन्तु यह आक्षेप गलत है क्योंकि माया परमार्थ नहीं है। वह तो अज्ञानस्वरूप है, इसलिए ज्ञान द्वारा उसका नाश निश्चित है। अतः वह नाशवान है और जो नाशवान है वह परमार्थ नहीं हो सकता। इस प्रकार ब्रह्म ही एकमात्र सत्ता है। संसार के प्राणियों के अंदर जो आत्मा है वह भी अपने शुद्ध रूप में ब्रह्म ही है, केवल अज्ञान का पर्दा पड़ जाने से आत्मा अनेक लगता है और कई दोषों से युक्त मालूम पड़ता है। इस पर्दे के हटते ही वह अपना मौलिक रूप को प्राप्त करता है। आत्मा और ब्रह्म की एकता सिद्ध कर शंकर का दर्शन आशावाद का संचार करता है। जब आत्मा ही ब्रह्म है तो ब्रह्म का सारा ऐश्वर्य आत्मा का ही है। आशावाद के लिये इससे बढ़कर दूसरा आधार क्या हो सकता है? इस प्रकार हमारा निष्कर्ष है कि शंकर का अद्वैतवाद या प्रत्ययवादी एकवाद सैद्धांतिक और व्यावहारिक दोनों दृष्टियों से सर्वश्रेष्ठ है।

दसवां अध्याय

विश्वविज्ञान

विषय-प्रवेश

विश्व-विज्ञान का मुख्य उद्देश्य विश्व-विषयक जिज्ञासा को शांत करना है। विश्व का अर्थ देश और काल में व्याप्त समस्त पदार्थों की समष्टि है। इसलिए विश्व से केवल मनुष्य की दुनिया या पृथ्वी (Earth) का ही बोध करना ठीक नहीं है। यहां पर हम भी व्यापक अर्थ में अर्थात सभी ग्रह-नक्षत्रों की समष्टि के अर्थ में विश्व शब्द का प्रयोग कर रहे हैं। किन्तु चूंकि अपनी दुनियां से हमारा संबंध अधिक है हमारी जिज्ञासा का उसमें केंद्रित होना स्वभाविक है।

संसार में हमें चार प्रकार के पदार्थ मिलते हैं: (१) जड़, (२) जीव, (३) चेतन, और (४) आत्म-चेतन। ईंट, पत्थर आदि जड़ हैं। पेंड़-पौधे सजीव हैं किन्तु उनमें चैतन्य का अभाव है। पशु-पक्षी सजीव हैं और चेतन भी किन्तु आत्म-चेतन नहीं। आत्म-चेतन उसे कहते हैं जिसे अपनी चेतना की चेतना प्राप्त रहती है। मनुष्य आत्म-चेतन है। विश्व के पदार्थों को अनुभव परिवर्तनशील बतलाता है। कोई भी पदार्थ ऐसा नहीं मिलता जो सदा एक समान ही रहता हो। महात्मा बुद्ध ने इसी सत्य की ओर इंगित किया था जब उन्होंने विश्व की तुलना नदी की धारा से की थी क्योंकि धारा कभी एकरस नहीं रहती है।

विश्व-विज्ञान में हम इसी परिवर्तनशील विश्व के स्वरूप को समझने का प्रयत्न करते हैं। इस प्रयत्न के फलस्वरूप अनेक सिद्धांत प्रतिपादित किए जाते हैं जो विश्व-संबंधी विभिन्न विषयों का विवेचन करते हैं। यहां पर हम कुछ महत्त्वपूर्ण सिद्धांतों का वर्णन करेंगे।

विश्व की उत्पत्ति

(१) सृष्टिवाद

विश्व के विषय में अनेक प्रश्न उठते हैं किन्तु उसकी उत्पत्ति का प्रश्न सबसे अधिक आकर्षक और महत्त्वपूर्ण है। यह बात विश्व-विज्ञान के इतिहास से प्रमाणित होती है क्योंकि सदा से ही मनुष्य संसार की उत्पत्ति जानने के लिये व्यग्र रहा है। वह जानना चाहता है कि उसका संसार कैसे उत्पन्न हुआ है। संसार से मतलब वर्तमान संसार से है। अतः जो संसार का अभी रूप है वह क्यों और किस प्रकार उत्पन्न हुआ है? इस प्रश्न के दो उत्तर दिए गये हैं जिनसे दो सिद्धांत उत्पन्न होते हैं: **सृष्टिवाद** (creationism) और **विकासवाद** (evolutioism)।

सृष्टिवाद की सामान्य विशेषताएं

सृष्टिवाद (creationism) के अनुसार विश्व की उत्पत्ति सृष्टि (creation) का परिणाम है। सृष्टि के लिए स्रष्टा (creator) आवश्यक है। इसलिए स्रष्टा के अस्तित्व में वह विश्वास करता है। स्रष्टा ईश्वर है। ईश्वर सर्वशक्तिमान, सर्वज्ञ तथा सर्वांतर्यामी है। इसके अन्दर किसी प्रकार की कमी या अपूर्णता का लेश-मात्र भी नहीं है। वह अनादि, अजन्मा और अनश्वर है। आज हम जिस रूप में विश्व को देख रहे हैं उसी रूप में उसकी सृष्टि हुई है, अतः सृष्टि होने के बाद से आजतक विश्व का रूप बदला नहीं है। भला उस सर्व-

शक्तिमान रचयिता द्वारा दिए गए रूप को बदल देने की क्षमता किनमें है ? अतः विश्व अपरिवर्तनशील है। सृष्टि के पहले विश्व का अस्तित्व नहीं रहता है। आरंभ में केवल ईश्वर ही रहता है और उसके अंदर सिसृक्षा—सृष्टि करने की इच्छा—होते ही सृष्टि-कार्य संपन्न हो जाता है। सृष्टि-कार्य का संपादन क्रमिक नहीं बल्कि एक-ब-एक होता है। ऐसा नहीं कि सृष्टि के लिए ईश्वर को लगातार वर्षों तक परिश्रम करना पड़ता है, बल्कि उसे वह लहमे भर में पूरा कर देता है। चूंकि विश्व के सभी पदार्थों की सृस्टि ईश्वर ने की है इसलिए उनके पारस्परिक भेद मौलिक (original) और सारभूत (fundamental) हैं। पदार्थों में भेद हैं क्योंकि स्रष्टा ने ही उन्हें भिन्न कर दिया है। उनकी भिन्नता कभी मिट नहीं सकती क्योंकि उसका आदि कारण ईश्वर है जिसकी कृति कभी मिट नहीं सकती। अतः भिन्न पदार्थ सदा भिन्न रहेंगे। न कभी बंदर मनुष्य हो सकता है न मनुष्य बंदर क्योंकि बंदर को बंदर और मनुष्य को मनुष्य बनानेवाला ईश्वर है। इस प्रकार सृष्टिवाद का सारांश यह है कि वह (१) ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास करता है, (२) विश्व को अपरिवर्तनशील और (३) विश्व की रचना या सृष्टि को एक-ब-एक मानता है तथा (४) विश्व के पदार्थों के भेद को पारमार्थिक समझता है।

सृष्टिवाद के विभिन्न रूप

सृष्टि की प्रक्रिया (process) के विषय में सृष्टिवादियों में मतभेद हैं जिससे सृष्टिवाद के कई रूप हो जाते हैं। उसके मुख्य तीन रूप हैं जिनका उल्लेख करना हम आवश्यक समझते हैं। (१) एक प्रकार का सृष्टिवाद वह है जो मानता है कि ईश्वर सृष्टि का केवल निमित्त कारण है और उपादान कारण कुछ दूसरा ही

है। इस मत के अनुसार ईश्वर के अतिरिक्त भूत या जड़-तत्त्व भी है जो उसी की तरह परमार्थ है—वही विश्व का उपादन कारण है, उसी को विभिन्न रूपों में काट-संवार कर संसार के अनेक पदार्थों का निर्माण ईश्वर करता है। यहां ईश्वर उस मूर्तिकार की तरह है जो अपने से इतर अस्तित्व रखनेवाले पत्थर के टुकड़े से मूर्ति गढ़ डालता है ऐसा मत प्लेटो के दर्शन में मिलता है क्योंकि वे मानते हैं कि भूत (matter) विश्व का उपादान करण और ईश्वर निमित्त कारण है। ईसाई धर्म (christianity) के प्राचीन धर्म-ग्रंथों में भी सृष्टि की ऐसी व्याख्या मिलती है। भारतीय साहित्य में वैशेषिक दर्शन मानता है कि ईश्वर के साथ-साथ जड़-परमाणु (atoms) भी पदार्थ हैं और उन्हें ही भिन्न-भिन्न रूप में संगठित या सजाकर भौतिक पदार्थों की सृष्टि वह करता है।

(२) सृष्टिवाद का दूसरा भेद वह है जिसके अनुसार विश्व का एकमात्र कारण ईश्वर है। ईश्वर के अतिरिक्त कोई पदार्थ परमार्थ नहीं है। ईश्वर के अतिरिक्त किसी दूसरे पदार्थ को विश्व के उपादन कारण के रूप में परमार्थ मानने का परिणाम ईश्वर को सीमित करना या उसकी सर्वशक्तिमत्ता को अस्वीकार करना है। इसका मतलव यही है कि विश्व का पर्याप्त कारण वह नहीं है क्योंकि अपने से भिन्न पदार्थ, अर्थात भूत, की सहायता से वह सृष्टि करता है। किन्तु ईश्वर की सर्व-शक्तिमत्ता को इनकार करना उसके ईश्वरत्व को ही इनकार करना है। इसलिए अकेले ईश्वर को ही परमार्थ और विश्व का पर्याप्त कारण मानना उचित है। इस सिद्धांत के अनुसार बिना किसी बाहरी सहायता के अपने-आप वह सृष्टिकार्य संपन्न कर डालता है। इस मत का उदाहरण ईसाई धर्म के उत्तरकालीन ग्रंथों में मिलता है। ओरिजेन (Origen 185–254), सेंट अगस्टाइन (St. Augstine 354–430), आदि धार्मिक विचारक भी इसे अपनाते हैं। इस मत के माननेवालों के अनुसार

सृष्टि के पूर्व केवल ईश्वर विद्यमान रहता है और अपनी इच्छा मात्र से बिना किसी वाह्य उपादन के सिर्फ शून्य (void) से सारे विश्व का निर्माण वह कर देता है।

(३) तीसरे प्रकार का सृष्टिवाद भारतीय दार्शनिक रामानुजाचार्य के दर्शन में मिलता है। उसके अनुसार विश्व का एकमात्र कारण ईश्वर है और ईश्वर के अतिरिक्त कोई पदार्थ परमार्थ नहीं है। यहां तक उपर्युक्त मत से उसका एकमत है किन्तु शून्य से सृष्टि को वह स्वीकार नहीं करता है। वह मानता है कि विश्व की सृष्टि ईश्वर अपने अन्दर से, अर्थात अपने अंगों से करता है। रामानुज कहते हैं कि विश्व का निमित्त और उपादान कारण दोनों ईश्वर ही है। उसके दो अंग हैं, चित् (spirit) और अचित् (matter); उन्हीं से वह विश्व का निर्माण करता है।

सृष्टिवाद का मूल्यांकन

आधुनिक युग में सृष्टिवाद को स्वीकार करनेवालों की संख्या नहीं के बराबर है। इसका कारण है कि यह युग विज्ञान का है और वैज्ञानिक अनुसंधानों ने सृष्टिवाद को अग्राह्य सिद्ध कर दूसरा सिद्धांत (विकासवाद) प्रस्तुत किया है जो उससे अधिक उपयुक्त और समीचीन है। इसलिए वस्तु-स्थिति यह है कि धर्मप्राण व्यक्तियों के सिवा और कोई सृष्टिवाद की ओर आज आकृष्ट नहीं होता है।

बौद्धिक दृष्टि से परीक्षा करने पर सृष्टिवाद में कई त्रुटियाँ मिलती हैं। वह ईश्वर को विश्व का स्रष्टा मानता है। ईश्वर के अस्तित्व को वह अनुभूत पदार्थों की उपमा द्वारा प्रमाणित करता है। उसका कहना है कि सभी वस्तुओं का कोई निर्माता अश्वय होता है, जैसे मूर्ति का मूर्तिकार, कुर्सी का बढ़ई, पुस्तक का लेखक, इत्यादि। इसलिए विश्व का कोई निर्माता होगा ही और उसकी विशालता

को देखकर उसके रचयिता को असीम और सर्वशक्तिमान मानना ही पड़ेगा। यही रचयिता ईश्वर है। इस तर्क के विषय में हमारा कहना है कि इससे ईश्वर का अस्तित्व प्रमाणित नहीं होता किन्तु ईश्वर के अस्तित्व के संदिग्ध होने पर सृष्टिवाद की स्थापना नहीं हो सकती। इसके विपक्ष में हमारा तर्क है कि (१) पहले तो यहीं कहना कि सभी पदार्थों का स्रष्टा होता है ठीक नहीं है क्योंकि सबके स्रष्टा का अनुभव हमें नहीं होता है। नदी, सागर, पर्वत, आदि के निर्माता को हमने कभी देखा नहीं है। (२) दूसरे, यदि माना जाय कि सभी पदार्थों का कोई निर्माता है तो यह नियम ईश्वर के विषय में भी लागू होना चाहिए, अर्थात उसका भी निर्माता होना चाहिए; फिर उस निर्माता का निर्माता, फिर उसका भी निर्माता, इत्यादि। इस तरह यहां अनवस्था-दोष (fallacy of infinite regress) होता है। इससे बचने के लिए सृष्टिवादियों का कहना है कि ईश्वर अजन्मा या अकारण (uncaused) है। किन्तु ऐसा मानना तो पहले सिद्धांत (अर्थात सभी वस्तुओं का स्रष्टा होता है) को तिलांजलि दे देना है। (३) और, यदि ईश्वर को अकारण मानने में कोई आपत्ति नहीं है तो विश्व को ही आकारण क्यों नहीं मान लिया जाय? इसकी कोई जरूरत नहीं है कि अनुभूत विश्व से एक कदम और आगे बढ़ कर ईश्वर को स्वीकार किया जाय और उसे अनादि या अजन्मा कहा जाय। (४) यदि हम मान भी लें कि ईश्वर का अस्तित्व है और वह विश्व का स्रष्टा है तो भी कठिनाइयों का अंत नहीं होता है। अब प्रश्न होता है कि सृष्टि वह क्यों करता है। सृष्टिवाद ईश्वर को पूर्णतः पूर्ण मानता है। इसका मतलब है कि उसे किसी चीज की आवश्यकता नहीं है। किन्तु तब संसार का निर्माण वह क्यों करेगा? इसका कोई युक्तिसंगत उत्तर सृष्टिवाद नहीं देता

है। उसके कुछ समर्थकों का मत है कि वह लीला के लिए सृष्टि करता है। किन्तु यहां पूछा जा सकता है कि लीला ही वह क्यों करता है। यदि लीला किए बिना नहीं रह सकता तब तो वह पूर्ण नहीं है क्योंकि उसे लीला की अपेक्षा है। इस कठिनाई से बचने के लिए कुछ सृष्टिवादी कहते हैं कि यह समझना हमारी बुद्धि के परे है कि सृष्टि क्यों होती है। किन्तु ऐसा मानना तो दर्शन और विज्ञान दोनों का अंत कर देना है।

(५) ईश्वर को स्रष्टा मानने पर यह भी सवाल उठता है कि सृष्टि वह कहां से करता है। हमने देखा है कि इस विषय में तीन मत हैं। एक के अनुसार वह अपने से भिन्न जड़ तत्त्व से विश्व-निर्माण करता है। किन्तु इसकी त्रुटि यह है कि ऐसा मानने से ईश्वर सीमित हो जाता है। दुसरा मत शून्य से सृष्टि मानता है। किन्तु यह और भी असंगत लगता है। शून्य या असत् (Nothing) से कुछ उत्पन्न होते न कभी हम देखते हैं न उसे सोच ही सकते हैं। सचमुच जो शून्य अर्थात 'कुछ नहीं' है उससे 'कुछ' की उत्पत्ति अचिंतनीय जान पड़ती है। इस विषय में तीसरा मत रामानुज का है जिनके अनुसार ईश्वर के अंशों से सृष्टि होती है। इसका निष्कर्ष होता है कि सांसारिक पदार्थों में जो परिवर्तन होते हैं वे ईश्वर के ही अंगों के परिवर्तन हैं, अर्थात ईश्वर परिवर्तनशील है, नित्य नहीं। किन्तु रामामुज उसे नित्य कहते हैं। इसलिए उनके विचारों में अंतर्विरोध है। दूसरे, ईश्वरीय अंशों से संसार की सृष्टि मानने से सांसारिक जीवों के सुख-दुख, ज्ञान-अज्ञान, दोष-अपराध आदि भी ईश्वर के विशेषण हो जायेंगे। किन्तु इससे युक्त होनेपर ईश्वर का ऐश्वर्य कहां रहा ?

(६) वस्तुतः विश्व में दुःख, दैन्य, अपूर्णता, अभाव आदि अशुभ

वस्तुओं की उपस्थिति रामानुज के लिए ही नहीं बल्कि सृष्टिवाद के सभी समर्थकों के लिए ऐसी समस्या प्रस्तुत करती है जिसकी युक्तिसंगत व्याख्या उनके सामर्थ्य के बाहर है। वे ईश्वर को पूर्णतः शुभ मानते हैं। किन्तु शुभ से अशुभ की उत्पत्ति असंभव है। अतः ईश्वर को विश्व का स्रष्टा मानने पर अशुभ की व्याख्य नहीं हो सकती है। प्लेटो (Plato) की तरह ईश्वर के अतिरिक्त किसी भिन्न पदार्थ, जैसे जड़, से अशुभ की उत्पत्ति यदि मानी जाय तो भी समाधान नहीं होता है। प्लेटो (Plato) के लिये अशुभ का कारण जड़ तत्त्व (Matter) है, किन्तु हम देख चुके हैं कि ऐसा मानने पर ईश्वर सीमित हो जाता है।

(७) सृष्टिवाद विश्व की परिवर्तनशीलता को अस्वीकार करता है, किन्तु हमारा अनुभव सभी पदार्थों को परिवर्तनशील घोषित करता है। सभी सृष्टिवादी यह मानते हैं कि संसार की उत्पत्ति लाखों वर्ष पहल हुई थी। यहां हमें यही कहना है कि जहां तक अनुभव की पहुँच है, कोई पदार्थ ऐसा नहीं मिलता जो महीना-दो-महीना भी एक समान रहे। इसलिए विश्व को अपरिवर्तनशील मानना उचित नहीं है। परिवर्तन को असत्य माननें से विकास भी असत्य हो जाता है। किन्तु विकास की सत्यता अत्यन्त ही स्पष्ट है। यह किसी को स्वीकार करने में आपत्ति नहीं हो सकती कि आज का मनुष्य विद्या-बुद्धि, शक्ति-सामर्थ्य आदि में गुहा-मानव (cave-man) से अधिक विकसित है।

ग्यारहवाँ अध्याय

(२) विकासवाद

विश्व की उत्पत्ति-विषयक प्रश्न का दूसरा उत्तर विकासवाद (Evolutionism) है। आजकल यही सिद्धांत अधिकांश लोगों को मान्य है। इसके अनुसार वर्तमान विश्व एकाएक उत्पन्न नहीं हुआ है, बल्कि युग-युगांतर से चली आती विकास-परंपरा का परिणाम है। विश्व सतत विकास-शील है और जो कुछ अभी है, वह अब तक के विकास का फल है। इस प्रकार वर्तमान भूत का और भविष्य वर्तमान का परिणाम है। विकास की यह परंपरा कभी रुकनेवाली नहीं है, बल्कि कभी भी न सूखने वाली नदी की तरह अनवरत प्रवाहशील है।

विकासवाद की सामान्य विशेषताएँ

विकास-प्रक्रिया (process of evoluti n) परिवर्तन की प्रक्रिया (process of change) है। विकासवाद मानता है कि परिवर्तित होना विश्व के पदार्थों का सामान्य लक्षण है। उसका कहना है कि विकसित होना या परिवर्तित होना विश्व की प्रकृति में निहित है। इस प्रकार विकसित होने का अर्थ परिवर्तित होना है। विकास-प्रक्रिया में जो परिवर्तन होते हैं वे अटूट और अनवच्छिन्न (continuous) होते हैं, अर्थात परिवर्तन की दो अवस्थाओं में विच्छेद या अन्तराय (gap) नहीं होता। अतः विश्व उस सरिता की तरह है जिसकी सभी तरंगें एक दूसरे से जुटी हुई हैं। इसी तथ्य को

व्यक्त करने के लिये प्रो० कंगर (Prof. G. P. Conger) ने कहा है कि विकास प्रकिया की विशेषता क्रमिक परिवर्तन (serial change) है।*

अंग्रेज दार्शनिक स्पेंसर (Herbert Spencer, 1820–1902) ने विकास-प्रक्रिया की तीन विशेषताएँ बतलायी हैं: (१) संयोजन (Integration), (२) विभाजन (Defferentiation), तथा (३) व्यवस्थापन (Determination)। इन विशेषताओं को अधिकांश विकासवादी स्वीकार करते हैं, यद्यपि कुछ लोगों ने इनका नामकरण भिन्न तरीके से किया है। संयोजन संयुक्त होने की क्रिया को कहते हैं। इससे स्पेंसर का आशय है कि विकास-परंपरा में संयक्त होने की प्रवृत्ति है, अर्थात जो पदार्थ पहले असंबद्ध रहते हैं वे संयुक्त होते हैं और उनके संयुक्त होने से नये पदार्थों का निर्माण होता है। विभाजन विभक्त होने की क्रिया का नाम ह। किन्तु इसके चलते विनाश नहीं होता। संयोजन और विभाजन दोनों मिलकर एक व्यवस्थित अवस्था की स्थापना करते हैं। इन दोनों के जरिये विकास-प्रक्रिया अव्यवस्थित और अस्पष्ट (implicit) से व्यवस्थित और स्पष्ट (explicit) तथा अनिश्चित से निश्चित की ओर अग्रसर होती है। इसलिए व्यवस्थापन अर्थात व्यवस्था स्थापित करने की प्रवृत्ति विकास की तीसरी विशेषता है। उदाहरण के लिए जीवित शरीर को लिया जा सकता है। उसमें संयोजन, विभाजन और व्यवस्थापन तीनों वर्तमान हैं। उसके अन्दर अनेक जीव-कोषों (living cells) का संयोजन हुआ है। किन्तु विभाजन की क्रिया भी हुई है क्योंकि उसके अंगों में परस्पर भेद

---

* देखिये,

New Views of Evolution by G. P. Conger, Chapter II.

है, जैसे आँख केवल देखती है, सुनती नहीं। इस भेद के रहते हुए भी सभी अंग एक दूसरे को प्रभावित करते हैं और मिलकर शरीर की रक्षा करते हैं। शारीरिक क्रियाएँ व्यवस्थित या सुसंगठित रूप में होती हैं। इसलिये शरीर में व्यवस्थापन का लक्षण भी विद्यमान है। यही व्यवस्थापन विकास को विनाश से भिन्न करता है। विनाश में विभाजन होता है किन्तु व्यवस्था का अभाव रहता है।

पहले के विकासवादी विकास प्रक्रिया को एकमुखी मानते थे। वे समझते थे कि वह सदा सरल (simple) से जटिल (complex) की ओर अग्रसर होती है; अर्थात जो सरल है वह विकसित होकर जटिल होता है और उसकी जटिलता उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है। किन्तु आधुनिक विचारक ऐसा नहीं मानते। उनके अनुसार विकास की गति कभी सरल से जटिल तो कभी जटिल से सरल दोनों तरफ होती है। प्रो० ड्रेक (Durant Drake) बतलाते हैं कि ऐसे भी जीव मौजूद हैं जो अपने पूर्वजों की अपेक्षा अधिक सरल हैं तथा बहुत से जटिल जीव नष्ट हो गये हैं और सरल बच गये हैं।* घोड़े का उदाहरण देकर वे कहते हैं कि वर्तमान घोड़े का पैर उसके प्राचीन पूर्वजों से सरल हो गया है क्योंकि उसके पैर में सटा हुआ खुर होता है जबकि प्राचीन घोड़े के पैरों में पाँच उँगलियाँ होती थीं। इस प्रकार आधुनिक विद्वान विकास की गति को एकमुखी मानना उचित नहीं समझते हैं।**

---

* देखिए,

Invitation to Philosophy by Durant Drake. Page 288.

**"....The process is not in one line, or unilinear and not in one direction, or uni-directional."—G P. Conger, वही, पेज ६.

विश्व के विभिन्न पदार्थों में विकासवाद कोई मौलिक भेद नहीं मानता है। उसके अनुसार आरंभ में विश्व अत्यन्त ही अविकसित था और उसके क्रमिक विकास से जीव-अजीव, चेतन-अचेतन आदि उत्पन्न हुए हैं। इसलिए उनका भेद पारमार्थिक नहीं है क्योंकि सभी एक ही बीज के विभिन्न प्रस्फुटित रूप हैं। उदाहरण के लिए मनुष्य को हम ले सकते हैं। वह मानता है कि मनुष्य और पशुओं में कोई मौलिक भेद नहीं है, क्योंकि मनुष्य के निकटतम पूर्वज बंदर हैं। अतः जो पहले बंदर थ वही आज मनुष्य हैं।

उपर्युक्त विवेचन से साफ-साफ सूचित होता है कि कई महत्त्व-पूर्ण विषयों में विकासवाद का सृष्टिवाद से वैषम्य है। (१) सृष्टिवाद

विकासवाद और सृष्टिवाद

विश्व की उत्पत्ति को एकाएक (sudden) तथा उसके स्वरूप को अपरिवर्तनशील मानता है। किंतु विकासवाद के लिए उसकी उत्पत्ति क्रमिक और उसका स्वरूप परिवर्तनशील है। (२) सांसारिक पदार्थों के भेद को सृष्टिवाद मौलिक मानता है, परन्तु विकासवाद ऐसा नहीं मानता। (३) सृष्टिवाद के लिए स्रष्टा ने ही विभिन्न जीव-योनियों (living species) को अलग-अलग बना दिया है। किन्तु विकासवाद के लिए मूलतः वे अलग-अलग नहीं हैं, बल्कि एक ही प्रकार के जीवकोषों से विकसित हुई हैं। (४) जीव-योनियों को सृष्टिवाद चिरंतन मानता है। अतः उसके लिये जो अभी बंदर हैं वे सदा बंदर ही रहेंगे। किन्तु विकासवाद के अनुसार यह सत्य नहीं है, एक योनि के जीव परिवर्तित होकर भिन्न योनि का रूप ले सकते हैं। अतः बंदर बंदर से भिन्न अर्थात मनुष्य हो सकते हैं। (५) सृष्टिवाद के लिये ईश्वर में विश्वास अनिवार्य है, क्योंकि वही स्रष्टा है। किन्तु विकासवाद कें लिये यह आवश्यक नहीं है। वह ईश्वर को मान भी सकता है और नहीं भी। कुछ विकास-

वादी हैं, जो ईश्वर को मानते हैं जबकि दूसरे उसे अनावश्यक समझते हैं।

विकासवाद की समर्थक युक्तियाँ

विकासवाद का समर्थन दर्शन और विज्ञान दोनों करते हैं। हम जानते हैं कि विज्ञानों के विषय विश्व के भिन्न-भिन्न क्षेत्र हैं और दर्शन का विषय समग्र विश्व है। विज्ञानों के निष्कर्षों को सारे विश्व के प्रसंग में देखकर उनके आधार पर वह ऐसे सिद्धांतों को प्रतिपादित करता है जो समग्र विश्व के विषय में लागू होते हैं। विकासवाद की स्थापना में दर्शन और विज्ञान का यह संबंध अत्यंत ही स्पष्ट मालूम पड़ता है। अपने क्षेत्र में काम करते हुए हरएक विज्ञान इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि उस क्षेत्र-विशेष में सब कुछ विकास का परिणाम है। अतः विश्व के विभिन्न क्षेत्र-विशेषों के विकासशील होने की बात विज्ञान प्रमाणित करते हैं। दर्शन विज्ञान के विकासवादी निष्कर्षों को समग्र विश्व की दृष्टि से देखकर इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि सारा विश्व विकासशील है।

विकासवाद की स्थापना के लिए दर्शन और विज्ञान दोनों ने तर्क पेश किया है। यहां उनके कुछ तर्कों को हम प्रस्तुत करेंगे। उनके तर्क कुछ वैसी घटनाओं या वस्तुओं की ओर संकेत करते हैं जिनकी व्याख्या विकासवाद को स्वीकार किए बिना नहीं हो सकती।

(१) भूगर्भ-विज्ञान (Geology) अपने अनुसंधानों के बल पर आज इस निष्कर्ष पर पहुँचा है कि अभी जो पृथ्वी (Earth) का रूप है वह लाखों वर्षों के क्रमिक विकास का फल है। पृथ्वी के अंदर अनेक कड़ी सतहें विद्यमान हैं। इन सतहों का निर्माण

काल-क्रम में तरल पदार्थों के कड़े होने से होता है। जो पहले तरल था वह कड़ा होते-होते पत्थर-सा बन जाता है और एक के बाद दूसरा आता रहता है जिससे पत्थरों की कई सतहें बन जाती हैं। यही पृथ्वी का इतिहास है। इसका मतलब यही है कि उसके वर्तमान रूप की सृष्टि एक-ब-एक नहीं हुई है बल्कि इस रूप को प्राप्त करने में बहुत समय लगा है।

(२) खगोल-विज्ञान (Astronomy) सारे आकाश-मंडल को विकास का परिणाम बतलाता है। उसके अनुसंधान इस बात की स्थापना करते हैं कि सूर्य, चंद्र, आदि किसी का आरंभिक रूप आज-जैसा नहीं था बल्कि सभी नक्षत्र, ग्रह, उपग्रह, आदि क्रमिक विकास के फल हैं।

(३) उपर्युक्त विज्ञानों की तरह जीव-विज्ञान (Biology) के अनुसंधान भी उसके क्षेत्र में विकासवाद की सत्यता प्रमाणित करते हैं। आज उसका सर्वमान्य सिद्धांत है कि जीव का क्रमिक विकास होता है। आरंभ में जीव नहीं था। विकास-क्रम में जब पृथ्वी जीवित प्राणियों के रहने लायक हुई तो उस पर जीव का प्रादुर्भाव अत्यंत ही सूक्ष्म और सरल रूप में हुआ, और तभी से विकसित होते रहने का फल है कि आज हम अनेक प्रकार के जटिल से जटिल जीवों को पाते हैं।

(४) विज्ञानों के निष्कर्षों को लेकर कुछ दार्शनिकों ने सारे विश्व को विकासशील प्रमाणित किया है। उनका कहना है कि विश्व के विभिन्न क्षेत्रों में विकास होता है इसलिए यह अनुमान न्यायोचित है कि सारा विश्व ही विकासशील है। यह अनुमान कोरी कल्पना नहीं बल्कि सत्य सिद्ध होता है क्योंकि इसके आधार पर विश्व-प्रक्रिया की समुचित व्याख्या प्राप्त होती है। अतः विकास-सिद्धांत सत्य है क्योंकि समग्र विश्व की, उसके सभी

पहलुओं की, पर्याप्त व्याख्या प्रस्तुत करने में वह सफल है। इस तरह का तर्क अलेक्जेंडर (S. Alexander) तथा कुछ अन्य आधुनिक विकासवादियों ने दिया है और अपने दर्शन में विकास-सिद्धांत के आधार पर विश्व की व्याख्या कर के उसकी वास्तविक सत्यता सिद्ध करने की चेष्टा की है।

विकासवाद के विभिन्न रूप

हम देख चुके हैं कि विकासवाद का समर्थन दर्शन और विज्ञान दोनों करते हैं। इसलिए सर्वप्रथम उसके दो भेद हम करेंगे : दार्शनिक विकासवाद (Philosophical Evolutionism) और वैज्ञानिक विकासवाद (Scientific Evolutionism)। दार्शनिक विकासवाद के अंतर्गत वे सिद्धांत हैं जो समग्र विश्व की विकासवादी व्याख्या करते हैं और वैज्ञानिक विकासवाद के अंदर वे जो विश्व के किसी क्षेत्र-विशेष की।

दार्शनिक विकासवाद और वैज्ञानिक विकासवाद

(१) दार्शनिक विकासवाद

दर्शन के अन्य सिद्धांतों की तरह विकासवाद के विषय में भी दार्शनिकों का एकमत नहीं है। विकास को सभी मानते हैं किन्तु विकास-प्रक्रिया के स्वरूप के विषय में उनके विचार भिन्न-भिन्न हैं। इसलिए दार्शनिक विकासवाद के कई रूप हो जाते हैं जिनमें निम्नलिखित मुख्य हैं : (१) यंत्रवादी विकासवाद (The theory of mechanical evolution), (२) प्रयोजनवादी विकासवाद (The theory of teleological or finalistic evolution), (३) सृजनात्मक विकासवाद (The

दार्शनिक विकासवाद के विभिन्न रूप

theory of creative evolution), (४) नव्योत्क्रांतिवाद (The theory of emergent evolution), और (५) समष्टिवाद (The theory of holistic evolution)

(१) **यंत्रवादी विकासवाद** यंत्रवाद (Mechanism) और विकासवाद (Evolutionism) दो सिद्धांतों के मेल से बना है। उसके अनुसार विश्व यंत्रवत (Mechanical) और विकासशील है। यंत्रवत होने का मतलब है कि विश्व-प्रक्रिया में कोई प्रयोजन, उद्देश्य या स्वेच्छा नहीं है बल्कि प्राकृतिक नियमों का अखंड साम्राज्य है और सभी घटनाएँ उन नियमों का अवश्यंभावी परिणाम हैं। इस सिद्धांत के समर्थकों में हर्बर्ट स्पेंसर (Herbert Spencer), अर्न्स्ट हेकेल (Ernst Haeckel), आदि प्रमुख हैं।

(२) **प्रयोजनवादी विकासवाद** में प्रयोजनवाद (Finalism or Teleology) और विकासवाद का सम्मिलन होता है। उसके अनुसार विश्व प्रयोजनपूर्ण (Purposive) और विकासशील है। विश्व की गति यंत्र की तरह निष्प्रयोजन नहीं है बल्कि उसके अन्दर कोई उद्देश्य है जिसकी वास्तविक सिद्धि उसका अभीष्ट है। यूरोपिय दर्शन में प्रयोजनवादी विकासवाद के प्रमुख समर्थक एरिस्टाटल, हीगल आदि हैं और भारतीय दर्शन के प्राचीन संप्रदायों में सांख्य तथा आधुनिक काल में राधाकृष्णन हैं।

(३) **सृजनात्मक विकासवाद** फ्रेंच दार्शनिक हेनरी बर्गसां (Henry Bergson, 1859--1941) के विकास-सिद्धांत का नाम है। उनके अनुसार मूल तत्त्व प्राण-शक्ति (Life Urge or Elan Vital) है जो सतत परिवर्तनशील, विकासशील, तथा पूर्णतः स्वतंत्र है। उसकी मुख्य विशषता सृजनात्मकता (creativity) है। इसका अर्थ है कि विकास की हर अवस्था में वह नवीन घटनाओं का सृजन करती है। इसलिए ऐसे विकास को सृजनात्मक विकास कहते हैं।

(४) **नव्योत्क्रांतिवाद** उस सिद्धांत को कहते हैं जिसके अनुसार विकास-प्रक्रिया में बिलकुल नवीन गुणों का आविर्भाव (emergence) होता रहता है। नवीन गुण का अर्थ वैसा गुण है जिसकी पूर्व कल्पना (anticipation) नहीं की जा सकती है, अर्थात आविर्भूत होने के पहले उसकी रूप-रेखा का अंदाज नहीं लगाया जा सकता। इस सिद्धांत के प्रमुख प्रतिपादक अलेक्जेंडर (S. Alexander, 1859--1938) और मार्गन (Lloyad Morgan, 1852--1936) हैं।

(५) **समष्टिवाद** अफ्रिका के प्रधान मंत्री जेनरल स्मट्स (General Smuts) के सिद्धांत-विशेष का नाम है। उनके अनुसार विश्व विकासशील है और विकास-प्रक्रिया में एक प्रेरक शक्ति है जो उच्च से उच्च समष्टियों (wholes) की उत्पत्ति करती चलती है। अतः विकास में समष्टि-निर्माण की प्रवृत्ति (Holistic tendency) है और विकास की भिन्न-भिन्न अवस्थाएं भिन्न-भिन्न समष्टियाँ हैं।

(२) वैज्ञानिक विकासवाद

वैज्ञानिक विकासवाद के अंतर्गत वे सभी सिद्धांत सन्निहित हैं जिनके द्वारा विभिन्न विज्ञान विश्व के विभिन्न क्षेत्रों के विकास की व्याख्या करते हैं। किन्तु आधुनिक विज्ञान इतने समृद्ध हैं कि सभी वैज्ञानिक विकास-सिद्धांतों को कौन कहे, किसी एक का भी सांगोपांग वर्णन एक अध्याय या एक छोटी पुस्तक में संभव नहीं है। इसलिए यहां हम सिर्फ जीव-शास्त्रीय विकासवाद (The theory of Biological Evolution) का संक्षिप्त वर्णन करेंगे और उसमें भी हमारा विशेष ध्यान डार्विन (Darwin) के सिद्धांत पर रहेगा। इस पक्षपात का कारण है कि विकासवाद के

इतिहास में जीव-शास्त्रीय विकासवाद का प्रभाव मनुष्य की विचार-धारा पर सबसे अधिक पड़ा है और जीव-शास्त्रीय विकासवाद के इतिहास में डार्विन का सिद्धांत सर्वाधिक महत्ता रखता है।

जीवशास्त्रीय विकासवाद

जीव-शास्त्रीय विकासवाद की सामान्य विशेषताएं

जीव-शास्त्रीय विकासवाद (The theory of Biological Evolution) मानता है कि संसार में विद्यमान सभी जीवों का वर्तमान रूप विकास (evolution) का परिणाम है। अतः आरंभ से ही वे ऐसे नहीं हैं बल्कि बहुत दिनों तक विकसित होते रहने के फलस्वरूप ऐसा बन पाए हैं। इसका अर्थ है कि सभी जीव परिवर्तनशील हैं। इस सिद्धांत की दूसरी मान्यता है कि जीवों के बीच कोई पारमार्थिक (ultimate) या चिरंतन भेद नहीं है। आरंभ में कुछ अत्यंत ही सरल जीव-कोष (smplest living cells) उत्पन्न हुए और उन्हीं के क्रमिक विकास के फलस्वरूप आज इतने जटिल (complex) और विभिन्न प्रकार के जीव मिलते हैं। विकास का क्रम ऐसा है कि एक जाति के जीव परिवर्तित होते-होते अपने पूर्वजों से इतने भिन्न हो जाते हैं कि उनकी दूसरी जाति ही हो जाती है।

यहां एक प्रश्न होता है कि मूल जीव-कोषों की उत्पत्ति क्यों और कैसे होती है, किन्तु इसका कोई निश्चित उत्तर जीव-शास्त्रीय विकासवाद नहीं देता है। वस्तुतः जीव-शास्त्र का उद्देश्य इस बात की व्याख्या है कि किस प्रकार सरल जीव-कोषों से जटिल जीवों का विकास होता है, यह नहीं कि आदिम जीव-कोष कैसे उत्पन्न होते हैं। इसलिए उक्त प्रश्न के समाधान की ओर उसका कम ध्यान रहता है। यह सत्य है कि बहुत-से जीव-शास्त्री मानते हैं कि आदि जीव-

कोषों की उत्पत्ति निर्जीव भूत (lifeless matter) से हुई है किन्तु यह घटना कैसे और क्यों संपादित होती है, इसकी पर्याप्त व्याख्या उनके पास नहीं है।

जीव-शास्त्रीय विकासवाद के सामने दो मुख्य कार्य हैं : (१) विभिन्न जीवों के विकास की व्याख्या और (२) विभिन्न जीव-योनियों (living species) के विकास की। वह मानता है कि हरएक व्यक्ति विकसित होता है और उसकी व्याख्या करता है। व्यक्तियों के साथ-साथ उनकी जातियों का भी विकास होता है जिससे एक जाति से दूसरी जाति उद्भूत होती है। यह प्रमाणित हुआ है कि वर्तमान अश्व-जाति का विकास वैसे चौपाए पशुओं से हुआ है जिनकी ऊँचाई ग्यारह इंच थी और जिनके पैरों में खुर की जगह कई उँगलियाँ होती थीं। वर्तमान घोड़ों के इन पूर्वजों का वैज्ञानिक नाम 'इयोहिपस' (Eohippus) है। इस प्रकार जीव और उनकी जातियाँ दोनों के विकास को जीव-शास्त्रीय विकासवाद सत्य मानता है और उन नियमों की खोज करता है जिनसे उनका विकास-क्रम संचालित होता है।

जीव-शास्त्रीय विकासवाद का इतिहास

जीव-शास्त्रीय विकासवाद के समर्थक अत्यन्त ही प्राचीन काल से लेकर आज तक पाए जाते हैं। प्राचीन यूनान के विचारकों में एनैक्जिमैंडर (Anaximander), एम्पेडाक्लस् (Empedocles) आदि इसका समर्थन करते हैं किन्तु प्राचीन विचारक इसके लिए कोई वैज्ञानिक आधार नहीं दे सके हैं। इसका वैज्ञानिक विवेचन अठारहवीं शताब्दी में आरम्भ होता है और तब से आज तक इस विषय में अनुसंधान होते आ रहे हैं। वैज्ञानिक युग के आरम्भ-काल के विचारकों में लिनेयस (Linnaeus, 1707–1778), बुफन (Buffon 1707–1788), इरास्मस

डार्विन (Erasmus Darwin, 1731–1802), आदि प्रमुख हैं। इरास्मस डार्विन चार्ल्स डार्विन के पितामह हैं और दूसरों से अत्यधिक मशहूर हैं। इन विचारकों ने वैज्ञानिक विवेचन को आरम्भ भर किया है, विकासवाद की क्रमवद्ध व्याख्या इन्होंने नहीं दी है। यह काम सर्वप्रथम एक फ्रेंच विचारक लामार्क (Lamarck, 1744–1829) ने किया है। जीव-शास्त्रीय विकासवाद के इतिहास में डार्विन के पूर्व-कालीन विचारकों में लामार्क ही सर्वश्रेष्ठ माने जाते हैं।

उपर्युक्त विचारकों ने निरीक्षण (observation) और प्रयोग (experiment) की वैज्ञानिक पद्धति द्वारा जीव-शास्त्रीय विकासवाद के प्रतिपादन की परम्परा चलाई और उस परंपरा को सुविकसित और परिपुष्ट किया चार्ल्स डार्विन ने। स्थानाभाव के कारण अगले अध्याय में चार्ल्स डार्विन के सिद्धांत का ही वर्णन हम करेंगे।*

---

* जीव-शास्त्रीय विकासवाद के इतिहास के विवेचन के लिए देखिए—

A History of Science by Sir William Cecil Dampier.

बारहवाँ अध्याय

डार्विन का विकास-सिद्धांत

विकासवाद के इतिहास में डार्विन का स्थान

विकासवाद के इतिहास में जितनी महत्ता और लोक-प्रियता चार्ल्स डार्विन के सिद्धांत को मिली है उतनी किसी भी दूसरे जीव-शास्त्री को नहीं। उनके विकास-सिद्धांत का प्रभाव जीव-शास्त्र तक ही सीमित नहीं है बल्कि ज्ञान के सभी क्षेत्रों पर पड़ा है। उसके प्रभाव की व्यापकता इसी बात से आँकी जा सकती है कि बहुत लोग जीव-शास्त्रीय विकासवाद (Biological Evolutionism) को विकासवाद (Evolutionism) का पर्याय समझते हैं और डार्विन के विकास-सिद्धांत को जीव-शास्त्रीय विकासवाद का। इसका कारण है कि सर्वप्रथम डार्विन ने ही जैवी विकास (evolution of living organisms) की वैज्ञानिक पद्धति से प्रचुर प्रमाणों के साथ ऐसी विशद व्याख्या प्रस्तुत की है कि उसे अस्वीकार करना कठिन हो गया है।* लामार्क ने भी विकासवाद का प्रतिपादन वैज्ञानिक ढंग से किया है किन्तु डार्विन की तरह प्रमाणों का संग्रह

*"....it is to Darwin and to no other that honour is due for the first full proof of evolution, and for the demonstration that it could be accounted for in terms of natural law".—What Darwin Really Said, edited by Julian Huxley, Page 5.

वे नहीं कर सके है, न उनका विवेचन ही डार्विन की तरह स्पष्ट और प्रभावशाली बन पड़ा है। वस्तुतः डार्विन की देन अमर है। इतना मानते हुए कि उनका सिद्धांत बिलकुल निर्दोष नहीं है, यह सभी विज्ञान-वेत्ता स्वीकार करते हैं कि उनके जैसा कार्य किसी ने अकेले नहीं किया है। इन्हीं बातों के चलते डार्विन को जीव-शास्त्र का न्यूटन (Newton) कहा जाता है।*

जीवन-चरित और रचनाएँ

डार्विन का जन्म श्रूसबरी (इंगलैंड) में सन १८०९ ई० में हुआ था और उनकी मृत्यु सन १८८२ में हुई। इक्कीस-बाइस वर्ष की आयु में उन्होंने बीग्ल (Beagle) नामक जहाज पर सारे संसार की यात्रा की। इस यात्रा में उन्हें विश्व के विभिन्न प्रांतों के जीवों और वनस्पतियों का निरीक्षण करने का पर्याप्त अवसर मिला। इसी समय उनके मन में यह बात उठी कि प्राणी-जगत की विकासवादी व्याख्या हो सकती है। यात्रा से लौटकर उन्होंने इसका विस्तृत अध्ययन शुरू कर दिया। यद्यपि सन १८४४ ई० में ही उन्हें विकास-सिद्धांत में पूरा विश्वास हो गया था किन्तु अपने मत को अकाट्य बनाने के लिए प्रमाण जुटाने में वे इतने अथक परश्रमी और सावधान थे कि १५ वर्ष के और अनुसंधान के बाद उसे पूर्ण विकसित रूप में दुनियाँ के सामने व्यक्त किया। उनका विकास-सिद्धांत सर्वप्रथम उनकी पुस्तक "प्राकृतिक चुनाव द्वारा जीव-योनियों की उत्पत्ति (The Origin of Species by Means of Natural selection)" में २४ नवम्बर, १८५९ ई० को प्रकाशित हुआ। इस विषय में उनकी कई पुस्तकें हैं किन्तु उक्त पुस्तक के बाद दूसरी महत्त्वपूर्ण रचना "मनुष्य की

*"Darwin has with justice been called the Newton of Biology." Julian Huxly, the same, Page 3.

उत्पत्ति (The Descent of Man, and Seleection in Relation to Sex)" है जो पहल-पहल सन १८७१ ई० में प्रकाशित हुई थी। डार्विन की ये दोनों पुस्तकें दर्शन और विज्ञान के इतिहास में क्रांति पैदा करनेवाली सिद्ध हुई हैं।

विकासवाद की मुख्य समस्याएँ

किसी भी विकासवादी सिद्धांत के सामने दो मुख्य समस्याएँ उपस्थित होती हैं। पहली समस्या विकास की वास्तविकता (reality लेकर है और दूसरी उसकी व्याख्या लेकर। (१) विकास वास्तविक है, उसका क्या प्रमाण है? (२) और यदि वास्तविक है तो उसका कारण क्या है, उसके घटित होने की व्याख्या क्या है? जहां तक वास्तविकता का प्रश्न है सभी विकासवादी एक-मत हैं कि विकास वस्तुतः होता है। इसके लिए उन्होंने अनेक प्रमाणों का संग्रह किया है। किन्तु विकास की व्याख्या के विषय में उनमें बहुत मतभेद है। इन दोनों समस्यायों के समाधान में डार्विन की महत्त्वपूर्ण देन है। यहां हम पहले विकास के लिए उनके दिए हुए कुछ प्रमाणों को प्रस्तुत करेंगे और उसके बाद उनकी व्यख्या की व्याख्या करेंगे।

जैवी विकास (evolution of living beings) की वास्तविकता प्रमाणित करने के लिए वर्षों के अनुसंधान के बाद

विकास की वास्तविकता के लिए डार्विन के प्रमाण

वास्तविक निरीक्षण और प्रयोग द्वारा डार्विन ने प्राणी-जगत के इतिहास से प्रचूर मात्रा में ऐसी घटनाओं को ढूँढ़ निकाला है जिनके अस्तित्व की व्याख्या विकास को सत्य मानने पर ही हो सकती है, अन्यथा नहीं। वैसी कुछ घटनाएँ निम्नलिखित हैं।

(१) पृथ्वी के अंदर पत्थरों की कई तहें (layers of

rock-formations) मिलती हैं। उनमें नीचेवाली तह ऊपरवाली से प्राचीन होती हैं। इस प्रकार जो सतह से जितना ही नीचे है उसकी प्राचीनता भी उतनी ही अधिक है। तहों के बीच में तत्कालीन जीवों की अस्थियों के ध्वंसावशष मिलते हैं। तहों की प्रचीनता के अनुसार उनमें विद्यमान अस्थिओं की प्रचीनता निश्चित की जाती है। अतः जो अस्थियां जितना ही नीचे हैं उनकी प्राचीनता भी उतनी ही अधिक है। अस्थियों में क्रमिक विकास दीख पड़ता है, अर्थात बादवाली अस्थियां (later fossils) पहलेवाली अस्थियों से अधिक जटिल (complex) और उन्नत होती हैं। अस्थियों के इस अध्ययन से यह प्रमाणित होता है कि (१) जीव-जन्तुओं का इतिहास अत्यंत ही प्राचीन है और (२) उनका प्रादुर्भाव एकाएक पूर्ण विकसित रूप में न होकर क्रमिक विकास का फल है क्योंकि अन्यथा होने पर अस्थियों में उक्त प्रकार का विकास-भेद नहीं दीख पड़ता।

(२) प्राणियों की वर्तमान अवस्था का अध्ययन भी विकास-सिद्धांत को प्रमाणित करता है। अपनी यात्रा में डार्विन को विश्व के अधिकांश भू-भागों के पेड़-पौधों तथा जीव-जन्तुओं को देखने का मौका मिला था। उन्होंने पाया कि भिन्न-भिन्न देशों में फैले हुए बनस्पतियों तथा जीवों में विभिन्नता के साथ-साथ पर्याप्त समानता है। डार्विन का कहना है कि यह समानता इसी बात का सूचक है कि एक ही मूल उद्गम से सब का विकास हुआ है। उनकी समानता का कारण एक उद्गम है और विभिन्नता का कारण उनकी विभिन्न भौगोलिक परिस्थितियाँ।

(३) माता के गर्भ में विभिन्न प्राणियों का समान रूप से विकसित होना भी विकास-सिद्धांत को पुष्ट करता है। डिम्भ-शास्त्र (Embryology) बतलाता है कि विभिन्न प्राणियों के डिम्भों

(embryo) का क्रमिक विकास होता है और यह विकास बहुत-कुछ एक सा होता है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि विविध प्राणियों का विकास एक ही मूल स्रोत से हुआ है जिसके कारण और विषयों में काफी अंतर होते हुए भी उनकी आदिम अवस्था (अर्थात् डिम्भ के विकास) में समानता है।

(४) सयाने जीवों के शरीर को देखने पर पता लगता है कि उनके अंदर कितनी ऐसी चीजें हैं जिनका कोई उपयोग उनके लिए नहीं है। जैसे मनुष्य के शरीर में रोएँ होते हैं जिनसे कोई लाभ नहीं है। उसके शरीर में वे क्यों हैं, यह बात यों समझ में नहीं आती किन्तु विकासवाद को मानने पर उसकी व्याख्या हो जाती है। डार्विन का कहना है कि मनुष्य का विकास उससे नीचेवाले पशुओं से हुआ है, इसलिए उसके शरीर के अनुपयोगी अंश उसके पूर्वजों के अवशिष्ट अंश हैं। उन पूर्वजों में उनका उपयोग था किन्तु मनुष्य में नहीं है, किन्तु चूँकि मनुष्य उन्हीं से विकसित हुआ है, उनसे संक्रांत होकर मनुष्य के शरीर में वे अब तक चले आ रहे हैं।

विकास की वास्तविकता प्रमाणित करने के बाद डार्विन के सामने यह प्रश्न उठता है कि विकास-प्रक्रिया की प्रकृति (nature of the evolutionery process) और व्याख्या क्या है। उसकी प्रकृति के विषय में उनके विचार यंत्रवादी (Mechanistic) और प्रकृतिवादी (Naturalistic) हैं। यंत्रवादी इसलिए कि वे मानते हैं कि विकास-प्रक्रिया यंत्रवत चलती रहती है, उसके अंदर कोई उद्देश्य या लक्ष्य नहीं है। प्रकृतिवादी इसलिए कि उनके अनुसार उसका निर्देशक कोई अलौकिक पदार्थ नहीं, बल्कि प्राकृतिक नियम (laws of nature) हैं जो बिना किसी बाहरी सहायता या हस्तक्षेप के विकास-क्रम को संचालित करते हैं। विकास की

विकास-प्रक्रिया की प्रकृति

प्रगति (progress) के विषय में उनका मत है कि यह प्रगति सरल से जटिल की ओर होती है। पहले सरल जीव रहते हैं और उन्हीं से कालक्रम में प्राकृतिक नियमों द्वारा जटिल जीव उत्पन्न होते हैं। जीवों के विकास को डार्विन भी दो-तरफा मानते हैं अर्थात व्यक्तियों (individuals) और जातियों (species) दोनों का विकास सत्य मानते हैं। कुछ अत्यन्त ही सरल रूप से विकसित होकर हरएक जीव के सयानेपन का जटिल रूप उत्पन्न होता है। इस प्रकार सर्वप्रथम अत्यन्त ही सरल जीव-कोष (simplest living cells) पृथ्वी पर उत्पन्न हुए थे और उन्हीं से क्रमिक विकास द्वारा आज के जटिल जीव पैदा हुए हैं। मूल जीव-कोषों की उत्पत्ति कैसे हुई ? क्यों और कैसे सर्वप्रथम जीव का प्रादुर्भाव हुआ ? इन प्रश्नों के विषय में डार्विन भी अन्य वैज्ञानिकों की तरह कोई विशेष अभिरुचि नहीं दिखलाते। अधिकांश वैज्ञानिक यह मान लेते हैं कि जड़ तत्त्व से ही किसी प्रकार जीव का प्रादुर्भाव हुआ है किन्तु डार्विन इस मत का समर्थन नहीं करते हैं। वे मानते हैं किसी तरह ईश्वर ने ही निर्जीव जड़ तत्त्वों में प्राण देकर आदि जीव-कोषों को उत्पन्न किया और जब जीवित कोष बन गए तब से वे अपने-आप प्राकृतिक नियमों द्वारा विकसित होते रहे हैं।* इस कारण डार्विन को शुद्ध भौतिकवादी कहना उचित नहीं होगा। वस्तुतः उनका उद्देश्य जीवों के विकास की व्याख्या करना था, न कि जीव की प्रथम उत्पत्ति (first origin of life) बतलाना। इसलिए उनका विशेष ध्यान उस ओर नहीं था।

*"There is a grandeur in this view of life, with its several powers, having been originally breathed by the Creator into a few forms or into one; and............from so simple a begining endless forms most beautiful and most wonderful have been, and are being evolved."

Origin of species, P. 429

जीवों का अनवरत विकास होते रहने से जीवयोनियों (species) का विकास होता है। कई जन्मों तक लगातार विकसित होते रहने के कारण जीवों में इतना परिवर्तन हो जाता है कि उनकी जाति अपने पूर्वजों से भिन्न एक नई जाति बन जाती है। इसी क्रम से विभिन्न जातियों का विकास होता है। एक जाति से दूसरी का विकास होने के कारण जातियों में पारमार्थिक भेद नहीं है। इससे यह भी सिद्ध होता है कि सभी जातियाँ परिवर्तनशील हैं। जातियों की परिवर्तनशीलता (mutability of species) घोषित करने के कारण डार्विन को बहुत विरोध का सामना करना पड़ा था। उनके पहले के अधिकांश विचारक योनियों को अपरिवर्तनशील (immutable) मानते थे। एरिस्टाटल ने इस मत का प्रतिपादन किया था और इसाई धर्म से प्रभावित विचारकों ने इसका जोरदार समर्थन किया था। इस मत के अनुसार ईश्वर ने सभी योनियों को अलग-अलग उत्पन्न किया था और तब से आज तक उनमें कोई परिवर्तन नहीं हुआ है। डार्विन का मत इसके विपरीत है क्योंकि उनके अनुसार कोई भी जीव-योनि स्थिर नहीं है। अपने विकास-सिद्धांत द्वारा उन्होंने यही समझाने की चेष्टा की है कि किस प्रकार एक ही मूल उद्‌गम से सभी योनियों का विकास हुआ है।

विकास-प्रक्रिया की व्याख्या

हम देख चुके हैं कि डार्विन के अनुसार अत्यंत ही सरल जीवकोषों से जटिल जीवों का विकास होता है जिसके फलस्वरूप आज विभिन्न जातियों के जीव विद्यमान हैं। यहां प्रश्न होता है कि यह विकास क्यों होता है? विकास की व्याख्या क्या है? हम कह आये हैं कि विकास-प्रक्रिया की प्रकृति के विषय में डार्विन प्रकृतिवादी हैं। इसलिए उसकी व्याख्या भी वे प्रकृतिवादी ढंग से करते हैं। वे मानते हैं कि कुछ प्राकृतिक नियम हैं जिनके कारण विकास होता

है। वे प्रकृति की प्रकृति में ही निहित हैं, उनका नियामक कोई पारलौकिक सत्ता नहीं है। विकास-प्रकिया का संचालन, नियंत्रण और निर्देश उन्हीं नियमों के अनुसार होता है; उसमें किसी बुद्धि या ईश्वरीय शक्ति का हाथ नहीं है। इस प्रकार विकास के लिए प्राकृतिक नियमों को डार्विन पर्याप्त मानते हैं। प्रकृति से उनका तात्पर्य देश-काल में व्याप्त अनुभव-जगत से है जो निर्जीव और सजीव सभी पदार्थों की समष्टि है।

विकास के कारणभूत नियमों की संख्या चार है। वे यों हैं : (१) जीवन-संग्राम (Struggle for Existence), (२) योग्यतम की जीवन-रक्षा या प्राकृतिक निर्वाचन (Survival of the fittest or Natural Selection), (३) शारीरिक परिवर्तन (Variations) और (४) आनुवंशिकता (Heredity)। इन नियमों की वास्तविकता के विषय में डार्विन का कहना है कि जब हम प्रकृति के प्राणियों का निरीक्षण या उन पर प्रयोग करते हैं तो इनकी सत्यता सिद्ध होती है। यहाँ हम एक-एक करके उक्त नियमों का संक्षिप्त वर्णन करेंगे।

(१) जीवन-संग्राम

डार्विन के अनुसार जीवन-संग्राम (Struggle for Existence) एक विश्वव्यापी सत्य है। इससे उनका आशय है कि सभी जीव अपनी जीवन-रक्षा के लिए सदा प्रयत्नशील रहते हैं और उनके प्रयत्नों के चलते प्रकृति में संग्राम या संघर्ष छिड़ा रहता है। अतः सब को अपना अस्तित्व बनाए रखने के लिए संग्राम करना पड़ता है, हाथ पर हाथ रखकर बैठने से जीवन की रक्षा नहीं होती है। इस संघर्ष में सभी सफल नहीं होते हैं। जो सफल होते हैं उनका अस्तित्व कायम रहता है और संतान पैदा करने का मौका भी उन्हें

ही मिलता है, किन्तु जो असफल होते हैं उनका अस्तित्व मिट जाता है। यहां प्रश्न उठता है कि संग्राम का कारण क्या है? इसके उत्तर में डार्विन का कहना है कि खाद्य-सामग्री और निवास-स्थान की अपर्याप्तता (insufficiency of food and accomodation) से जीवन-संग्राम उत्पन्न होता है। उनका मत ह कि जिस अनुपात में जीवों की वृद्धि होती है उस अनुपात में खाद्य-सामग्री की वृद्धि नहीं होती। इसलिए जितने जीव किसी स्थान-विशेष में किसी समय रहते हैं उतने के लिए वहां पर्याप्त भोजन प्राप्य नहीं रहता है। भोजन के अतिरिक्त स्थान की कमी भी हो जाती है। जीवों की संख्या तो बढ़ती जाती है किन्तु रहने की जगह एक-सी रहती है, उसमें वृद्धि नहीं होती। इसलिए जब रहने के लिए पर्याप्त स्थान और खाने के लिए भर-पेट भोजन नहीं मिलता तो संघर्ष का होना अनिवार्य है। इस प्रकार जीने के लिए जो आवश्यकताएँ हैं, अर्थात निवास-स्थान और भोजन, वे सुगमता से नहीं मिलतीं। अतः उनके लिए संग्राम करना पड़ता है। यही जीवन-संग्राम का सिद्धांत है। इसका व्यवहार डार्विन अत्यंत व्यापक अर्थ में करते हैं। उनके अनुसार वे सभी प्रयत्न जीवन-संग्राम के अन्तर्गत आते हैं जो अपनी रक्षा के लिए या संतान की रक्षा के लिए किए जाते हैं क्योंकि संतान के अस्तित्व के जरिए भी अपना अस्तित्व (परोक्ष रूप में) कायम रहता है।

जीवन-संग्राम जीवों की अतिवृद्धि का परिणाम है। जीवों की वृद्धि के विषय में डार्विन अंग्रेज अर्थ-शास्त्री मालथस (Thomas Robert Malthus, 1766–1834) के सिद्धांत को स्वीकार करते हैं। मालथस ने अपनी पुस्तक 'प्राणी-वृद्धि के सिद्धांत पर प्रबंध (Essay on the Principle of Population, 1798) में यह प्रतिपादित किया है कि प्राणियों में अतिवृद्धि की

प्रवृत्ति है किन्तु उस मात्रा में खाद्य-सामग्री की वृद्धि नहीं होती है। प्राणियों की संख्या गुणोत्तर श्रेणी (Geometrical progression) अर्थात १, २, ४, ८, १६,.. के रूप में और खाद्य-सामग्री की वृद्धि समानान्तर श्रेणी (Arithmetical progression) अर्थात १, २, ३, ४,···के रूप में होती है। इसलिए हर समय खाद्य-सामग्री का तत्कालीन प्राणियों के लिए अपूर्ण होना अनिवार्य है। डार्विन इस सिद्धांत का प्रयोग सारे जीव-जगत के विषय में करते हैं और इसका आवश्यक परिणाम जीवन-संग्राम बतलाते हैं। उनका कहना है कि जब खाद्य-सामग्री पर्याप्त नहीं है तो प्राणियों में आपस में छीना-झपटी होना स्वाभाविक है अर्थात संग्राम आवश्यक है क्योंकि बिना उसके भोजन मिलने की उम्मीद नहीं है।* यही बात रहने के लिए जगह के विषय में भी है।

प्राणी-वृद्धि के सिद्धांत को यद्यपि डार्विन ने मालथस से लिया है किन्तु उसे उन्होंने तभी ग्रहण किया है जब कि उनके अपने अनुसंधान ने जीव-जगत के विषय में उसे सत्य प्रमाणित किया है। अपनी स्वतंत्र खोजों से उन्होंने प्राणी-वृद्धि और जीवन-संग्राम के अनेक उदाहरण प्रस्तुत किया है। उनका एक मशहूर उदाहरण हाथी का है। संतानोत्पत्ति में हाथी सभी पशुओं से शिथिल है। साधारणतः वह १०० वर्ष तक जीता है और ३० से ९० वर्ष की आयु तक संतान उत्पन्न करता है। इस अवधि में ६ बच्चे वह पैदा करता

---

*"A struggle for existence inevitably follows from the high rate at which all organic beings tend to increase..........It is the doctrine of Malthus applied with manifold force to the whole animal and vegetable kingdoms........" Origin of Species, P. 50.

है। हिसाब लगाकर डॉर्विन बतलाते हैं कि ७४० से ७५० वर्ष की अवधि में एक प्रारंभिक जोड़े से १६० लाख हाथियों की उत्पत्ति होती है।* वनस्पति-जगत से भी ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं। ला प्लाटा (La Plata) के मैदानों में कुछ पौधे (जैसे Cardoon, Tall thistle इत्यादि) यूरोप से लाकर कुछ वर्ष पहले लगाए गए किन्तु कुछ वर्षों में वे मिलों तक फैल गए। इस तरह पशुओं और वनस्पतियों की वृद्धि देख कर डार्विन का कहना है कि यदि सभी जिन्दे रहें तो दुनियां में न रहने की जगह मिलेगी, न खाने के लिए भोजन। अतः उनमें से कुछ का नाश आवश्यक है। यही नाश जीवन-संग्राम द्वारा होता है। जीवन के लिए संघर्ष होता है और उसमें कुछ नष्ट होते हैं और कुछ बच जाते हैं। यह संघर्ष एक ही जाति के व्यक्तियों के बीच या भिन्न जाति के व्यक्तियों के बीच या व्यक्तियों और वातावरण के बीच होता है†। इस संघर्ष की तीव्रता सर्वाधिक होती है जब वह एक ही जाति के व्यक्तियों के बीच होता है। इसका कारण है कि एक जाति के व्यक्तियों को रहने के लिए एक-सी जगह, खाने के लिए एक-सा भोजन तथा संघर्ष में सफल होने के लिए एक-से साधन आवश्यक हैं। उनकी शारीरिक शक्ति भी मिलती-जुलती रहती है। भिन्न जाति के व्यक्तियों के बीच होने पर संघर्ष की

---

*देखिए, Origin of species, पेज ५१।

†"Hence, as more individuals are produced than can possibly survive, there must in every case be a struggle for existence, either one individual with another of the same species, or with individuals of distinct species, or with the physical conditions of life."—Origin of Species, P. 50.

तीव्रता कम हो जाती है क्योंकि उनकी आवश्यकताएं भिन्न-भिन्न होती हैं तथा उनकी शारीरिक शक्ति एवं अन्य साधनों में भी विषमताएँ रहती हैं ।

(२) प्राकृतिक निर्वाचन या योग्यतम की जीवन-रक्षा

जब डार्विन कहते हैं कि प्रकृति के जीवों में जीवन-संघर्ष विश्व-व्यापी रूप में सदा चलता रहता है तो स्वभावतः यह जिज्ञासा होती है कि संघर्ष का परिणाम क्या होता है । इस विषय में डार्विन का कहना है कि इसका परिणाम 'योग्यतम की जीवन-रक्षा (Survival of the fittest)' है । इसका तात्पर्य है कि संघर्ष में वही विजयी होता है जो सबसे योग्य है और जिसमें पर्याप्त योग्यता का अभाव है उसकी पराजय निश्चित है । चूँकि यह संघर्ष जीवन के लिए है इसमें विजय का अर्थ है जीवन की रक्षा (Survival) और पराजय का जीवन का विनाश (Elimination) । इसीलिए डार्विन कहते हैं कि जीवन-संग्राम के परिणाम स्वरूप उन्हीं का अस्तित्व कायम रहता है जो श्रेष्ठतम या योग्यतम होते हैं, औरों का नहीं । इस प्रकार लाखों-करोड़ों जीवों का विनाश सदा होता रहता है जिससे प्रकृति में उतने ही जीव बच जाते हैं जिनके लिए पर्याप्त स्थान और भोजन वह दे सकती है ।

यहां एक प्रश्न उठता है कि 'योग्यतम' का क्या अर्थ है ? किसी जीव में क्या होने पर उसे 'योग्यतम' कहा जायगा ? इसके उत्तर में डार्विन का मत बड़ा ही अनोखा है । उनके अनुसार 'योग्य-तम' का अर्थ 'शक्ततम' (ablest) नहीं है । वे मानते हैं कि अपने को 'वातावरण के अनुकूल बनाने की क्षमता' का ही नाम योग्यता है । इसलिए उनके अनुसार 'योग्यतम' जीव उसे कहा जायगा जिसमें अपने को वातावरण के अनुकूल बनाने के लिए अपने प्रतिद्वंदियों से अधिक

क्षमता रहती है। इसीलिए डार्विन योग्यतम के लिए 'Fittest' (i.e. that which is fitted or suited most to the environment) शब्द का प्रयोग करते हैं, 'Ablest' का नहीं। हो सकता है कि कोई जीव काफी शारीरिक शक्ति रखता हो किन्तु यदि वह वातावरण के अनुकूल नहीं है तो उसका अस्तित्व कायम नहीं रह सकता। यही कारण है कि बहुत-से जीव जो मनुष्य से कई गुना अधिक शक्तिशाली थे, किन्तु वातावरण के अनुकूल नहीं हो सके थे, काल-क्रम में वे नष्ट हो गए, जब कि मनुष्य प्रकृति का शासक बनकर बैठा हुआ है और अभी भी अपने से अधिक शक्तिवाले जीवों पर अपना अधिकार जमाए है।

योग्यतम की जीवन-रक्षा के अनेक वास्तविक उदाहरण जीवों के इतिहास से डार्विन ने उद्धृत किया है। किन्तु उनका एक काल्पनिक उदाहरण है जो इस बात को पूर्णतः स्पष्ट कर देता है। वे कहते हैं कि मान लीजिए किसी जगह कुछ भेड़िये रहते हैं जो अपने से कमजोर जीवों का शिकार करके अपना जीवन-निर्वाह करते हैं। संयोग से वातावरण में किसी परिवर्तन के कारण वहां किसी समय, जब कि भेड़ियों को भोजन के लिए कठिनाई रहती है, शिकार की कमी हो जाती है और वैसे जीवों का आधिक्य हो जाता है जो बहुत तेजी से भागनेवाले हैं, जैसे हरिण, खरहे इत्यादि। ऐसी स्थिति में भेड़ियों में भोजन के लिए संघर्ष होगा और उन्हीं को भोजन मिलने की संभावना रहेगी जो तेज दौड़नेवाले होंगे। इस तरह तेज दौड़नेवालों का अस्तित्व तो भोजन मिलने से बना रहेगा किन्तु मन्द गतिवालों का अस्तित्व भोजन के अभाव से काल-क्रम में मिट जायगा।* यहां पर तेज भेड़ियों की जीत होती है क्योंकि वे योग्यतम अर्थात वातावरण के अनुकूल हैं। हो सकता है कि मन्द गतिवाले उनसे

*देखिये Origin of Species, Pages 70—71

और तरह अधिक शक्तिशाली हों किन्तु, चूँकि वे उक्त वातावरण के अनुकूल नहीं हैं, उनका नाश हो जाता है। वातावरण ऐसा है कि तेज दौड़नेवालों को ही भोजन मिल सकता है, इसलिए जो इस मांग को पूरा करते हैं, वे ही सफल होते हैं, दूसरे नहीं।

योग्यतम की जीवन-रक्षा को ही डार्विन प्राकृतिक निर्वाचन (Natural Selection) भी कहते हैं।* चूँकि प्रकृति में अयोग्य प्राणी विनष्ट होते हैं और योग्य ही बचे रहते हैं, ऐसा जान पड़ता है जैसे वह कुछ को त्याग देती है और कुछ को चुन लेती है। अतः यह कहा जा सकता है कि प्रकृति में योग्य का निर्वाचन (Selection of the fit) और अयोग्य का निष्कासन (Rejection of the unfit) होता है। इस तरह का निर्वाचन मनुष्य पालतू जानवरों तथा उपयोगी पौधों के विषय में सदा करता है। अपने काम लायक जानवरों जैसे तेज घोड़े, दूधवाली गायें, मीठी आवाज वाले पक्षी आदि तथा पेड़-पौधों जैसे मीठे आम, सुन्दर फूल-वाले गुलाब, उपजनेवाले धान आदि को वह चुन लेता है, उनकी रक्षा करता है और सन्तान पैदा करने का मौका देता है, किन्तु जो उसके काम लायक नहीं हैं उन्हें वह छोड़ देता है। प्रकृति में ऐसा ही निर्वाचन होता है किन्तु अन्तर यह है कि मनुष्य का निर्वाचन सजग इच्छा-शक्ति द्वारा होता है जब कि प्रकृति में ऐसी कोई इच्छा-शक्ति नहीं है। उसका निर्वाचन शुद्ध प्राकृतिक नियमों द्वारा होता है।

यहां यह कह देना आवश्यक है कि प्राकृतिक निर्वाचन का प्रयोग डार्विन एक रूपक की तरह करते हैं। उनका आशय कदापि नहीं

* "This principle of preservation, or the Survival of the fittest, I have called Natural Selection"—Origin of Species, Pages 102—103

है कि प्रकृति सक्रिय रूप में निर्वाचन करती है। उन्होंने स्पष्टतः कहा है कि प्रकृति में व्यक्तित्व या इच्छा-शक्ति का लेशमात्र भी नहीं है।* इसलिये जब कुछ लेखक यह कहकर डार्विन के विकास-सिद्धांत में असंगति का दोष बतलाते हैं कि एक तरफ वे प्रकृति को यांत्रिक (Mechanical) और दूसरी ओर निर्वाचन करनेवाली बतलाते हैं तो ऐसा कहना डार्विन के प्रति अन्याय है और उक्त आलोचकों के अज्ञान का सूचक है। वस्तुतः डार्विन के अनुसार प्रकृति कुछ करती नहीं है, सब कुछ प्राणी-जगत के वस्तु-निष्ठ नियमों (objective laws of the living world) के अनुसार होता है। चूँकि जीवों में कुछ का ही अस्तित्व कायम रहता है और दूसरों का नष्ट हो जाता है, इसी बात को कहने का एक तरीका है कि प्रकृति में निर्वाचन होता है।

प्राकृतिक चुनाव के परिणाम स्वरूप वातावरण के अनुकूल जीवों को दो फायदे होते हैं। उनका अपना अस्तित्व बना रहता है और सन्तान पैदा करने का अवसर मिलता है। यह तो साधारण-सी बात है कि जो खुद मिट जाता है वह संतान क्या पैदा करेगा ? किन्तु संतानोत्पत्ति के लिए भी संघर्ष होता है और उसमें भी योग्यतम की विजय होती है। इसे डार्विन **दाम्पत्य निर्वाचन** (Sexual Selection) कहते हैं। यहां एक लिंग के जीवों में संघर्ष होता है दूसरे लिंगवाले जीव की प्राप्ति के लिए। यह संघर्ष विशेषकर नर-पशुओं में मादा के लिए होता है और यहां भी योग्यतम की विजय होती है। इसका परिणाम यह होता है कि विजयी को संतान पैदा करने का मौका मिलता है। इसमें पराजित की मृत्यु नहीं होती बल्कि अपने बाद अपनी औलाद छोड़ जाने का सौभाग्य

---

*देखिये Origin of Species, Page 63.

उसे नहीं मिलता *। इस प्रकार प्राकृतिक निर्वाचन द्वारा निर्वाचित जीवों की जीवन-रक्षा होती है और दाम्पत्त्य-निर्वाचन द्वारा संतानोत्पत्ति होती है। दोनों का सम्मिलित परिणाम होता है वातावरण के अनुकूल प्राणियों की वृद्धि।

(३) शारीरिक परिवर्तन

प्राकृतिक निर्वाचन का नियम बतलाता है कि जीवन-संघर्ष में योग्यतम का निर्वाचन और अयोग्य या कम योग्य का निष्कासन होता है। इसका मतलब है कि सभी प्राणियों की योग्यता बराबर नहीं है। इसलिए इस बात की व्याख्या आवश्यक हो जाती है कि प्राणियों में ऐसी विषमता क्यों होती है, क्यों कुछ जीव योग्य अर्थात वातावरण के अनुकूल होते हैं और कुछ वैसा नहीं हो पाते। इस प्रश्न का समाधान डार्विन शारीरिक परिवर्तन के नियम (Law of Variations) द्वारा करते हैं। उनका कहना है कि जीवों के शारीरिक बनावट और व्यापार (structure and function) में सदा परिवर्तन होते रहते हैं। इन परिवर्तों में कुछ ऐसे होते हैं कि उन्हें वातावरण के अनुकूल बनाते हैं। ऐसे परिवर्तन को उपयोगी परिवर्तन (Favourable variations) कहा जाता है। इनके चलते जीवों को जीवन-संघर्ष में सहायता मिलती है। किन्तु कुछ ऐसे परिवर्तन भी होते हैं जो प्राणियों को वातावरण के अनुकूल होने में बाधक होते हैं। इनके कारण जीवन-संघर्ष में

---

*"This form of selection (Sexual Selection), depends ....on a struggle between the individuals of one sex, generally the males for the possession of the other sex. The result is not death to the unsuccessful, but few or no offspring." Origin of Species. Page 69.

असफलता मिलती है। इस प्रकार शारीरिक परिवर्तनों के फलस्वरूप प्राणियों का अस्तित्व कभी कायम रहता है और कभी नष्ट हो जाता है।

परिवर्तनों की वास्तविकता का अनुभव हमें सदा होता है। हम देखते हैं कि एक ही माँ–बाप की सभी संतानें बिलकुल समान नहीं होतीं, वे माँ–बाप से भी भिन्न होती हैं और आपस में एक-दूसरे से भी। यह सत्य है कि कुछ विषयों में उनके अंदर समानता है लेकिन केवल समानता ही नहीं है, भिन्नता भी है। डार्विन यही मानते हैं––एक जाति या खान्दान के जीवों में समानता और विभिन्नता दोनों रहती हैं। विभिन्नताओं के चलते ही उनकी योग्यता में भेद होता है।

प्राणियों में शारीरिक परिवर्तन का होना सचमुच निर्विवाद है। किन्तु यह स्वीकार करने पर हमारे लिए यह पूछना स्वाभाविक हो जाता है कि परिवर्तनों का कारण क्या है? इसके उत्तर में डार्विन साफ-साफ कहते हैं कि परिवर्तनों के सभी कारणों का पूरा ज्ञान हमें नहीं है *। किन्तु वे यह भी नहीं मानते हैं कि परिवर्तन अकारण या आकस्मिक (chance or accidental) होते हैं। पहले उन्होंने परिवर्तनों को 'Chance variations' कहा था किन्तु 'Chance' से उनका मतलब 'अकारण' नहीं था। इस शब्द का व्यवहार तो उन्होंने अपने ज्ञान की

---

*"Our ignorance of the laws of variations is profound, not in one case, out of a hundred, can we pretend to assign any reason why this or that part has varied".

—Origin of Species. [Page 131.

अपूर्णता व्यक्त करने के लिए किया था *। बाद में तो उन्होंने साफ-साफ कहा था कि परिवर्तन अकारण नहीं होते हैं। इसलिए डार्विन के अनुसार परिवर्तनों के कारण हैं किन्तु उनका पूर्ण और निश्चित ज्ञान हमें प्राप्त नहीं है। फिर भी उन्होंने अपने अनुसन्धान के आधार पर कुछ कारण बतलाया है किन्तु इसी चेतावनी के साथ कि यह सूची पूर्ण नहीं कही जा सकती। उनके बतलाए हुए कुछ कारणों को हम यहाँ दे रहे हैं।**

(१) **सामुहिक विकास का नियम** (The law of Correlated growth)--इसका मतलब है कि प्राणियों का शरीर सामुहिक रूप में विकसित या परिवर्तित होता है। उनका शरीर इस प्रकार सुगठित है कि यदि किसी अंग-विशेष में परिवर्तन होता है और वह प्राकृतिक निर्वाचन द्वारा संचित होता है तो उनके और अंगों में भी परिवर्तन हो जाता है।

(२) **क्षति-पूर्ति का नियम** (The law of Compensation)-इस नियम के अनुसार यदि एक तरफ अति वृद्धि होती है तो दूसरी ओर ह्रास होता है अर्थात एक ओर अधिक खर्च करने के लिए

---

* "I have hitherto sometimes spoken as if the Variations.......were due to chance. This, of cource is a wholly incorrect expression, but it serves to acknowledge mainly our ignorance of the cause of each particular variation."—Origin of Species, 6th Edition, Page 106.

** "Variability is governed by many complex laws—by correlated growth, compensation, the increased use and disuse of parts, and the definite action of the surrounding conditions."—Origin of Species, P. 410.

प्रकृति को दूसरी ओर मितव्ययी बनना पड़ता है। उदाहरण के लिए डार्विन कहते हैं कि अधिक दूध देनेवाली गायों का शरीर अक्सरहाँ क्षीण हो जाता है तथा जिस फल के बीज क्षीण होते हैं उसका आकार बढ़ जाता है।

(३) **अंगों के उपयोग और अनुपयोग का नियम** (The law of Use and Disuse of organs)--इस नियम के अनुसार अंगों के उपयोग और अनुपयोग से भी उनमें परिवर्तन पैदा होते हैं। जिन अंगों का उपयोग होता है उनका विकास होता है और जिनका अनुपयोग उनका ह्रास। इसका उदाहरण है कि जंगली बत्तख की पाँखों की हड्डियाँ पैरों की हड्डियों से अधिक भारी होती हैं क्योंकि पैरों की अपेक्षा पाँखों का उपयोग उसे अधिक करना पड़ता है, जबकि पालतू बत्तख के पैरों की हड्डियाँ पाँखों से अधिक भारी होती हैं, क्योंकि उसे उड़ने की अपेक्षा पैरों से अधिक चलना पड़ता है।

(४) **वातावरण का प्रभाव** (Action of the Surrounding Conditions)--परिवर्तनों का चौथा कारण वातावपण का प्रभाव है। वातावरण के अन्दर जलवायु, स्थान की ऊँचाई-निचाई, भोजन का प्रकार, अन्य जीवों से संबंध आदि सभी सन्निहित हैं। वातावरण में हेर-फेर होने से भी उसके प्रभाव स्वरूप जीवों में परिवर्तन उत्पन्न हो जाते हैं।

(५) शारीरिक परिवर्तन का यह भी नियम है कि कम विकसित जीवों में अधिक विकसित जीवों की अपेक्षा अधिक परिवर्तन होते हैं।

(६) छठवाँ नियम यह है कि प्राणियों के विशिष्ट गुण (Specific Characters) सामान्य गुण (Generic Characters) की अपेक्षा अधिक परिवर्तनशील होते हैं। जो गुण जाति

के सभी व्यक्तियों में विद्यमान रहते हैं उन्हें सामान्य और जो कुछ व्यक्तियां में ही विद्यमान रहते हैं उन्हें विशिष्ट कहते हैं।

(७) प्राणियों में कुछ परिवर्तन आन्तरिक कारणों से होते हैं। इसका मतलब है कि जीव-कोषों में, जिनसे शरीर बना हुआ है, कुछ ऐसे परिवर्तन होते रहते हैं जिनका कारण उन्हीं के अन्दर रहता है। इन कारणों के विषय में हमें कोई निश्चित या असन्दिग्ध ज्ञान नहीं है।

शारीरिक परिवर्तनों का सर्वप्रथम दो भेद डार्विन करते हैं—**वंशगत और वातावरण से प्राप्त**। वंशगत परिवर्तन जीवों को अपने पूर्वजों से मिलते हैं और दूसरे प्रकार के परिवर्तन वे हैं जो वातावरण के प्रभाव से उत्पन्न होते हैं। पहले को डार्विन **अनिश्चित** (Indefinite) और दूसरे को **निश्चित** (Definite) कहते हैं। फिर वंशगत परिवर्तन का भी वे दो भेद करते हैं। (१) कुछ परिवर्तन ऐसे होते हैं जो एकाएक और बहुत विराट रूप में उत्पन्न होते हैं और उत्पन्न होते ही प्राणियों को अपनी जाति के अन्य जीवों से काफी भिन्न बना देते हैं। किन्तु ऐसे परिवर्तन बहुत कम होते हैं। इन्हें डार्विन **Single variations** या **Sports** कहते हैं। (२) दूसरे प्रकार के वंशगत परिवर्तन वे हैं जो क्रमिक और अत्यन्त ही सूक्ष्म रूप में उत्पन्न होते हैं। उनके कारण जीवों में एकाएक कोई बड़ा भेद नहीं होता, बल्कि कई पीढ़ियों में उनके संचित होने के बाद ही किसी नवीन अंग का निर्माण होता है। ऐसे परिवर्तनों को डार्विन **Individual variations** कहते हैं। यहां यह कह देना आवश्यक है कि यद्यपि डार्विन अचानक और क्रमिक दोनों प्रकार के परिवर्तनों को स्वीकार करते हैं, वे स्पष्ट रूप में कहते हैं कि विभिन्न योनियों के विकास के लिए क्रमिक परिवर्तन ही महत्त्वपूर्ण हैं। उनका मत है कि योनियों का विकास

सूक्ष्म क्रमिक परिवर्तनों के संचय द्वारा होता है, अचानक परिवर्तनों के कारण नहीं।

(४) आनुवंशिकता

हम देख चुके हैं कि डार्विन के अनुसार सूक्ष्म परिवर्तनों के क्रमिक संचय द्वारा नयी योनियों का विकास होता है। इसलिए इस संचीयकरण की व्याख्या आवश्यक हो जाती है। यह व्याख्या वे आनुवंशिकता के नियम (The law of Heredity) द्वारा करते हैं। इस नियम के अनुसार जो परिवर्तन माँ-बाप के शरीर में होते हैं वे उनकी संतानों में संक्रान्त हो जाते हैं। इस प्रकार एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में संक्रान्त होते-होते कई पीढ़ियों में जाकर अत्यन्त ही सूक्ष्म परिवर्तनों के संचयीकरण का परिणाम होता है कि कोई बिलकुल ही नया अंग बन जाता है जिससे परिवर्तित जीव अपने प्रारंभिक पूर्वजों से नितान्त भिन्न एक नयी जाति का प्रादुर्भाव करते हैं। यह बात हितकर और हानिकार दोनों प्रकार के परिवर्तनों के साथ होती है। हितकर परिवर्तनों के संचय से वैसे अंग का निर्माण होता है जो जीवन-संघर्ष में सहायक होता है। इसलिए ऐसे अंग के प्रादुर्भाव का परिणाम उस जाति के जीवों की जीवन-रक्षा होता है। हानिकर परिवर्तनों के परंपरागत संचय से वैसे अंग की उत्पत्ति होती है जो जीवन-संघर्ष में बाधक होता है। इसलिए उसके परिणाम स्वरूप वह जीव नष्ट हो जाता है।

डार्विन के अनुसार किसी नई जीव-योनि का प्रादुर्भाव एकाएक या अचानक नहीं बल्कि पीढ़ियों के क्रमिक विकास के फलस्वरूप होता है।* इसको समझने के लिए हम कोई उदाहरण ले लें जैसे

*"As Natural Selection acts by accumulating slight, successive, fovourable variations, it can produce no great or sudden modifications, it can act only by short and slow steps."—Origin, Pages 413-414.

आँख की उत्पत्ति। मान लीजिये कि किसी पीढ़ी के बिना आँखवाले कुछ जीवों में 'क' 'ख' 'ग' तीन उपयोगी परिवर्तन होते हैं। उसके बाद ये तीनों उनकी संतानों में संक्रान्त होते हैं। संतानों में विभिन्न कारणों से कुछ और नये परिवर्तन जैसे, 'घ' 'च' आदि उत्पन्न होते हैं जिससे परिवर्तनों की संख्या में वृद्धि होती है। ये सभी परिवर्तन उनकी संतानों में संक्रान्त होंगे। इस प्रकार एक से दूसरी पीढ़ी में संक्रान्त होकर परिवर्तनों में वृद्धि होती है और उनका संचय भी। इसके परिणाम-स्वरूप कई पीढ़ियों में संचित होकर 'क' 'ख' 'ग' 'घ' 'च' 'छ' 'ज' आदि अनेक परिवर्तनों की समष्टि बनती है जिसे हम आँख कहते हैं। अब आँखवाले जीव नई जाति का प्रादुर्भाव करते हैं क्योंकि वे अपने आँखरहित पूर्वजों से बिलकुल भिन्न हैं। वे जीवन-संघर्ष में सफल होते हैं क्योंकि आँख अत्यन्त ही हितकर अंग है। इसी प्रकार परिवर्तनों के संचित होने से हानिकर अंगों की उत्पत्ति भी होती है जो जीवों को जीवन-संघर्ष में असफल बना देती है।

यहां हम अच्छी तरह समझते हैं कि आनुवंशिकता का नियम डार्विन के विकास-सिद्धान्त के लिए अत्यन्त आवश्यक है क्योंकि इसके बिना शारीरिक परिवर्तनों का एकत्रीकरण नहीं हो सकता जिसके अभाव में नवीन योनियों का प्रादुर्भाव असम्भव हो जायगा। इस बात को वे खुद भी महसूस करते हैं*। इसलिए उनका यह उत्तरदायित्व हो जाता है कि इस विषय के विभिन्न प्रश्नों का समुचित समाधान कर दें। यहां मुख्य प्रश्न यह है कि किस प्रकार के परिवर्तन संक्रान्त होते हैं और उनके संक्रान्त होन का कारण क्या है। इस तरह के प्रश्नों का कोई पर्याप्त समाधान

*"Any variation which is not inherited is unimportant for us". Origin of Species. Page, 9.

डार्विन नहीं करते, बल्कि, अपने ज्ञान की अपूर्णता को स्पष्टतः स्वीकार करते हैं *। उनके लेखों से जान पड़ता है कि सभी तरह के परिवर्तनों के संक्रान्त होने की संभावना वे स्वीकार करते हैं †। किन्तु उनके संक्रान्त होने की प्रक्रिया के विषय में कोई निश्चित मत वे नहीं देते ।

विकास-प्रक्रिया के कारणभूत नियमों के उपर्युक्त विवेचन के आधार पर निष्कर्ष के रूप में हम कह सकते हैं कि डार्विन के

निष्कर्ष

अनुसार नवीन योनियों का विकास प्राकृतिक निर्वाचन द्वारा होता है। प्राकृतिक निर्वाचन जीवन-संघर्ष का परिणाम है। जीवन-संघर्ष का कारण जीवों की अति-वृद्धि है। इसमें वातावरण के अनुकूल जीवों की रक्षा और प्रतिकूल का विनाश होता है। अनुकूल और प्रतिकूल होना उनकी शारीरिक विशेषताओं पर निर्भर करता है। ये विशेषताएँ उनके शरीर में विभिन्न कारणों से उत्पन्न परिवर्तनों की देन हैं। इन्हीं विशेषताओं या परिवर्तनों के क्रमिक संचय से नवीन अंग उत्पन्न होते हैं। यह संचय कई पीढ़ियों में होता है। इसके फलस्वरूप उपयोगी अंग उत्पन्न होने से जीवों का अस्तित्व कायम रहता है, अन्यथा उनका सर्वनाश हो जाता है। इन्हीं बातों को संक्षेप में डार्विन यह कहकर व्यक्त करते हैं कि जीवन-संग्राम में साधन-सम्पन्न जातियों की रक्षा द्वारा जीव-योनियों की उत्पत्ति होती है (Origin of species by means of the preservation of favoured races in the struggle for life)।

---

*"The laws governing inheritance are for the most part unknown." Origin, Page 10.

† "Perhaps the corrct way of viewing the whole subject would be to look at the inheritance of every character, whatever as the rule, and non-inheritance as the anomaly."—Origin, Page 10.

डार्विनवाद का मूल्यांकन

डार्विन ने अपने विकास-सिद्धान्त को इतनी स्पष्टता और प्रामाणिकता के साथ प्रतिपादित किया कि तत्कालीन जनता पर उसका बड़ा ही गहरा प्रभाव पड़ा। किन्तु यह प्रभाव एकांगी नहीं था क्योंकि उनके सिद्धान्त का समर्थन और विरोध दोनों ही काफी उत्साह के साथ लोगों ने किया। वैज्ञानिक (Scientific) और प्रकृतिवादी (Naturalistic) झुकाववाले लोगों को तो ऐसा लगा कि डार्विन ने अपने सिद्धान्त द्वारा ऐसी कुंजी दे दी हैं जिससे विश्व की सभी रहस्यपूर्ण गुत्थियाँ सुलझाई जा सकती हैं। इसलिए इन लोगों ने डार्विन का स्वागत युग-पुरुष और मंत्र-द्रष्टा के रूप में किया और उनके विकास-सिद्धान्त का समर्थन अपूर्व उत्साह और नवीन आशा के साथ किया। दूसरी ओर जो धर्म के अंध भक्त थे, जिन्हें बाइबिल के वाक्य ही अंतिम सत्य थे, उन्होंने डार्विनवाद का घोर विरोध किया क्योंकि यह सिद्धान्त बाइबिल के विचारों से मेल नहीं खाता था। अतः धर्माधिकारियों के लिए डार्विन अधर्मी और असत्य का प्रचारक ही जान पड़े। डार्विन का सिद्धान्त वस्तुतः बाइबिल से विपरीत था। बाइबिल के अनुसार संसार की सृष्टि ईश्वर ने छः दिन में संपादित की थी तथा वनस्पतियों और पशुओं की सभी जातियाँ भी उन्हीं द्वारा अलग-अलग और अपने वर्तमान रूप में ही सृष्टि-सप्ताह में उत्पन्न की गयी थीं। तबसे लेकर आज तक उनमें कोई अदल-बदल नहीं हुआ है। दूसरी बात यह कि धार्मिक विचारधारा के अनुसार ईश्वर ने सिर्फ मनुष्य की सृष्टि अपने रूप के अनुसार (in His own image) की थी। इसलिए उसे सृष्टि का सर्वश्रेष्ठ प्राणी माना जाता था। किन्तु डार्विन के सिद्धान्त उपर्युक्त विचारों के पूर्ण विरोधी हैं क्योंकि

डार्विनवाद का प्रभाव

वे योनियों का क्रमिक विकास मानते हैं और मनुष्य की उत्पत्ति भी अत्यन्त ही निम्नकोटि के जीवों से बतलाते हैं। जब कि धर्म-ग्रन्थ यह कहते थे कि मनुष्य के पूर्वज अत्यन्त ही सुन्दर और पूर्णता प्राप्त देवपुरुष हैं, तो डार्विन का अत्यन्त ही कुरुप और घिनौनी सूरतवाले बन्दरों को मनुष्य का पूर्वज ठहराना किसको भला लगता ? इसलिए डार्विनवाद का घोर विरोध स्वाभाविक ही था।

डार्विन के जीवन-काल में ही उनके विचारों का तीव्र विरोध हुआ। किन्तु प्रायः अस्वस्थ रहने के कारण उसका उत्तर देने में वे समर्थ नहीं हो पाते थे। यह काम किया उनके कुछ योग्य समर्थकों ने। यों तो ऐसे समर्थकों की संख्या अनेक है (जैसे Asa Gray, Lubbock, W B. Carpenter, etc) किन्तु इनमें सबसे अधिक जोश और उत्साह के साथ डार्विनवाद का प्रतिपादन और समर्थन करनेवाले थे हक्सले (Thomas Henery Huxley 1825–1895) जिनका उत्साह इसीसे प्रकट होता है कि वे अपने को डार्विन का कुत्ता (Darwin's Bull dog) कहा करते थे।*

किन्तु काल-क्रम में विरोधियों और समर्थकों दोनों का उत्साह कम हो चला और स्थिर चित्त से डार्विनवाद की परीक्षा होने लगी। इसका परिणाम हुआ कि धर्मावलंबियों ने देखा कि इसमें केवल असत्य ही नहीं है और वैज्ञानिकों ने महसूस किया कि यह अभिश्रित सत्य नहीं है। इसी समय से डार्विनवाद की बौद्धिक समीक्षा आरंभ होती है। इस समीक्षा में दार्शनिकों और वैज्ञानिकों दोनों ने भाग लिया है, और आज स्थिति यह है कि डार्विन की देन की महत्ता स्वीकार करते हुए विद्वानों का निर्णय है कि यह सिद्धांत

*देखिये
A History of Science by Dampier, Page 298.

विकास की उपयुक्त व्याख्या प्रस्तुत करन में सफल नहीं हो सका है। यहां इसी समीक्षा के आधार पर डार्विनवाद की कुछ त्रुटियाँ हम दिखलायँगे।

(१) डार्विनवाद का बहुत बड़ा दोष यह समझा जाता है कि वह जीव की उत्पत्ति-विषयक समस्या का समाधान नहीं करता है। जीव-कोषों से जीव-योनियों का विकास वह बतलाता है जरूर, किन्तु किस प्रकार सर्वप्रथम जीव की उत्पत्ति संसार में हुई, इसका कोई उपयुक्त उत्तर उसके पास नहीं है। डार्विन-जैसे वैज्ञानिक के लिए यह कहना शोभा नहीं देता कि किसी तरह ईश्वर ने निर्जीव कोषों में प्राण डाल दिया। किन्तु जीव की आदि उत्पत्ति का निश्चित ज्ञान विकासवाद की स्थापना के लिए आवश्यक है, इसलिए इसका अभाव डार्विनवाद को अत्यन्त ही दुर्बल बना देता है।

डार्विनवाद की त्रुटियाँ

(२) डार्विन के विरुद्ध प्रयोजनवादियों का आक्षेप है कि वे यंत्रवाद को स्वीकार करते हैं जो विश्व या उसके किसी क्षेत्र, विशेषकर प्राणी-जगत, की व्याख्या के लिए अनुपयुक्त है। हम देखते हैं कि प्राणी-जगत में सामंजस्य और व्यवस्था का साम्राज्य है। किन्तु सामंजस्य और व्यवस्था की व्याख्या के लिए किसी प्रयोजनवान नियंता की आवश्यकता है जो किसी उद्देश्य के अनुकूल उसका संचालन करके ऐसा रूप देता है। फ्लिण्ट (Robert Flint) डार्विन के सिद्धांतों का ही विश्लेषण करके सिद्ध करते हैं कि बिना किसी नियंता को स्वीकार किए वे अर्थहीन हो जाते हैं *। उदाहरण के लिए किसी एक, जैसे शारीरिक परिवर्तन के नियम, को लिया जा सकता है। इसके अनुसार प्राणियों में सदा परिवर्तन होते रहते हैं। किन्तु डार्विन भी मानते हैं कि ये परिवर्तन किसी निश्चित

* देखिए, Theism by Robert Flint, Pages 200—209.

दिशा में होते हैं। ह्वेल (Whale) के शरीर में ऐसे परिवर्तन नहीं होते कि पंख लगाकर वह पक्षी हो जाय, न पक्षी के शरीर में ऐसे कि ह्वेल की हड्डी पैदाकर वह ह्वेल बन जाय। किन्तु ऐसा क्यों होता है ? यंत्रवादी आधार पर इसकी व्याख्या नहीं हो सकती, किन्तु यदि हम यह मान लें कि विश्व में एक सर्वज्ञ नियंता है जिसने ऐसा प्रबन्ध कर दिया है तो इसका समाधान हो जाता है। इसलिए डार्विन का विकासवाद यंत्रवादी होने के कारण ग्राह्य नहीं है।

(३) डार्विनवाद की तीसरी त्रुटि यह है कि विकास-प्रक्रिया में नूतनताओं के प्रादुर्भाव की व्याख्या वह नहीं कर पाता। यह दोष उसके यंत्रवाद का परिणाम है। यंत्रवाद मानता है कि कार्य (effect) में वही विशेषता हो सकती है जो किसी न किसी रूप में कारण (cause) में पहले से ही विद्यमान रहती है। इसका मतलब है कि कार्य में कोई बिलकुल नवीन गुण नहीं हो सकता, वैसा गुण जो कि कारण में नहीं है। अतः कार्य छिपे रूप में कारण की आवृत्ति मात्र है। डार्विन का यंत्रवादी विकासवाद इसको स्वीकार करता है और मानता है कि विकास-प्रक्रिया में आगे आने वाली घटनाएँ पीछे की घटनाओं का कार्य या परिणाम (resultant) हैं। इसीलिए उसे कभी-कभी आवृत्यात्मक विकासवाद (Repetitive Evolutionism) कहते हैं। इस सिद्धांत के अनुसार चूँकि आगे आने वाली घटना पीछे की घटना का परिणाम मात्र है, उसमें कोई नवीनता न होनी चाहिए। किंतु हम देखते हैं कि विकास की हर अवस्था में नवीनताएँ रहती हैं। न जीव जड़ की आवृत्ति है, न चेतन जीव की। जीव-जगत में भी वनस्पतियों, पशुओं और मनुष्यों में काफी भेद है और किसी को किसी की आवृत्ति नहीं कहा जा सकता। अतः विकास-क्रम में नूतनताओं के प्रादुर्भाव

को असत्य नहीं कहा जा सकता, और जब यह सत्य है तो इसकी व्याख्या डार्विनवाद-जैसे यंत्रवादी विकासवाद से नहीं हो सकती।

(४) फ्रेंच विद्वान बर्गसां (Henry Bergson, 1859–1941) का आक्षेप है कि यंत्रवादी होने के कारण डार्विनवाद यह भी नहीं बता सकता कि नितांत भिन्न परिस्थियों में समान घटनाएं क्यों उत्पन्न होती हैं। उदाहरण लेकर वे दिखलाते हैं कि मनुष्य और पेक्टेन (Pecten, एक जीव-विशेष) की आँखें बिलकुल समान हैं जबकि उनकी परिस्थितियाँ बिलकुल भिन्न हैं। यंत्रवाद मानता है कि समान कारण ही समान कार्य उत्पन्न कर सकता है। किन्तु ऊपर के उदाहरण में हम देखते हैं कि कार्य (आँखें) समान हैं जब कि कारण (परिस्थितियाँ) भिन्न हैं। अब यदि हम पूछें कि विषम परिस्थितियों में समान अंग क्यों उत्पन्न होते हैं, तो इसका कोई समाधान डार्विन के पास नहीं है।

(५) कुछ आलोचकों ने डार्विन के सिद्धांतों की एक-एक करके परीक्षा की है और उनका निष्कर्ष है कि ये सिद्धांत पूर्णतः सत्य नहीं हैं। डार्विन का पहला सिद्धांत है जीवन-संघर्ष का। इसके आधार स्वरूप उन्होंने मालथस की अतिवृद्धि के सिद्धान्त को अपनाया था किन्तु आज वह सर्वमान्य नहीं है। दूसरे, यदि हम मान भी लें कि अतिवृद्धि है तो उसी से जीवन-संघर्ष का होना आवश्यक नहीं हो जाता। जब हम पूछते हैं कि जीने के लिए सभी जीव क्यों संघर्ष करते हैं, क्यों नहीं वे आराम से मर जाना पसन्द करते हैं कि दिन-रात लड़ाई-झगड़े की जिन्दगी पसन्द करते हैं, तो इन प्रश्नों का कोई उत्तर डार्विन के पास नहीं है। वे सिर्फ कहते हैं कि संघर्ष होता है किन्तु इसका कोई प्रेरक कारण नहीं बतलाते। तीसरे, जीवन-संघर्ष की कल्पना तभी अर्थपूर्ण हो सकती है जब

कि यह माना जाय कि प्राणियों के अन्दर जीने और संतान पैदा करने की अदम्य इच्छा है। पहले तो डार्विन इस तरह की कोई बात स्पष्ट रूप से मानते नहीं हैं और यदि मानें तो असंगति का दोष धर दबाता है। जीवनेच्छा को विकास का मूल कारण मानने का मतलब होगा कि विकास-प्रक्रिया प्रयोजनपूर्ण है क्योंकि इसका तात्पर्य यही होगा कि विकास की सभी घटनाएँ एक उद्देश्य (जीवनेच्छा) की पूर्ति के निमित्त होती हैं। किन्तु डार्विन यंत्रवादी होने के नाते विकास-क्रम को निरुद्देश्य मानते हैं। अतः जीवनेच्छा को जीवन-संघर्ष का कारण मानने पर उन्हें एक साथ प्रयोजनवाद और यंत्रवाद दोनों का समर्थन करना पड़ेगा जो कि स्पष्टतः असंगत है। जीवन संघर्ष के सिद्धांत में चौथा दोष अतिशयोक्ति का है। बहुत-से विद्वानों का मत है कि जितना संघर्ष डार्विन कहते हैं उतना वस्तुतः है नहीं। वे बतलाते हैं कि व्यक्तियों और जातियों में संघर्ष के साथ-साथ सहयोग भी होता है।

जीवन-संघर्ष की तरह प्राकृतिक निर्वाचन की भी काफी तीव्र आलोचना हुई है। इस विषय में बर्गसाँ का आक्षेप बड़ा महत्त्वपूर्ण है। इस सिद्धांत के अनुसार प्रकृति में उन्हीं जीवों का निर्वाचन होता है जिनके पास वातावरण के अनुकूल बनानेवाली विशेषताएँ रहती हैं। यहां बर्गसाँ का कहना है कि यदि ऐसी बात है तब किसी भी नये अंग की उत्पत्ति असंभव हो जायगी। नये अंग की उत्पत्ति डार्विन के अनुसार अलग-अलग होने वाले सूक्ष्म परिवर्तनों के एकत्रीकरण से होती है। हमने पहले आँख का उदाहरण लेकर दिखलाया था कि 'क' 'ख' 'ग' 'घ' आदि अनेक परिवर्तनों के संचय से आँख का निर्माण होता है। यहां बर्गसाँ कहते हैं कि पूरी आँख बनने के पहले 'क' 'ख' आदि कोई भी परिवर्तन उपयोगी नहीं होते हैं। माना कि किसी समय एक परिवर्तन 'क' हुआ। किन्तु अकेले

'क' उस प्राणी को वातावरण के अनुकूल नहीं बना सकता। इस-लिए प्राकृतिक निर्वाचन के सिद्धान्त के अनुसार उसका विनाश हो जाना चाहिए। इसी तरह 'ख' 'ग' 'घ' आदि सभी का विनाश हो जायगा। किन्तु जब ये परिवर्तन ही विनष्ट हो जायँगे तो एकत्रीकरण किनका होगा? और एकत्रीकरण न होगा तो आँख बनेगी कैसे? यही हालत सभी अंगों के साथ होगी और नवीन अंगों के विकास न होन से नवीन योनियों का विकास भी न हो सकेगा क्योंकि नवीन अंगों की उत्पत्ति से ही नवीन योनियाँ उद्‌भूत होती हैं। इस तरह यदि प्राकृतिक निर्वाचन सचमुच सत्य है तो योनियों का विकास असंभव है। अतः जिसे डार्विन योनियों की उत्पत्ति का कारण मानते हैं वह वस्तुतः उसे असंभव कर देने वाला सिद्ध होता है।

शारीरिक परिवर्तन का नियम डार्विन का तीसरा सिद्धान्त है। उपयुक्त दो की तरह यह भी आजकल निर्दोष नहीं माना जाता है। परिवर्तनों के विषय में डार्विन का कहना था कि उन्हीं परिवर्तनों का संचय होता है जो संघर्ष में सहायक होते हैं। किन्तु वैज्ञानिकों ने अनुसन्धान करके बहुत से ऐसे जीवों को खोज निकाला है जिनमें ऐसे परिवर्तनों का एकत्रीकरण हुआ है जिनसे सहायता के बदले कठिनाई ही होती है। फिर, ऐसा भी देखा जाता है कि कुछ अंग जो कभी उपयोगी थे विकसित होते-होते इतना बढ़ जाते हैं कि अन्त में बाधक होकर उस जाति का विनाश ही कर डालते हैं। आयरलैंड में एक प्रकार के जीव (Irish Elk) थे जिनकी सींगें (जो पहले सहायक थीं) इतनी लम्बी हो गयीं कि चलने-फिरने में कठिनाई होने लगी, यहाँ तक कि आगे चलकर उन जीवों का अस्तित्व ही मिट गया। इस विषय में डार्विन का यह भी मत है कि उपयोगी परिवर्तनों के क्रमिक संचय से नई योनियाँ

उत्पन्न होती हैं। किन्तु बाटेसन, ह्यूगो डिव्राइस (Bateson, Hugo De Vries), आदि ने अपने अनुसन्धानों से सिद्ध किया है कि योनियों का विकास क्रमिक नहीं बल्कि एकाएक होता है। उनका कहना है कि जीवों के इतिहास में कभी-कभी एक-ब-एक इतने नवीन शारीरिक परिवर्तन एक साथ उत्पन्न हो जाते हैं कि उनके पूर्वजों से भिन्न उनकी नई जाति ही बन जाती है।*

डार्विन का अन्तिम स्तम्भ आनुवंशिकता का सिद्धांत है किन्तु इसे भी आलोचकों ने दोषरहित नहीं माना है। हम पहले भी देख चुके हैं कि डार्विन का यह सिद्धांत बड़ा अपूर्ण है। वे यह नहीं बताते कि एक पोढ़ी की विशेषताएँ क्यों दूसरी में संक्रान्त होती हैं। वे यह भी मानते हैं कि उपार्जित विशेषताएँ (Acquired characters) संक्रान्त होती हैं। किन्तु अधिकांश जीव-शास्त्री इसको असत्य मानते हैं। इस विषय में वाइजमैन (August Weismann) के अनुसन्धान बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। उन्होंने बतलाया है कि जीवों के अन्दर दो तरह के कोष (cells) रहते हैं, बीज-कोष (Germ - cells) और शरीर - कोष (Body or Somatic Cells)। वही विशेषताएँ एक से दूसरी पीढ़ी में संक्रांत हो सकती हैं जो बीज-कोषों को प्रभावित करती हैं। किन्तु उपार्जित विशेषताओं का प्रभाव उन तक न पहुँचकर शरीर-कोषों तक ही सीमित रहता है, इसलिए उनके संक्रान्त होने की संभावना नहीं है।

---

* "The new species appears all at once; it originates from the parent species without any visible preparation, and without any obvious series of transitional forms."—Hugo De Vries, Quoted by P. Geddes & J. A. Thomson in 'Evolution', Page 126.

डार्विनवाद की उपर्युक्त आलोचना स्पष्टतः सूचित करती है कि आज वह सर्वस्वीकृत सिद्धांत नहीं है। किन्तु इससे डार्विन का महत्त्व कम नहीं होता। हमारी आलोचना तो इस

उपसंहार

सत्य की ओर संकेत करती है कि डार्विन का विकासवाद जीव-शास्त्र की अन्तिम उपलब्धि नहीं है। इसलिए डार्विन का महत्त्व अभी भी नष्ट नहीं हुआ है। उनका महत्त्व यह है कि उन्होंने एक ऐसा विकास-सिद्धांत उपस्थित किया जो इतना प्रभावशाली सिद्ध हुआ कि दल-के-दल विद्वानों को इस ओर लगा दिया। इसी का परिणाम है कि आज अगण्य विचारक विकास के रहस्य को सुलझाने का बीड़ा उठाये चिन्तन और अनुशीलन को अपना जीवन समर्पित किए हुए हैं। यद्यपि डार्विन की दी हुई विकास की व्याख्या उन्हें मान्य नहीं है किन्तु विकास की वास्तविकता में उन्हें रंच मात्र भी सन्देह नहीं है। विकास की वास्तविकता में विद्वानों का विश्वास स्थापित करने का श्रेय डार्विन को ही है।

तेरहवाँ अध्याय

ईश्वर-विज्ञान

विषय-प्रवेश

हम देख चुके हैं कि ईश्वर का विवेचन दर्शन की जिस शाखा में होता है उसे ईश्वर-विज्ञान कहते हैं। ईश्वर की समस्या बड़ी ही महत्त्वपूर्ण है। किसी ने ठीक ही कहा है कि ईश्वर में हम विश्वास करें या न करें, किन्तु हमारे अन्दर उसके प्रति सदा एक आकर्षण बना रहता है। विद्वानों ने तो अपने अनुसन्धानों के फल-स्वरूप यहां तक सिद्ध किया है कि संसार की विभिन्न जातियों में ईश्वर में विश्वास करने वालों की संख्या ही अधिक है। हम भी मानते हैं कि इस विश्वास की उपादेयता और सत्यता के विषय में जो भी मत रखा जाय किन्तु संसार के अधिकांश लोगों के मन में इसकी विद्यमानता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। यही कारण है कि ईश्वर-विषयक चिन्तन दर्शन का एक मुख्य अंग बन जाता है, क्योंकि जब यह विश्वास इतना व्यापक है तो इसका बौद्धिक विवेचन कर तथ्य-निरूपण करना दर्शन का कर्त्तव्य हो जाता है। यही ईश्वर-विज्ञान का अभीष्ट है। इसमें ईश्वर-संबंधी विभिन्न विषयों की परीक्षा करके कोई युक्तिपूर्ण सिद्धांत प्रदान करने की चेष्टा की जाती है। किन्तु अन्य शाखाओं की तरह यहां भी अनेक सिद्धांत प्रतिपादित किए गए हैं।

व्यापक दृष्टि से ईश्वर-विषयक सिद्धांतों को दो भागों में बाँटा जाता है जिनमें एक को ईश्वरवाद या आस्तिकवाद (Theism) और दूसरे को अनीश्वरवाद या नास्तिकवाद (Atheism) कहा जाता है। दोनों में भेद है कि ईश्वरवाद ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास करता है और उस विश्वास को सत्य मानता है। किन्तु अनीश्वरवाद ऐसा विश्वास नहीं करता क्योंकि उसके अनुसार ईश्वर का अस्तित्व मिथ्या या असत्य है। अतः दोनों सिद्धांत परस्पर-विरोधी हैं। इनके विरोध को पूरा-पूरा समझने के लिए ईश्वर का अर्थ समझना जरूरी है क्योंकि यह विरोध उसी को लेकर है।

ईश्वरवाद और अनीश्वरवाद

यद्यपि सभी ईश्वरवादी ईश्वर में विश्वास करते हैं किन्तु ईश्वर से सबका आशय सदा एक नहीं रहता है। यह बात इससे भी स्पष्ट होती है कि विभिन्न धर्मों का भेद उनके ईश्वर-विषयक विचारों में वैविध्य होने के कारण ही उत्पन्न होता है। इस वैविध्य का कारण है कि मनुष्य की बुद्धि के विकास के साथ-साथ ईश्वर-चिन्तन का भी विकास होता गया है। इसलिए भिन्न-भिन्न युगों के विचारकों में भेद होना स्वाभाविक है। फिर भी कुछ सामान्य बातें हैं जिन्हें सभी स्वीकार करते हैं। इसलिए यहाँ पर ईश्वर का वही अर्थ हम करेंगे जो सबको मान्य है और उनकी विभिन्नताओं को ईश्वरवादी सिद्धान्तों के विवेचन में प्रस्तुत करेंगे।

ईश्वर का अर्थ

जो भी ईश्वर को मानते हैं वे उसे **वास्तविक** (Real) मानते हैं। वास्तविक कहने का अर्थ है कि वह हमारे मन की कपोल-कल्पना मात्र नहीं बल्कि एक वास्तविक सत्ता है जिसका अस्तित्व हमारे ऊपर किसी भी तरह निर्भर नहीं है। यह वास्तविकता

साधारण नहीं बल्कि **पारमार्थिक** (Ultimate) है। इसका मतलब है कि ईश्वर की वास्तविकता निरपेक्ष और स्वतंत्र है। अतः अपनी वास्तविकता के लिए वह किसी पर आधारित नहीं है बल्कि अन्य सभी चीजें उसी पर आधारित ह। पारमार्थिक होने के साथ-साथ वह **चिरन्तन** (Eternal) और **अक्षय** भी माना जाता है अर्थात उसका नाश कभी भी न होनेवाला है। यही ईश्वर विश्व का **कारण** या **आधार** है, इसी के चलते विश्व है और इसके अभाव में वह कायम नहीं रह सकता है। ईश्वर की वास्तविकता **सर्वश्रेष्ठ** (Highest) कही जाती है क्योंकि उससे महान कोई पदार्थ नहीं है। सर्वश्रेष्ठ सत्ता (Highest Reality) होने के अतिरिक्त वह **सर्वश्रेष्ठ अर्घ** (Highest Value) भी माना जाता है। इसका मतलब है कि ईश्वर से बढ़कर मूल्यवान पदार्थ कोई नहीं है। इसलिए उसे **अनर्घतम** कहते हैं और उसी को जीवन का सर्वोच्च आदर्श मानते हैं। यही कारण है कि सभी ईश्वरवादी ईश्वर को **परम साध्य** (Highest End) कहते हैं क्योंकि ईश्वर से बढ़कर दूसरा कोई पदार्थ नहीं है जिसको जीवन का साध्य या आदर्श बनाया जा सके। ईश्वर की प्रकृति के विषय में सभी ईश्वरवादी सहमत हैं कि वह **आध्यात्मिक** (Spiritual) या चेतन (Conscious) है, भौतिक या जड़ नहीं। इसी लिए कोई भी ईश्वरवादी शुद्ध भौतिकवादी नहीं हो सकता।

उपर्युक्त विशेषताएँ ईश्वर की सामान्य विशेषताएँ हैं। ईश्वर में विश्वास करने का मतलब उन्हीं से युक्त पदार्थ में विश्वास करना है। ईश्वरवादी होने के लिए न्यूनतम शर्त ईश्वर की सत्यता में विश्वास करना है। अतः वे सभी सिद्धान्त ईश्वरवादी कहे जायँगे जो ईश्वर अर्थात उक्त विशेषणों से युक्त पदार्थ को सत्य मानते हैं। अनीश्वरवाद ईश्वरवाद का विरोधी है, इसलिए अनीश्वरवादी होने

की न्यूनतम शर्त ईश्वर में अविश्वास है। जो भी अनिश्वरवादी हैं वे चाहे किसी भी कारण से हो ईश्वर में विश्वास नहीं करते हैं। अनीश्वरवादियों में भी उतना ही आंतरिक भेद है जितना कि ईश्वरवादियों में; सिर्फ इसी में वे एकमत हैं कि ईश्वर के अस्तित्व को असत्य मानते हैं।

ईश्वर में अविश्वास रखने के लिए अनीश्वरवादियों ने भिन्न-भिन्न कारण दिया है जिसके आधार पर फ्लिंट (Robert Flint)* ने अनीश्वरवाद का तीन भेद किया है: (१) हठवादी अनीश्वरवाद (Dogmatic Atheism), (२) संदेहवादी अनीश्वरवाद (Sceptical Atheism), और (३) समीक्षावादी अनीश्वरवाद (Critical Atheism)। हठवादी अनीश्वरवाद दावे के साथ कहता है कि ईश्वर का अस्तित्व नहीं है, इसलिए उसमें विश्वास करना अंधविश्वास मात्र है। संदेहवादी अनीश्वरवाद इतनी दूर तक नहीं जाता है। उसका कहना है कि ईश्वर के अस्तित्व या अनस्तित्व का निश्चित ज्ञान प्राप्त करना मनुष्य की बुद्धि के लिए संभव नहीं है, इसलिए उसमें विश्वास करना या उसके अस्तित्व को सत्य मानना न्यायोचित नहीं है। समीक्षावादी अनीश्वरवाद और भी नम्र है। उसके अनुसार ईश्वर में विश्वास करना उचित नहीं है क्योंकि उसके अस्तित्व को सत्य मानने के लिए पर्याप्त युक्तियाँ प्राप्त नहीं हैं। जितनी युक्तियाँ ईश्वरवादियों ने दी हैं उनकी समीक्षा करके वह उन्हें दोषपूर्ण ठहराता है।

ईश्वरवाद और अनीश्वरवाद का तत्त्व-शास्त्रीय सिद्धांतों से बहुत गहरा संबंध है। इसका कारण है कि तत्त्व-शास्त्र मूल तत्त्व की खोज करता है और विभिन्न ईश्वर-विषयक सिद्धांत भी ईश्वर को

---

* देखिये—Anti-theistic Theories by R. Flint, P. 4.

स्वीकार या अस्वीकार करके मूल तत्त्व के विषय में ही कथन करते हैं क्योंकि ईश्वरवादी ईश्वर को जब स्वीकार करता है तो उसे ही मूल तत्त्व मानता है और अनीश्वरवादी उसे असत्य बता इसी को अस्वीकार करता है। इसी तरह मूल तत्त्व की खोज करते-करते कभी हम ईश्वरवादी बन जाते हैं तो कभी अनीश्वरवादी।

ईश्वर-विषयक सिद्धांतों का तत्त्व-शास्त्र से संबंध

विभिन्न तत्त्व-शास्त्रीय सिद्धांतों का ईश्वर के विषय में क्या मत है जान लेने से यह कथन और स्पष्ट हो जायगा। भौतिकवाद ईश्वर को नहीं मानता है क्योंकि उसके अनुसार मूल तत्त्व जड़ है। द्वैतवादियों में ईश्वरवादी और अनीश्वरवादी दोनों हैं जैसे सांख्य अनीश्वरवादी है और एरिस्टाटल ईश्वरवादी हैं। ऐसा हो सकता है क्योंकि द्वैतवाद मूलतत्त्व को जड़ और चेतन दोनों मानता है। अनुभयवादियों में भी कुछ ईश्वरवादी हैं जैसे वीलियम जेम्स, और कुछ अनीश्वरवादी हैं जैसे आधुनिक युग के कुछ वस्तुवादी विचारक। अब बचा प्रत्ययवाद। प्रत्ययवादियों में भी कुछ ईश्वरवादी हैं और कुछ अनीश्वरवादी।

अनीश्वरवाद ईश्वर को मानता ही नहीं, इसलिए ईश्वर-विषयक विभिन्न प्रश्नों के समाधान से वह मुक्त हो जाता है। किन्तु ईश्वर-वाद ईश्वर को सत्य मानता है, इसलिए ईश्वर-संबंधी सभी समस्याओं का समाधान करना उसका उत्तरदायित्व बन जाता है। इस बात को सभी ईश्वरवादी महसूस करते हैं और उनके समाधान के लिए चेष्टाशील रहते हैं। उनके प्रयत्नों के फलस्वरूप विभिन्न ईश्वरवादी सिद्धांतों (Theistic theories) की उत्पत्ति होती है। इन सिद्धांतों की संख्या बहुत है, किन्तु यहां पर ईश्वर के स्वरूप और विश्व के साथ संबंध की चर्चा करनेवाले सिद्धांतों का ही विवेचन हम करेंगे।

ईश्वर का स्वरूप

(१) अनेकेश्वरवाद

ईश्वर के स्वरूप के विषय में दो मुख्य सिद्धांत हैं, अनेकेश्वर-वाद (Polytheism) और एकेश्वरवाद (Monotheism)। अनेकेश्वरवाद अनेक ईश्वरों या देवताओं को सत्य मानता है, किन्तु एकेश्वरवाद के अनुसार ईश्वर एक है। ऐतिहासिक दृष्टि से अनेकेश्वर-वाद पहले आता है। इसका आरंभ बहुत प्राचीन काल में ही हुआ था जब कि मनुष्य की विचारशक्ति पूरी विकसित नहीं हुई थी। इसके प्रचुर उदाहरण प्राचीन धर्मों में मिलते हैं।

अनेकेश्वरवाद अनेक ईश्वरों में विश्वास करता है और उन्हें परस्पर भिन्न और समानतः परमार्थ मानता है। विश्व का संचालन उन्हीं द्वारा होता है। ईश्वरों को व्यक्तित्ववान माना जाता है और अमरता, अपरिवर्तनशीलता, आदि अनेक गुणों से युक्त कहा जाता है। यद्यपि वे असीम, अनन्त या सर्वव्यापक नहीं कहे जाते, किन्तु बहुत शक्तिशाली समझे जाते हैं, यहाँ तक कि उनकी शक्ति का अंदाज लगाना मनुष्य के लिए संभव नहीं है। उनकी शक्ति ऐसी है कि वे जो चाहें कर सकते हैं। यद्यपि वे शरीररहित नहीं हैं किन्तु इतनी क्षमता उनमें है कि जैसा चाहें वैसा शरीर धारण कर सकते हैं। उनकी मर्जी पर संसार का कल्याण–अकल्याण निर्भर है—उनके खुश होने से कल्याण और नाराज होने से अकल्याण होता है। इसलिए प्राचीन मनुष्य अपने कल्याण के लिए उनकी आराधना करता है और जो चीज अपने बाहुबल से नहीं प्राप्त हो सकती उसे भी देवता के प्रसाद से पा लेने की आशा रखता है। प्रकृति के विभिन्न क्षेत्रों का स्वामी इन्हीं देवताओं को माना जाता है, इसलिए हर एक क्षेत्र के लिए एक देवता की कल्पना की जाती है और प्राकृतिक

दुर्घटनाएँ जैसे भूकम्प, अनावृष्टि, दुर्भिक्ष, आदि किसी देवता के कोप के कारण समझी जाती हैं।

अनेकेश्वरवाद का उदाहरण प्राचीन यूनान, इजीप्ट, बेबिलोनिया, आदि देशों के धर्मों में मिलता है। यूनानी धर्म में जीउस (Zeus), एपोलो (Apollo), आर्टेमिस (Artemis), आदि अनेक देवता माने जाते हैं। प्राचीन वैदिक धर्म को भी कुछ विद्वानों ने अनेकेश्वरवादी कहा है क्योंकि वह इंद्र, वरुण, अग्नि, आदि अनेक देवताओं को स्वीकार करता है। किन्तु ऐसा कहना उचित नहीं है क्योंकि अनेकेश्वरवाद अनेक देवताओं को स्वतंत्र और समानतः महत्त्वपूर्ण मानता है किन्तु वेदों में जब किसी देवता की स्तुति की जाती है तो उसी को सर्वश्रेष्ठ, सर्वशक्तिमान या सबका मालिक कह कर संबोधित किया जाता है। इसका मतलब है कि वैदिक ऋषि देवताओं को अनेक मानते हैं किन्तु सबको समान नहीं मानते जो अनेकेश्वरवाद के लिए अनिवार्य है। इसी कारण मैक्समूलर (Maxmuller) ने वैदिक मत के लिए अनेकेश्वरबाद की संज्ञा को अनुपयुक्त समझ एक नये शब्द (Henotheism) का प्रयोग किया है। 'अनेकेश्वरवाद' संज्ञा की अनुपयुक्तता का प्रमाण यह भी है कि कुछ वैदिक मंत्र साफ-साफ कहते हैं कि भिन्न-भिन्न देवताएँ एक ही ईश्वर के विभिन्न नाम हैं, (एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति, ऋग-वेद, १।१६४।४६)। इसलिए हम भी इस मत से सहमत हैं कि देवताओं की अनेकता स्वीकार करते हुए भी भारतीय वैदिक धर्म अनेकेश्वर-वादी नहीं है।

(२) एकेश्वरवाद

दर्शन और धर्म के इतिहास में काफी बाद जब कि मनुष्य की चिंतन-शक्ति सुविकसित हो जाती है तब एकेश्वरवाद का उदय होता

है। जब वह प्रकृति के विभिन्न अंगों को अलग-अलग नहीं बल्कि मूलतः एक समझने लगता है तो एकेश्वरवाद का प्रतिपादन करता है। इस मत के अनुसार ईश्वर एक ही है और सर्वशक्तिमान, सर्वाधार, और सार्वभौम है। संसार उसी पर आश्रित है, इसलिए उसके बिना संसार की उत्पत्ति या रक्षा संभव नहीं है। वह पूर्णतः चेतन है और उसकी चेतना अनन्त एवं अबाधित है। वह सारे विश्व का ज्ञाता है इसलिए उसे सर्वज्ञ की संज्ञा दी जाती है। उसे निरपेक्ष भी कहा जाता है क्योंकि किसी दूसरे पदार्थ की अपेक्षा उसे नहीं है, अपना आश्रय वह आप है।

एकेश्वरवाद के समर्थकों में बहुत-से आपसी मतभेद हैं। एकेश्वरवादी होने की आवश्यक शर्त है ईश्वर की संख्यात्मक एकता स्वीकार करना। इतना सभी ऐकेश्वरवादी करते हैं, किन्तु अन्य सभी विषयों में उनका मत समान नहीं है। कुछ विचारक ईश्वर को व्यक्तित्वपूर्ण (Personal) मानते हैं तो कुछ व्यक्तित्वरहित (Impersonal); कुछ सगुण मानते हैं तो कुछ निर्गुण। कुछ हैं जो ईश्वर के अतिरिक्त जड़–चेतन, दैवी–अदैवी, किसी भी पदार्थ को परमार्थ नहीं मानते, किन्तु कुछ दूसरे भी हैं जो ईश्वर को तो एक ही मानते हैं किन्तु उसके अतिरिक्त दूसरे तरह के पदार्थों को स्वीकार करते हैं। पहले प्रकार के विचारक एकेश्वरवाद के साथ–साथ तत्त्व-शास्त्रीय एकवाद को भी स्वीकार करते हैं, जैसे शंकर। किन्तु दूसरे प्रकार के विचारक एकेश्वरवाद के साथ–साथ तत्त्वशास्त्रीय द्वैतवाद या अनेकवाद का समर्थन करते हैं। पेल्टो और एरिस्टाटल ईश्वर को एक मानते हैं किन्तु उसके अतिरिक्त एक भूत (Matter) को भी परमार्थ मान ही लेते हैं। वैशेषिक दर्शन भी ईश्वर को एक मानता है किन्तु उसके अतिरिक्त परमाणु, मन, आत्मा, दिक, काल, आदि अनेक तत्त्वों को सत्य स्वीकार करता है। किन्तु ये सभी विचारक

ईश्वर को विश्व के लिए आवश्यक मानते हैं। अंतर सिर्फ यह है कि अकेल ईश्वर को ही परमार्थ माननेवाले ईश्वर को विश्व का पर्याप्त कारण मानते हैं जब कि उसके अतिरिक्त अन्य पदार्थों को सत्य माननेवाले उसे सिर्फ निमित्त कारण मानते हैं। उनके लिए विश्व का उपादान कारण कुछ और है।

एकेश्वरवाद का उदाहरण इसाई, इसलाम, तथा हिन्दू धर्म में मिलता है। किन्तु हिन्दू एकेश्वरवाद की एक विशेषता है जो औरों में नहीं है। उसके अनुसार एक ईश्वर को सत्य मानने पर अनेक देवताओं को असत्य कहने की आवश्यकता नहीं है। इसका कारण है कि वह मानता है कि ईश्वर एक है किन्तु अपने को अनेक देवताओं के रूप में व्यक्त कर सकता है और उसके किसी रूप की पूजा करके उसकी आराधना की जा सकती है।

चौदहवाँ अध्याय

ईश्वर और विश्व का संबंध

विषय-प्रवेश

ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार करने पर स्वभावतः हम जानना चाहते हैं कि विश्व के साथ उसका क्या सम्बन्ध है । सैद्धान्तिक दृष्टि से ईश्वर को परम तत्त्व और व्यावहारिक दृष्टि से परम साध्य कहा जाता है । इसलिये संसार के साथ उसका कोई निश्चित सम्बन्ध होना आवश्यक है अन्यथा उसे परमतत्त्व या परमसाध्य कहने का कोई अर्थ नहीं होता । अतः किसी का यह कहना ठीक ही है कि संसार के साथ कोई सम्बन्ध नहीं रहने पर ईश्वर का सत्य या असत्य होना दोनों बराबर है । वस्तुतः सम्बन्ध के अभाव में उससे न तो विश्व की व्याख्या हो सकती है न धर्म-भावना की तृप्ति ही । अतः ईश्वरवाद के लिये ईश्वर और विश्व का सम्बन्ध निश्चित करना अनिवार्य हो जाता है । इस बात की महत्ता सभी ईश्वरवादियों ने महसूस की है और अपने-अपने दृष्टिकोण से इस पर प्रकाश डाला है ।

हमने देखा है कि ईश्वर के स्वरूप के विषय में अनेकेश्वरवाद और एकेश्वरवाद दो मुख्य सिद्धान्त हैं । अनेकेश्वरवाद का प्रतिपादन तब हुआ था जब कि ईश्वर और विश्व के सम्बन्ध-विषयक प्रश्न की गम्भीरता को समझ कर बौद्धिक विवेचन के लिए अपेक्षित प्रौढ़ता मनुष्य की विचार-शक्ति को प्राप्त नहीं थी । इसलिए इस विषय

में कोई युक्तिपूर्ण सिद्धान्त वह प्रस्तुत नहीं करता है। किन्तु एकेश्वरवाद के साथ ऐसी बात नहीं है। उसके प्रतिपादक इसकी महत्ता अच्छी तरह समझते हैं और उचित समाधान देने की चेष्टा करते हैं। किन्तु इसमें सभी एकेश्वरवादियों का एक ही मत हो सो बात नहीं है। इस विषय में उनके चार मुख्य सिद्धान्त हैं जो अपने-अपने ढंग से ईश्वर और संसार का सम्बन्ध स्थिर करते हैं। वे यों हैं: (१) **केवलनिमित्तेश्वरवाद** (DEISM) (२) **केवलोपादानेश्वरवाद** (PANTHEISM), (३) **निमित्तोपादानेश्वरवाद** (PANENTHEISM) और (४) **ईश्वरवाद** (THEISM)।

(१) केवलनिमित्तेश्वरवाद

केवलनिमित्तेश्वरवाद की विशेषताएँ

केवलनिमित्तेश्वरवाद (Deism) के अनुसार ईश्वर विश्व का केवल निमित्त कारण है, उपादान कारण नहीं। वस्तुतः उसका उपादान कारण (Material cause) कुछ है ही नहीं क्योंकि उसकी रचना शून्य से होती है। ईश्वर ही एकमात्र परमार्थ तत्त्व है जो बिना किसी उपादान के शून्य से (out of nothing) इतने वैविध्यपूर्ण संसार की सृष्टि कर डालता है। अतः संसार का सिर्फ निमित्त कारण (Efficient cause) है और वह ईश्वर है। ईश्वर व्यक्तित्वपूर्ण (Personal), चेतन और चिरंतन है। किन्तु संसार चिरंतन या अनादि नहीं है। संसार की सृष्टि किसी खास समय में होती है। अतः सृष्टि के पहले ऐसी अवस्था होती है जिसमें केवल ईश्वर ही विद्यमान रहता है और संसार का सर्वथा अभाव रहता है। इस समय ईश्वर की एकाकी सत्ता होती है क्योंकि उसके अतिरिक्त किसी पदार्थ को यह मत परमार्थ

मानता ही नहीं है। यह ईश्वर अपने में पूर्ण और निरपेक्ष होता है। वही किसी निश्चित समय में सृष्टि करता है। सृष्टि करना उसके लिये अनिवार्य नहीं है। वह तो स्वेच्छा से ऐसा करता है। संसार की अपेक्षा या आवश्यकता भी उसे नहीं रहती है क्योंकि वह स्वभावतः पूर्ण और अभावरहित है। इसलिये संसार की रचना अपनी किसी कमी को पूरा करने के लिये वह नहीं करता है क्योंकि किसी तरह की कमी उसमें है ही नहीं। फिर भी सृष्टि निरूद्देश्य नहीं है। सृष्टि करने का उद्देश्य अपने से भिन्न पदार्थों को अस्तित्व प्रदान करना और सुखी बनाना है। ईश्वर चाहता है कि अपने से भिन्न पदार्थों का निर्माण करे और उन्हें सुखी बनावे। इसी उद्देश्य से प्रेरित होकर विविध प्रकार की वस्तुओं से भरे संसार की रचना वह कर डालता है। संसार के अन्दर जड पदार्थ और चेतन आत्मा दोनों हैं और दोनों की सृष्टि उसी ने की है। सृष्टि करके उसके संचालन के लिये संसार में पर्याप्त शक्ति और सामग्री वह भर देता है और आवश्यक नियमों (Necessary laws) की स्थापना कर देता है। इसके बाद संसार के साथ वह तनिक भी हस्तक्षेप नहीं करता। विश्व अपने आप स्वतंत्र गति से अपने नियमों के अनुसार चलता रहता है, ईश्वर उसका शासन या देखभाल नहीं करता। इसलिये केवलनिमित्तेश्वरवाद (Deism) ईश्वर को बिलकुल विश्वातीत (Transcendent) मानता है क्योंकि विश्व का संचालन उसके अन्दर रह कर वह नहीं करता है। सृष्टि कर के ही वह उससे अलग हो जाता है और उसका संचालन ईश्वर के सहयोग या छेड़छाड़ के बिना उसके अपने नियमों द्वारा होता है। इन नियमों का आदि संस्थापक ईश्वर ही है। इसलिये ईश्वर को संसार का आदि कारण (First cause) और सांसारिक नियमों को गौण कारण (Second causes) कहा जाता है।

अत: ईश्वर संसार का स्रष्टा (Creator) भर है, रक्षक या पालक नहीं। इस प्रकार यह सिद्धान्त संसार को एक प्रकार की स्वतंत्रता प्रदान करता है क्योंकि सृष्टि के बाद हर समय ईश्वर की देख-भाल की आवश्यकता उसे नहीं रहती है। किन्तु ईश्वर का हस्तक्षेप करना असम्भव नहीं कहा जा सकता क्योंकि संसार उसी की सृष्टि है। अपितु, कभी-कभी ऐसा करना आवश्यक हो जाता है। कभी-कभी संसार में ऐसी गड़बड़ी हो जाती है जो बिना ईश्वर के ठीक नहीं हो सकती। ऐसे ही मौके पर विश्व-प्रक्रिया में वह हस्तक्षेप करता है और जो कुछ त्रुटि रहती है उसे ठीक कर देता है। किन्तु ऐसा बहुत कम होता है। आमतौर पर वह विश्व से अलग ही रहता है। जड़ पदार्थ या चेतन-आत्मा किसी को ईश्वर पर सदा निर्भर नहीं करना पड़ता। जड़ पदार्थों के अन्दर प्रचुर भौतिक-शक्ति रहती है ग्रौर उनकी गति-बिधि उनके भौतिक नियमों द्वारा निर्दिष्ट होती है। उसी तरह आत्माओं के अन्दर इच्छा-स्वातंत्र्य है। स्रष्टा ने ही उन्हें यह शक्ति दी है। इसका अभिप्राय यह है कि अपनी इच्छा के अनुसार वे अपने आचरण को बना सकते हैं या मनचाहे पथ का अनुसरण कर सकते हैं। इसलिये हो सकता है कि उनका उद्देश्य कभी ईश्वर के उद्देश्य के विपरीत हो जाय। किन्तु इसकी कोई परवाह उन्हें नहीं है। जब इच्छा-स्वातंत्र्य उनमें है तो वे अपना कोई भी उद्देश्य रख सकते हैं। इस तरह व्यक्तियों की स्वतंत्र क्रियाओं या भौतिक घटनाओं के चलते कभी कोई बहुत बड़ा दोष विश्व-प्रक्रिया में उत्पन्न हो सकता है। वैसी हालत में ईश्वर चुपचाप बैठा नहीं रहता बल्कि तुरत उसे ठीक कर देता है। ईश्वर की ऐसी क्रियायें आम नियम नहीं बल्कि अपवाद स्वरूप हैं। इसलिये उन्हें अलौकिक (Supernatural) या चमत्कार (Miracle) कहा जाता है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हम कह सकते हैं कि केवल-निमित्तेश्वरवाद ईश्वर और विश्व के बीच वैसे ही सम्बन्ध की कल्पना करता है जैसा कि मनुष्य और उसकी बनायी चीजों के बीच रहता है।* मनुष्य कोई चीज बनाता है और बनाकर उससे अलग हो जाता है, उसके अन्दर बैठा नहीं रहता और तभी उसके साथ छेड़-छाड़ करता है जब उसमें कोई त्रुटि उत्पन्न होती है। ईश्वर भी संसार के साथ ऐसा ही करता है। उसका सम्बन्ध भी संसार के साथ बिलकुल बाहरी है, आन्तरिक नहीं। विश्व में वह व्याप्त (Immanent) नहीं रहता है बल्कि मानवी कारीगर की तरह अपनी सृष्टि से अलग-अलग ही रहता है।

इस सिद्धान्त के समर्थकों की संख्या अत्यन्त ही कम है। भारतीय दर्शन में इसका एक भी समर्थक नहीं मिलता है। पश्चिमी दर्शन में सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दियों में कुछ विचारक हुए थे जिन्हें इसका समर्थक कहा जाता है। उनमें टोलैंड (John Toland, 1670-1722), टिंडल (Matthew Tindal, 1657-1733), चब (Thomas Chubb, 1679-1747), आदि प्रमुख हैं। किन्तु बहुत दिनों तक विद्वानों का समर्थन इसे प्राप्त नहीं रहा जिसका परिणाम हुआ कि अल्पकाल में ही इसकी लोकप्रियता खतम हो गई।**

केवलनिमित्तेश्वर-वाद के उदाहरण

---

* "The Deistic conception of God has been formed under the influence of the human analogy. As man is contrasted with his work, so is Deity here set over against his world."—The Philosophy of Religion by G. Galloway, Page, 458.

** विस्तृत विवरण के लिए देखिए,
Encyclopaedia of Religion & Ethics, Vol IV, Pages 533—43.

पंद्रहवाँ अध्याय

(२) केवलोपादानेश्वरवाद

केवलोपादानेश्वर-वाद की विशेषताएँ

इस सिद्धांत (Pantheism) के अनुसार ईश्वर ही एकमात्र सत्ता है और वह अनन्त तथा सर्वव्यापक है। ईश्वर के अतिरिक्त अन्य किसी पदार्थ को किसी भी दृष्टि से परमार्थ नहीं कहा जा सकता। केवल ईश्वर ही सत्य है, इसलिए यह भी कह सकते हैं कि जो कुछ सत्य है वह ईश्वर है, अर्थात ईश्वर और सत्ता दोनों समानार्थक हैं। इस कथन को इस प्रकार भी व्यक्त किया जाता है कि ईश्वर सम्पूर्ण सत्ता है और संपूर्ण सत्ता ईश्वर है। Pantheism शब्द का यही अर्थ होता है (Pan=all, Theos=God)। इसलिए इस मत को **सर्वेश्वरवाद** भी कहा जा सकता है क्योंकि ईश्वर और संपूर्ण सत्ता (God and the whole of reality) दोनों का एकीकरण (identification) यहाँ किया जाता है। इस एकीकरण से ही हम अनुमान कर सकते हैं कि ऐसे ईश्वर का विश्व के साथ क्या संबंध हो सकता है। वस्तुतः विश्व, जो संपूर्ण सत्ता का द्योतक है, उससे भिन्न नहीं हो सकता। बात भी यही है। इस मत के अनुसार ईश्वर और विश्व अभिन्न (indistinguishable) और अवियोज्य (inseparable) हैं। ईश्वर ही विश्व है और विश्व ही ईश्वर है, ईश्वर विश्व के हर क्षेत्र में व्याप्त है और विश्व का सब कुछ ईश्वर पर आश्रित है। ईश्वर सर्वव्यापक है और विश्व

में सर्वथा व्याप्त है; उसके बाहर तनिक भी नहीं है ।* अतः विश्व से अलग ईश्वर नहीं है क्योंकि वह विश्व में ही समाप्त है और ईश्वर से अलग विश्व नहीं है क्योंकि उसी पर विश्व अवलंबित है । इसलिए संक्षेप में हम कह सकते हैं कि इस मत के अनुसार ईश्वर पूर्णतः विश्वव्यापी (wholly immanent in the universe) है और विश्व पूर्णतः ईश्वराधीन (wholly dependent on God) है ।

ईश्वर और विश्व की एकता घोषित करने के साथ इस मत की दूसरी विशेषता यह है कि दोनों एक-दूसरे के लिए अनिवार्य माने जाते हैं । इसका मतलब है कि विश्व के लिए ईश्वर आवश्यक है और ईश्वर के लिए विश्व । विश्व के लिए ईश्वर आवश्यक है क्योंकि वह विश्व का आधार या कारण है और ईश्वर के लिए विश्व आवश्यक है क्योंकि विश्व के रूप में अपने को व्यक्त करने की अवश्यंभाविता (necessity) उसकी प्रकृति में ही निहित है । अतः विश्व की उत्पत्ति ईश्वर से होती है और उसे उत्पन्न करना ईश्वर के लिए ऐच्छिक या वैकल्पिक नहीं बल्कि अनिवार्य है क्योंकि उसकी प्रकृति ऐसी है कि बिना ऐसा किए (अर्थात विश्व को उत्पन्न किए बिना) वह रह ही नहीं सकता । इसलिए तत्त्वशास्त्रीय दृष्टि से केवलोपादानेश्वरवाद (Pantheism) में एकवाद (Monism) और नियतवाद (Determinism) दोनों सन्निहित हैं ।** *यह एक-

---

*......God is an entity not separate from the world and remote from it, but in it and of it—immanent, not transcendent......"

Encyclopaedia of Religion and Ethics, Page, 613.

**"In order that there may be pantheism, monism and determinism must be combined."—Flint, Anti-theistic Theories, P. 336.

वादी है क्योंकि इसके अनुसार मूलतत्त्व ईश्वर है जो एक है और नियतवादी है क्योंकि ईश्वर से विश्व की उत्पत्ति अनिवार्य (necessary) और निश्चित (determined) है। केवलोपादानेश्वरवाद की तीसरी विशेषता है कि यह ईश्वर को व्यक्तित्वरहित (impersonal) मानता है। उसमें व्यक्तित्व और व्यक्तित्व के लक्षण जैसे इच्छा, द्वेष, संकल्प आदि का पूर्ण अभाव है। चौथी विशेषता इस सिद्धांत की है कि ईश्वर और विश्व के संबंध को कालिक (temporal) नहीं बल्कि शास्वत मानता है। किसी काल विशेष में संसार की उत्पत्ति ईश्वर से नहीं होती बल्कि दोनों का संबंध चिरंतन अर्थात काल-निरपेक्ष (non-temporal) है क्योंकि ईश्वर सदा विश्व में व्याप्त रहता है और विश्व सदा ईश्वर पर आश्रित रहता है।

अन्य ईश्वरवादी सिद्धांतों के साथ केवलोपादानेश्वरवाद की तुलना

प्रस्तुत सिद्धांत के स्वरूप को ठीक-ठीक समझने के लिए अन्य ईश्वरवादी, विशेषकर एकेश्वरवादी (Monotheistic), सिद्धांतों से इसकी तुलना कर लेना निस्सन्देह लाभकर होगा क्योंकि यह भी एकेश्वरवाद का ही एक भेद है। एकेश्वरवादी होने के कारण यह स्वभावतः अनेकेश्वरवाद का विरोधी है। ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार करने के अतिरिक्त दोनों में कोई समानता नहीं है। एक के लिए ईश्वर एक, असीम, तथा सर्वव्यापी है तो दूसरे के लिए अनेक, ससीम तथा अंशव्यापी है। अन्य एकेश्वरवादी सिद्धांतों के साथ भी केवलोपादानेश्वरवाद का पूरा मेल नहीं है, और विशेष कर केवलनिमित्तेश्वरवाद के साथ बहुत अधिक विषमता है। दोनों में समानता यह है कि दोनों के अनुसार ईश्वर एक, अनन्त, तथा एकमात्र परमार्थ तत्त्व है, किन्तु इसके बाद विषमता ही विषमता है। उनकी विषमताएँ निम्न-

लिखित हैं : (१) केवलनिमित्तेश्वरवाद के अनुसार ईश्वर व्यक्तित्वपूर्ण है किन्तु केवलोपादानेश्वरवाद के अनुसार व्यक्तित्वरहित है। (२) पहला संसार की सृष्टि को ऐच्छिक (optional or free) और सोद्देश्य (purposive) मानता है परंतु दूसरा उसे अनिवार्य अर्थात ईश्वर की प्रकृति का अवश्यंभावी परिणाम और निरुद्देश्य घोषित करता है। इसलिए पहले के लिए ऐसी अवस्था संभव है जब कि केवल ईश्वर ही रहें और विश्व न बना हो, किन्तु दूसरे के लिए यह असंभव है क्योंकि उसके अनुसार ईश्वर और विश्व अवियोज्य हैं। (३) पहले के लिए ईश्वर विश्व का केवल निमित्त कारण है, इसलिए संसार से बिलकुल अलग है। जिस तरह जादू-गर शून्य से सोने का रुपया बनाकर उससे अलग हो जाता है, वैसे ही ईश्वर भी करता है। परिणाम यह है कि ईश्वर बिलकुल विश्वातीत है। किन्तु दूसरा ईश्वर को केवल उपादान कारण मानता है। उपादान कारण (material cause) कार्य में पूर्णतः व्याप्त रहता है। मिट्टी मिट्टी की बनी चीजों का उपादान कारण है और कार्य से अभिन्न है क्योंकि मिट्टी की चीजों में ही वह व्याप्त है, उनके बाहर तनिक भी नहीं है। कार्य अर्थात मिट्टी की चीजें भी अपने उपादान कारण अर्थात मिट्टी से अभिन्न हैं, वे वस्तुतः मिट्टी ही हैं, उससे अलग या स्वतंत्र नहीं। उनमें मिट्टी के सिवा कुछ नहीं है और मिट्टी उनेक अतिरिक्त अन्य किसी जगह नहीं है। ईश्वर और विश्व का संबंध भी ऐसा है कि ईश्वर विश्व के बाहर नहीं और विश्व ईश्वर से स्वतंत्र या अलग नहीं है, अर्थात ईश्वर विश्वमय और विश्व ईश्वरमय हैं। यहाँ पर दोनों सिद्धांतों का विरोध अत्यंत ही तीव्र हो जाता है। केवलनिमेत्तेश्वरवाद के लिए विश्व का उपादान कारण है ही नहीं, केवल निमित्तकारण है ; और केवलोपादानेश्वरवाद के अनुसार उसका कोई निमित्त कारण ही

नहीं है, केवल उपादान कारण है और वही ईश्वर है। इसी लिए पहला ईश्वर को पूर्णतः विश्वातीत (wholly transcendent) और दूसरा पूर्णतः विश्वव्यापी (wholly immanent) मानता है। (४) उपर्युक्त अन्तर के चलते ही विश्व की तात्त्विक स्थिति (ontological status) के विषय में दोनों का मतभेद हो जाता है। केवलनिमित्तेश्वरवाद मानता है कि सृष्टि के बाद विश्व को ईश्वर की आवश्यकता नहीं रहती, उससे अलग और स्वतंत्र होकर वह अपने आप चलता रहता है। किन्तु केवलोपादानेश्वरवाद के अनुसार कभी भी विश्व ईश्वर से स्वतंत्र या अलग नहीं हो सकता।* (५) पाँचवा भेद दोनों में है कि केवलनिमित्तेश्वरवाद ईश्वर और विश्व के सम्बन्ध को कालिक मानता है, अर्थात किसी निश्चित काल में ईश्वर विश्व की सृष्टि करता है। किन्तु केवलोपादानेश्वरवाद ईश्वर और विश्व के संबंध को काल-निरपेक्ष या चिरंतन मानता है। ईश्वर से विश्व की उत्पत्ति किसी खास काल की नहीं बल्कि चिरंतन घटना है क्योंकि दोनों का संबंध अनवच्छिन्न है।

केवलोपादानेश्वरवाद के उदाहरण

केवलनिमित्तेश्वरवाद की तरह केवलोपादानेश्वरवाद का भी कोई उदाहरण भारतीय दर्शन में नहीं मिलता है क्योंकि ईश्वर और विश्व का समानीकरण (equation) किसी भी ईश्वरवादी दर्शन को मान्य नहीं है। किन्तु अधिकांश पश्चिमी लेखक भारतीय ईश्वरवाद को केवलोपादानेश्वरवादी कह कर पुकारते हैं। इसे हम उनके अज्ञान या अल्प ज्ञान का ही सूचक मानते हैं। वस्तुतः

---

* "The creature (ie. world) is so dependent on the Creator (ie. God) as to exist only in, through and by him."—Flint. Anti-theistic Theories, Page 338.

जिस सिद्धान्त-विशेष को अर्थात वेदान्त को वे सर्वांगपूर्ण केवलोपादानेश्वरवाद मानते हैं वह भी वैसा नहीं है, दूसरों की तो बात ही और है।* पश्चिमी दर्शन में कई ऐसे विचारक हैं जो केवलोपादानेश्वरवाद या सर्वेश्वरवाद (Pantheism) की ओर झुकाव दिखलाते हैं किन्तु इसका पूर्ण विकसित रूप स्पीनोजा के दर्शन में मिलता है। उनके अतिरिक्त फेकनर तथा आधुनिक युग के कुछ निरपेक्ष प्रत्ययवादियों की रचनाओं में भी इसका स्पष्ट उदाहरण मिलता है।

स्पीनोजा

स्पीनोजा (Spinoza) के अनुसार ईश्वर या द्रव्य (Substance) एक, असीम, स्वतंत्र, स्वयंभू (self-caused) व्यक्तित्वरहित, चिरंतन, सर्वव्यापक, तथा अनन्त धर्मों से युक्त है। वह ऐसा है कि उसके अस्तित्व या विचार के लिए किसी दूसरे पदार्थ की अपेक्षा नहीं है। उसके हरएक धर्म अपने आप में अनन्त हैं। धर्मों (attributes) में सिर्फ दो अर्थात विचार (thought) और विस्तार (extension) का ही ज्ञान मनुष्य को होता है। ईश्वर ही विश्व का कारण है, किन्तु वैसा कारण नहीं जैसा कि पिता अपने पु का है, बल्कि वैसा कारण है जो कार्य से अभिन्न रहता है जैसे दूध अपनी सफेदी का या सेव अपनी लाली का है। न दूध सफेदी से अलग है, न सेव लाली से। ऐसा ही संबंध ईश्वर का विश्व से है। ईश्वर कारण या आधार है और विश्व कार्य या आधेय, और दोनों में अभेद संबंध है; ईश्वर विश्व में व्याप्त है और विश्व ईश्वर पर अवलंबित है। विश्व से अलग न ईश्वर है, न ईश्वर से

* ".......undoubtedly the completest expression of Hindu Pantheism—the Vedant Philosophy."—Flint, Anti-theistic Theories, P. 344.

अलग विश्व। विश्व के अन्दर जड़ और चेतन दो तरह के पदार्थ हैं। जड़ पदार्थ ईश्वर के विस्तार गुण के प्रकार या विका (modes) हैं और चेतन विचार गुण के। विश्व इन्हीं प्रकारों की समष्टि है। ईश्वर से विश्व की उत्पत्ति ऐच्छिक नहीं बल्कि अवश्यंभावी है जिस तरह कि किसी वृत्त के अर्धव्यासों का समान होना अनिवार्य है। ईश्वर व्यक्यित्वरहित है क्योंकि व्यक्तित्व का आरोप करने पर वह सीमित हो जायगा और सीमित होने पर उसकी ईश्वरता ही नष्ट हो जायगी। व्यक्तित्व का अभाव होने से उसमें इच्छा (desire) या प्रयोजन का आरोप भी नहीं किया जा सकता। इसलिए विश्व की उत्पत्ति सोद्देश्य या प्रयोजनपूर्ण नहीं बल्कि ईश्वर की प्रकृति का निष्प्रयोजन और अनिवार्य परिणाम है। चूँकि विश्व के हर क्षेत्र में ईश्वर व्याप्त है और उसका कण-कण ईश्वर पर आश्रित है, विश्व के किसी पदार्थ का स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है। अतः संसार में जो कुछ होता है, सब ईश्वराधीन है।

जर्मन दार्शनिक फेकनर (G. T .Fechner, 1801–1887) भी ईश्वर और विश्व को अभिन्न मानते हैं। उनके अनुसार दोनों में वही संबंध है जो आत्मा और शरीर में है।

फेकनर

ईश्वर आत्मा है और विश्व शरीर। इसलिए शरीर में आत्मा की तरह ईश्वर विश्व में सर्वत्र व्याप्त है। यही कारण है कि दोनों को अलग-अलग अर्थात ईश्वर को विश्वरहित और विश्व को ईश्वररहित नहीं किया जा सकता।

फेकनर का मत प्रत्ययवादी सर्वेश्वरवाद (Idealistic Pantheism) कहलाता है क्योंकि ईश्वर को वे आत्मा या चेतन मानते हैं। इसे सर्वात्मवाद (Panpsychism) भी कहते हैं क्योंकि उनके अनुसार सभी पदार्थों में आत्मा विद्यमान है।

आधुनिक प्रत्यय-वादी विचारक

आधुनिक युग के कुछ प्रत्ययवादी विचारक भी सर्वेश्वरवादी कहे जा सकते हैं । इस वर्ग में वे हैं जो मानते हैं कि परम तत्त्व एक सर्वव्यापक आत्मा है जिसके अन्दर सारा विश्व समाविष्ट है और जो सारे विश्व में याप्त है । इसी सत्ता का नाम ईश्वर है । ईश्वर विश्व का आधार है और विश्व उसकी अभिव्यक्ति है । अभिव्यक्ति से अलग ईश्वर या आधार से अलग विश्व का होना संभव नहीं है ।

सोलहवाँ अध्याय

(३) निमित्तोपादानेश्वरवाद

निमित्तोपादानेश्वरवाद की विशेषताएँ

यह सिद्धांत (Panentheism) भी ईश्वर को एक, अनन्त, सर्वव्यापक तथा व्यक्तित्वरहित मानता है और उसके अतिरिक्त किसी अन्य पदार्थ को परमार्थ नहीं कहता। ईश्वर ही विश्व का मूल तत्त्व है, इसलिए तत्त्वशास्त्रीय दृष्टि से यह मत संख्यात्मक एकवाद (Numerical Monism) का समर्थक है। विश्व ईश्वर की अभिव्यक्ति है; अपने आरंभ, अस्तित्व, तथा रक्षा के लिए उस पर निर्भर है, अर्थात ईश्वर उसका उत्पादक, पालक और रक्षक है। उससे विश्व कभी असंबद्ध या स्वतंत्र नहीं होता क्योंकि अलग होकर कायम रहने की क्षमता उसमें नहीं है। विश्व में ईश्वर सदा व्याप्त रहता है किन्तु उसी में समाप्त नहीं हो जाता, अर्थात ईश्वर विश्व के अन्दर है और बाहर भी, उसी तक सीमित नहीं है। इसलिए उसे विश्वव्यापी और विश्वातीत (Transcendent and Immanent) दोनों माना जाता है। वह विश्वव्यापी है क्योंकि विश्व का हरएक पदार्थ उसी की अभिव्यक्ति है, उसी के प्रकाश से प्रकाशित है, किन्तु विश्वातीत भी है क्योंकि वह इन अभिव्यक्तियों के योग मात्र के बराबर नहीं बल्कि उससे महान है। अतः ईश्वर विश्व तो है ही, किन्तु विश्व ही भर नहीं है, कुछ और भी है। इसी आशय को व्यक्त करने के लिए इस मत को निमित्तोपादा-

नेश्वरवाद की संज्ञा दी जाती है । इसका अर्थ होता है कि ईश्वर विश्व का निमित्त और उपादान दोनों कारण है । निमित्त कारण होने से वह विश्वातीत अर्थात कार्य (विश्व) से अलग रहता है, जैसे कुम्हार घड़े से । उपादान कारण होने से वह विश्वव्यापी अर्थात कार्य (विश्व) में व्याप्त रहता है जैसे मिट्टी घड़े-जैसे मिट्टी की चीजों का उपादान कारण होने से उनमें व्याप्त रहती है । ईश्वर विश्व का उपादान कारण है क्योंकि विश्व उसी की अभिव्यक्ति है, विश्व में वही उद्भासित हो रहा है अर्थात विश्व का मूल द्रव्य (substance) वही है। वह निमित्त कारण भी है क्योंकि यह अभिव्यक्तीकरण उसी की क्रियाशीलता का परिणाम है; किसी दूसरी सत्ता से प्रभावित होकर नहीं बल्कि अपने आप वह अपने को विश्व के रूप में व्यक्त करता है । अंग्रेजी का Panentheism' शब्द भी इस बात का द्योतक है कि ईश्वर विश्व के भीतर-बाहर दोनों है । इस शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग जर्मन दार्शनिक क्राउजे (Friedrich Krause, 1781–1832) ने किया था । इसका अर्थ होता है (Pan=all, en=in, theos=God, ie. all is in God) कि सारा विश्व ईश्वर में समाविष्ट है किन्तु ईश्वर के बराबर नहीं है । क्राउजे का भी यही आशय था कि ईश्वर विश्वव्यापी और विश्वातीत दोनों है क्योंकि वह अपने में विश्व को समाहित कर उसमें व्याप्त है और उसमें सीमित न होकर उसके बाहर है ।

संसार में जड़ और चेतन दो तरह के पदार्थ हैं । जड़ की विशेषता है कि उसमें चेष्टा करने की स्वतंत्रता नहीं है, अपन से वह हिलडुल नहीं सकता, न कोई सरल या जटिल क्रिया ही कर सकता है। किन्तु चेतन प्राणियों में ऐसी बात नहीं है। उनमें चेष्टा-स्वातंत्र्य है । निमित्तोपादानेश्वरवाद मानता है कि जड़-चेतन दोनों

में स्वतंत्र सत्ता का अभाव है क्योंकि दोनों ईश्वर पर निर्भर हैं किन्तु उनमें अन्तर यह है कि जड़ की अपेक्षा चेतन ईश्वर की अधिक पूर्ण अभिव्यक्ति है। इसीलिए उसमें चेष्टा-स्वातंत्र्य है जोकि जड़ में नहीं है क्योंकि जड़ अत्यन्त ही अस्पष्ट और अपूर्ण तरीके से ईश्वर को अभिव्यक्त करता है।

ईश्वर को निमित्तोपादानेश्वरवाद व्यक्तित्वरहित (impersonal) मानता है। अतएव ईश्वर के विषय में इतना सभी निमित्तोपादानेश्वरवादी स्वीकार करते हैं कि वह विश्वव्यापी, विश्वातीत, विश्व के लिए आवश्यक तथा व्यक्तित्वशून्य है। किन्तु जब हम यह पूछते हैं कि ईश्वर के लिए विश्व आवश्यक है कि नहीं तो उनमें मतभेद पाते हैं। कुछ मानते हैं कि ईश्वर के लिए विश्व भी आवश्यक या अपेक्षित है जब कि दूसरे मानते हैं कि उसके लिए विश्व आवश्यक नहीं है। पहले मतवालों का कहना है कि ईश्वर और विश्व का संबंध ऐसा है कि एक दूसरे के लिए अनिवार्य है, ईश्वर विश्व के लिए क्योंकि उसका आधार है और विश्व ईश्वर के लिए क्योंकि उसके प्रकाशित होने का वही साधन है। दूसरे मत वालों का कहना है कि विश्व ईश्वर पर निर्भर है, इसलिए उसे ईश्वर की अपेक्षा है किन्तु ईश्वर को विश्व की अपेक्षा किसी भी रूप में नहीं है क्योंकि उसकी सत्ता पूर्णतः स्वतंत्र है।

अन्य ईश्वरवादी सिद्धांतों के साथ निमित्तोपादानेश्वरवाद की तुलना

निमित्तोपादानेश्वरवाद की उपर्युक्त विशेषताएँ अन्य ईश्वरवादी सिद्धांतों से तुलना करने पर और स्पष्ट हो जाती हैं। केवलनिमित्तेश्वरवाद (Deism) और केवलोपादानेश्वरवाद (Pantheism) की तरह यह भी अनेकेश्वरवाद (Polytheism) का विरोधी है क्योंकि ईश्वर को एक मानता है जबकि वह अनेक करार करता है। किन्तु उक्त दोनों सिद्धांतों के साथ

इसका संबंध ऐसा है कि कुछ विषयों में समानता है और कुछ विषयों में असमानता।

केवलनिमित्तेश्वरवाद और निमित्तोपादानेश्वरवाद

दोनों की सामान्य मान्यताएँ यों हैं : (१) ईश्वर संख्या में एक है। (२) वही एकमात्र परमार्थ सत्ता है। (३) वह विश्व का निमित्त कारण है तथा (४) विश्वातीत है। उनकी विषमताएँ निम्नलिखित हैं :

केवलनिमित्तेश्वरवाद (Deism)	निमित्तोपादानेश्वरवाद (Panentheism)
(१) ईश्वर व्यक्तित्ववान है।	(१) ईश्वर व्यक्तित्व-शून्य है।
(२) ईश्वर विश्व का केवल निमित्त कारण है।	(२) ईश्वर विश्व का निमित्त और उपादान दोनों कारण है।
(३) विश्व की सृष्टि या उत्पत्ति किसी काल-विशेष में होती है।	(३) विश्व की सृष्टि या उत्पत्ति काल-सापेक्ष नहीं है।
(४) विश्व की सृष्टि शून्य से होती है, उसका उपादान कारण कुछ है ही नहीं।	(४) विश्व की सृष्टि शून्य से नहीं होती, उसका उपादान कारण ईश्वर स्वयं है।
(५) ईश्वर बिलकुल विश्वातीत है क्योंकि विश्व की सृष्टि करके वह उससे एकदम अलग हो जाता है। अतः वह स्रष्टा भर है, विश्व का रक्षक या पालक नहीं।	(५) ईश्वर विश्वव्यापी और विश्वातीत दोनों है। संसार की सृष्टि करके उससे वह कभी अलग नहीं होता बल्कि सदा उसमें व्याप्त रहता है। अतः वह स्रष्टा होने के साथ-साथ रक्षक और पालक भी है।

(६) केवलनिमित्तेश्वरवाद के सभी समर्थक इस बात पर सहमत हैं कि ईश्वर के लिए विश्व आवश्यक नहीं है।	(६) निमित्तोपादानेश्वरवादियों में कुछ ईश्वर के लिए विश्व को आवश्यक मानते हैं जब कि कुछ दूसरे उसे आवश्यक नहीं मानते।

केवलोपादानेश्वरवाद और निमित्तोपादानेश्वरवाद

केवलोपादानेश्वरवाद और निमित्तोपादानेश्वरवाद की समानताएँ हैं कि दोनों मानते हैं कि (१) ईश्वर एक है। (२) वही एकमात्र परमार्थ तत्त्व है। (३) विश्व का वही आधार है, इसलिए विश्व के लिए आवश्यक है। (४) वह व्यक्तित्वरहित है। (५) विश्व में वह सर्वदा व्याप्त रहता है और (६) विश्व का कभी भी उससे असंबद्ध होना संभव नहीं है। उनके अंतर निम्नलिखित हैं।

केवलोपादानेश्वरवाद (Pantheism)	निमित्तोपादानेश्वरवाद (Panentheism)
(१) ईश्वर विश्व का केवल उपादान कारण है, इसलिए विश्व में सदा व्याप्त रहता है और उसी में समाप्त हो जाता है। अतः वह केवल विश्वव्यापी है।	(१) ईश्वर विश्व का निमित्त और उपादान दोनों कारण है। इसलिए विश्व में होते हुए भी उसी में समाप्त नहीं है। अतः वह विश्व-व्यापी और विश्वातीत दोनों है।
(२) जड़ और चेतन दोनों ईश्वर पर निर्भर हैं और उनमें किसी प्रकार की भी स्वतंत्रता नहीं है।	(२) जड़ और चेतन दोनों ईश्वर पर निर्भर हैं किन्तु चेतन प्राणियों में कार्य करने की स्वतंत्रता है।

(३) ईश्वर के लिए विश्व आवश्यक है, ऐच्छिक नहीं क्योंकि वह उसकी प्रकृति का आवश्यक परिणाम है।	(३) इस मत के कुछ समर्थक ईश्वर के लिए विश्व को आवश्यक और कुछ अनावश्यक मानते हैं।

विभिन्न सिद्धांतों के उपर्युक्त तुलनात्मक विवेचन से यह साफ मालूम होता है कि निमित्तोपादानेश्वरवाद केवलनिमित्तेश्वरवाद और केवलोपादानेश्वरवाद के एकांगीपन से मुक्त है क्योंकि ईश्वर को केवल विश्वव्यापी या विश्वातीत नहीं बल्कि दोनों मानता है। इसलिए इसके समर्थकों की संख्या औरों से अधिक है। इसका प्रतिपादन पश्चिमी और भारतीय दोनों दर्शनों के इतिहास में पाया जाता है।

निमित्तोपादानेश्वरवाद के उदाहरण

पश्चिमी दर्शन में निमित्तोपादानेश्वरवाद (Panentheism) के सर्वप्रथम प्रमुख समर्थक जर्मन दार्शनिक **हीगल** (Hegel) हैं। उनके अनुसार विश्व का मूल तत्त्व पूर्ण प्रत्यय (Absolute Idea) है जो आत्म-चेतन है। उसी को वे ईश्वर कहते हैं। ईश्वर व्यक्तित्व-रहित है। वह विश्वव्यापी और विश्वातीत है। विश्व के साथ उसका ऐसा संबंध है कि दोनों एक-दूसरे के लिए अनिवार्य हैं। विश्व उसकी अनिवार्य अभिव्यक्ति है क्योंकि इसी अभिव्यक्ति द्वारा उसे अपनी पूर्णता की पूर्ण उपलब्धि होती है। अतः बिना विश्व के वह नहीं रह सकता, किन्तु विश्व भी उसके बिना नहीं रह सकता क्योंकि उसी की अभिव्यक्ति होने के कारण विश्व का अस्तित्व उसी पर आधारित है। अभिव्यक्ति होने के कारण विश्व में ईश्वर व्याप्त है, किन्तु उसमें सीमित या समाप्त नहीं है क्योंकि अभिव्यक्तीकरण की उसकी शक्ति (power of

पश्चिमी निमित्तोपादानेश्वरवाद

manefestation) अक्षय और अनन्त है जिससे विश्व में उसका चुक जाना संभव नहीं है। ईश्वर और विश्व का संबंध कालिक (temporal) नहीं है क्योंकि किसी काल-विशेष में वह अपने को विश्व के रूप में व्यक्त करना आरंभ नहीं करता है, बल्कि आधार वाक्य (Premise) से निष्कर्ष (Conclusion) की तरह सदा उससे विश्व की अभिव्यक्ति होती रहती है।

आधुनिक युग के **निरपेक्ष प्रत्ययवादियों** (Absolute Idealists) में कुछ हैं जो निमित्तोपादानेश्वरवाद का समर्थन करते हैं। उनके अनुसार परम तत्त्व एक सर्वव्यापक, पूर्ण आत्मा है जिसे ही वे ईश्वर की संज्ञा देते हैं और मानते हैं कि विश्व को वह अपने अन्दर समाविष्ट रखता है किन्तु तत्त्वतः उसके बराबर नहीं बल्कि उससे महान या अधिक व्यापक है।

आधुनिक विचारकों में फ्रेंच दार्शनिक **बर्गसाँ** (Bergson) को भी निमित्तोपदानेश्वरवाद का समर्थक कहा जा सकता है। उनके अनुसा मूल तत्त्व प्राण-शक्ति (Life Urge) है जो परिवर्तनमय और सतत विकासशील है। जड़, जीव तथा चेतन सभी उसकी अभिव्यक्तियाँ हैं। इसी प्राण-शक्ति को वे ईश्वर कहते हैं और उसे पूर्णतः स्वतंत्र तथा व्यक्तित्वरहित मानते हैं। विश्व के साथ उसका ऐसा संबंध है कि सभी घटनाओं में वह व्याप्त है क्योंकि सारे विश्व में वही व्यक्त हो रहा है किन्तु विश्व में समाप्त नहीं है क्योंकि उसमें अपने को अनन्त रूपों में व्यक्त करने की क्षमता है और विश्व उसकी पूरी अभिव्यक्ति नहीं है। संभव है कि भविष्य में वर्तमान पदार्थों से बिलकुल भिन्न और नवीन पदार्थों के रूप में वह अपने को व्यक्त करे। इसलिए उसे विश्वव्यापी और विश्वातीत दोनों कहना उचित है। प्राण-शक्ति या ईश्वर को बर्गसाँ पूर्णतः स्वतंत्र मानते हैं, इसलिए उनका कहना है कि अपने को

किसी विशेष रूप में व्यक्त करने के लिए वह बाध्य नहीं है। जिस रूप में चाहे वह अपने को व्यक्त कर सकता है, इसलिए किसी विशेष घटना को उसकी अनिवार्य अभिव्यक्ति नहीं कहा जा सकता। इसलिए यह नहीं माना जा सकता कि वर्तमान विश्व उसके लिए अनिवार्य है। यहाँ बर्गसाँ का मत हीगल से भिन्न है। हीगल के लिए ईश्वर की सभी अभिव्यक्तियाँ अनिवार्य हैं, इसलिए विश्व उसके लिए आवश्यक है, किन्तु बर्गसां के अनुसार ऐसी बात नहीं है। दूसरे, हीगल का ईश्वर चिदात्मरूप (of the nature of mind) है जब कि बर्गसां का ईश्वर जीव-रूप (of the nature of life) है।

भारतीय दर्शन का आदि स्रोत वेदों और उपनिषदों में है। इसलिए यद्यपि पूर्ण विकसित रूप में भले ही कोई सिद्धांत-विशेष
उनमें न मिले, किन्तु बीज रूप में करीब-करीब
भारतीय सभी मुख्य सिद्धांतों की चर्चा जिज्ञासु को
निमित्तोपादानेश्वरवाद मिल जायगी। निमित्तोपादानेश्वरवाद के साथ
भी यही बात है। **वेदों और उपनिषदों** में कई जगह स्पष्ट करके कहा गया है कि ईश्वर निगुर्ण या व्यक्तित्वरहित है और विश्वव्यापी तथा विश्वातीत है। इस मत का पूर्ण विकास **शंकराचार्य** के दर्शन में होता है। वस्तुतः 'निमित्तोपादानेश्वरवाद का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण शांकर मत ही है। शंकर के अनुसार केवल ब्रह्म ही सत्य है। वह सच्चिदानन्द (सत्+चित्+आनन्द) ह। ब्रह्म और आत्मा (Self) एक ही हैं। ब्रह्म को शंकर अनन्त, और निगुर्ण अर्थात व्यक्तित्वशून्य मानते हैं। संसार सत्य नहीं बल्कि प्रतीति या आभास मात्र (appearance) है। ब्रह्म और संसार के संबंध को शंकर, व्यावहारिक और पारमार्थिक, दो दृष्टियों से समझाते हैं। व्यावहारिक दृष्टि से ब्रह्म विश्वव्यापी है और

पारमार्थिक दृष्टि से विश्वातीत। व्यवहारिक दृष्टि से संसार सत्य मालूम पड़ता है किन्तु अपने आप में अपूर्ण लगता है। इसलिए उसे ब्रह्म के आश्रित माना जाता है। ब्रह्म ही एकमात्र परमार्थ तत्त्व है, इसलिए आश्रित होना विश्व के लिए अनिवार्य है। इस दृष्टि से ब्रह्म विश्व का अधिष्ठान है और उसके अंग-अंग में व्याप्त है। इसलिए उसे विश्वव्यापी कहा जाता है। पारमार्थिक दृष्टि में विश्व की असत्यता स्पष्ट हो जाती है और ब्रह्म ही एकमात्र सत्य पदार्थ रह जाता है। इसलिए इस स्थिति में वह विश्व से बिलकुल असंबद्ध या विश्वातीत हो जाता है। दो पदार्थों में तभी कोई संबंध हो सकता है जबकि दोनों सत्य हों। उनमें किसी एक या दोनों के असत्य होने पर उनके बीच किसी तरह के संबंध की कल्पना नहीं की जा सकती, जैसे बंध्यापुत्र (barren woman's son) और पटना कालेज या बंध्यापुत्र और आकाश कुसुम (Sky flower) में कोई संबंध नहीं हो सकता क्योंकि पहले मे एक (बंध्यापुत्र) और दूसरे में दोनों असत्य हैं। इसलिए चूँकि विश्व असत्य है, ब्रह्म और विश्व में कोई संबंद्ध नहीं हो सकता है। दोनों के संबंध को समझने के लिए किसी भ्रम, जैसे रस्सी में सर्प का भ्रम, का उदाहरण लिया जा सकता है। जबतक भ्रम कायम रहता है, अर्थात सर्प की प्रतीति होती है, सर्पका अधिष्ठान रस्सी को मानना पड़ेगा। किन्तु भ्रम मिट जाने पर रस्सी और सर्प में कोई संबंध नहीं जान पड़ता है। इसी प्रकार ब्रह्म विश्व से संबद्ध और असंबद्ध दोनों है। ब्रह्म के इन दो पहलुओं को स्पष्ट रखने के लिए शंकर विश्वव्यापी के लिए ईश्वर और विश्वातीत के लिए ब्रह्म की संज्ञा देते हैं।

शंकर के निमित्तोपादानेश्वरवाद की कुछ अपनी विशेषताएँ हैं जो इसे सभी पश्चिमी सिद्धांतों से भिन्न कर देती हैं। पश्चिमी विचारक ईश्वर के उभयात्मक रूपों (विश्वव्यापी और विश्वातीत) में दृष्टि-

भेद नहीं करते । वे एक ही दृष्टि से उसे विश्वव्यापी और विश्वातीत दोनों मानते हैं और दोनों पक्षों को समानतः सत्य समझते हैं। किन्तु शंकर ऐसा नहीं मानते । दूसरे, शंकर ही नहीं बल्कि सारा भारतीय ईश्वरवाद विश्व को ईश्वर के लिए अनिवार्य नहीं मानता है जो कि हीगल तथा कई अन्य पश्चिमी विचारकों के मत के प्रतिकूल है क्योंकि वे उसे अनिवार्य घोषित करते हैं । भारतीय मत में विश्व के लिए ईश्वर अनिवार्य है किन्तु ईश्वर के लिए विश्व नहीं ।

सत्रहवाँ अध्याय

(४) ईश्वरवाद

ईश्वर और विश्व के विषय में चौथा एकेश्वरवादी सिद्धांत ईश्वर-वाद (Theism) है। यहाँ पर ईश्वरवाद संकीर्ण अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। इसका व्यवहार व्यापक और संकीर्ण दो अर्थों में होता है। व्यापक अर्थ में ईश्वरवाद के अंतर्गत वे सभी सिद्धांत सन्निहित हैं जो ईश्वर को सत्य मानते हैं। किन्तु संकीर्ण अर्थ में यह एकेश्वर-वाद का एक प्रकार है, इसलिए व्यापक ईश्वरवाद का एक उप-भेद कहा जा सकता है।

ईश्वरवाद की सामान्य विशेषताएँ

प्रस्तुत प्रकरण में हम संकीर्ण ईश्वरवाद का विवेचन करेंगे। इस अर्थ में ईश्वरवाद एक सिद्धांत-विशेष है जो ईश्वर को एक, अनन्त और व्यक्तित्वपूर्ण मानता है और उसी को विश्व का अंतिम आधार या आदि कारण स्वीकार करता है।* विश्व उस पर निर्भर है और कभी उससे अलग या असंबद्ध नहीं हो सकता। विश्व और ईश्वर का संबंध ऐसा है कि ईश्वर विश्वव्यापी और विश्वातीत दोनों है। विश्व में व्याप्त होते हुए भी वह उससे महान, उसके परे, है।

---

*"........a convenient designation for a philosophical conception of Deity as the single, personal, ultimate Ground of the universe and Source of all existence...."
The Concept of Deity, by E. O. James, Page 130.

ईश्वर को ईश्वरवाद व्यक्तित्वपूर्ण (personal) मानता है। उसका कहना है व्यक्तित्वपूर्ण ईश्वर से ही धर्म-भावना की तुष्टि हो सकती है। धार्मिक संबंध उपासक-उपास्य का संबंध है। ईश्वर उपास्य है और जीवात्मा उपासक। उपास्य में उपासक के लिए करुणा और उपासक में उपास्य के प्रति भक्ति और श्रद्धा का होना अनिवार्य है। किन्तु ऐसा संबंध व्यक्तित्वपूर्ण ईश्वर के साथ ही हो सकता है। जो ईश्वर व्यक्तित्वरहित है वह न तो भक्ति का पात्र बन सकता है, न उससे दया या करुणा की आशा ही की जा सकती है। अत: वह धर्मभावना को संतुष्ट नहीं कर सकता। इसलिए ईश्वर-वाद का दावा है कि जो सिद्धांत ईश्वर को व्यक्तित्वरहित मानते हैं वे धर्म-भावना की व्याख्या नहीं कर सकते।

अन्य सिद्धांतों से ईश्वरवाद की तुलना

ईश्वरवाद ईश्वर को एक मानता है, इसलिए एकेश्वरवाद का एक भेद हो जाता है। एकेश्वरवाद का भेद होने के कारण वह अनेकेश्वरवाद का विरोधी और तत्त्वशास्त्रीय संख्यात्मक एकवाद (ontological numerical monism) का समर्थक बन जाता है। विभिन्न एकेश्वरवादी सिद्धांतों के साथ उसका संबंध समानता और विभन्नता का है। सबसे अधिक समानता निमित्तोपादानेश्वरवाद के साथ है।

ईश्वरवाद और निमित्तोपादानेश्वरवाद

दोनों में इतनी समानता है कि कितने लेखक उनमें कोई भेद नहीं करते, किन्तु दोनों का अर्थ स्पष्ट रखने के लिए उन्हें अलग-अलग रखना हम अनिवार्य समझते हैं। उनकी समानताओं को हम भी स्वीकार करते हैं। वे निम्नलिखित हैं: (१) दोनों मानते हैं कि ईश्वर एक, असीम, तथा सर्वव्यापक है। (२) दोनों के लिए ईश्वर ही एकमात्र परमार्थ सत्ता है, उसके

अतिरिक्त कोई भी पदार्थ नहीं है जिसे परम तत्त्व कहा जा सके। (३) दोनों के अनुसार ईश्वर विश्व का निमित्त और उपादान कारण है—उपादान कारण इसलिए कि वह विश्व को अपने अंदर से उत्पन्न करता है और निमित्त कारण इसलिए कि इस उत्पत्ति को सम्पन्न करनेवाला वही है। (४) दोनों ईश्वर को विश्वव्यापी और विश्वातीत स्वीकार करते हैं, अतः मानते हैं कि विश्व के कोने-कोने में विद्यमान रहते हुए भी ईश्वर विश्व में समाप्त नहीं होता बल्कि उसकी सीमाओं से सदा अछूता रहता है। (५) दोनों स्वीकार करते हैं कि विश्व के लिए ईश्वर अनिवार्य है, बिना उसके एक घड़ी भी विश्व टिक नहीं सकता। इसका मतलब है कि विश्व ईश्वर से कभी अलग नहीं होता और ईश्वर उसका स्रष्टा ही नहीं बल्कि पालक और रक्षक भी है। (६) दोनों सिद्धांतों में कुछ विचारक ईश्वर के लिए विश्व को अनिवार्य या आवश्यक मानते हैं जब कि दूसरे उसे अनावश्यक समझते हैं। (७) दोनों सिद्धांत मानते हैं कि जड़ और चेतन में किसी का भी स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है किन्तु चेतन प्राणियों में कर्म करने की स्वतंत्रता विद्यमान है। ईश्वरवाद जीवों की स्वतंत्र कर्मशक्ति पर अधिक जोर देता है और कहता है कि ईश्वर ने व्यक्तियों को इतनी स्वतंत्रता दी है कि वे अपने ढंग से काम कर सकते हैं और अपने भाग्य को सुधार सकते हैं। मनुष्य के प्रयत्नों में ईश्वर छेड़-छाड़ नहीं करता बल्कि उसकी सहायता ही करता है। चूँकि ईश्वरवाद ईश्वर को व्यक्तित्वपूर्ण मानता है इसलिए उसका कहना है कि ईश्वर से सहायता की आशा की जा सकती है; उसमें हमारे लिए दया-करुणा का अभाव नहीं है, इसलिए जरूरत पड़ने पर हमारी सहायता करने के लिए वह सदा तत्पर रहता है।

ईश्वरवाद और निमित्तोपादानेश्वरवाद में अन्तर सिर्फ एक

विषय में है । वह यह है कि ईश्वरवाद ईश्वर को व्यक्तित्वपूर्ण मानता है जबकि निमित्तोपादानेश्वरवाद उसे व्यक्तित्वरहित मानता है। इसलिए एक ईश्वर को दया-करुणा आदि गुणों से युक्त मानता है किन्तु दूसरे के लिए ऐसा संभव नहीं है ।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि ईश्वरवाद और निमित्तोपादानेश्वरवाद में करीब-करीब सब विषयों में समानता है, अंतर है तो केवल ईश्वर के व्यक्तित्व को लेकर।

ईश्वरवाद और केवलनिमित्तेश्वर-वाद

सलिए केवलनिमित्तेश्वरवाद के साथ ईश्वरवाद का वही संबंध है जो निमित्तोपादानेश्वरवाद का केवलनिमित्तेश्वरवाद के साथ है । इस संबंध में एक ही अंतर है कि चूँकि केवलनिमित्तेश्वरवाद और ईश्वरवाद दोनों ईश्वर को व्यक्तित्वपूर्ण मानते हैं इसलिए इस विषय में उनमें समानता है जबकि केवलनिमित्तेश्वरवाद और निमित्तोपादानेश्वरवाद में ऐसी समानता नहीं है क्योंकि निमित्तोपादानेश्वरवाद ईश्वर को व्यक्तित्वरहित मानता है ।

केवलोपादानेश्वरवाद के साथ भी ईश्वरवाद का वही संबंध है जो कि निमित्तोपादानेश्वरवाद का उसके साथ है । यहाँ भी केवल एक अंतर है । केवलोपादानेश्वरवाद और

ईश्वरवाद और केवलोपादानेश्वर-वाद

निमित्तोपादानेश्वरवाद दोनों ईश्वर को व्यक्तित्वरहित मानते हैं, इसलिए इस बात में दोनों में समानता है। किन्तु ईश्वरवाद ईश्वर को व्यक्तित्ववान मानता ह, इसलिए यहाँ केवलोपादानेश्वरवाद के साथ उसका मतभेद है ।

ईश्वरवाद के प्रचुर उदाहरण पश्चिमी और भारतीय दोनों दर्शनों में मिलते हैं। यह बात ठीक है कि इसाई धर्म मुख्यतः

ईश्वरवादी है और उसका इतना प्रभाव पश्चिमी विचारकों पर पड़ा है कि उनमें अधिकांश ईश्वरवादी हैं।

ईश्वरवाद के उदाहरण

किन्तु भारतीय दर्शन भी ईश्वरवादी विचारधारा से रिक्त नहीं है और हम देखेंगे कि उसमें ईश्वर-वाद के अत्यंत ही शुद्ध और असंदिग्ध उदाहरण विद्य-मान हैं। इसलिए जब कोई पश्चिमी आलोचक यह कहता है कि भारतवर्ष में शुद्ध ईश्वरवाद का सर्वथा अभाव है* तो हम उसे भारतीय धर्म और दर्शन के प्रति घोर अन्याय ही नहीं बल्कि पूर्णतः असत्य समझते हैं। पश्चिमी विद्वान समझते हैं कि भारतीय साहित्य में सिर्फ केवलोपादानेश्वरवाद (Pantheism) है किन्तु वस्तु-स्थिति यह है कि यहाँ उसीका अभाव है। यहाँ पर, पश्चिमी और भारतीय, दोनों ईश्वरवाद के गिने-चुने उदाहरण हम पेश करेंगे।

जैसा कि हम कह आए हैं पश्चिमी दर्शन के अधिकांश ईश्वर-विषयक सिद्धांत ईश्वरवादी हैं। पहले के विचारकों में डेकार्ट (Descartes), बर्कले (Berkeley) आदि

पश्चिमी ईश्वरवाद

तथा आधुनिक विचारकों में प्रींगल-पेटीसन (A. S. Pringle-Pattison, 1856-1931), सोरले (W. R. Sorely, 1855–1935), जेम्स वार्ड (James Ward, 1843–1925), जुलियन वेब (C. C. Julian Webb), फ्लिंट (Robert Flint), आदि प्रमुख ईश्वरवादी हैं। स्थानाभाव के कारण यहाँ प्रींगल-पेटीसन और जेम्स वार्ड के सिद्धांतों का ही संक्षिप्त वर्णन हम करेंगे।

---

* "But theism in India was never either strong or pure, and has never been able even to hold its own against the deeply and firmly rooted pantheism of the land."—Flint, Anti-theistic Theories, Pages 341-342.

इनका मत है कि ईश्वर व्यक्तित्ववान है और विश्व का स्रष्टा है। विश्व में वह सर्वदा प्रकाशित होता रहता है। दोनों का संबंध ऐसा है कि एक-दूसरे के लिए आवश्यक

प्रींगल-पेटीसन है। यद्यपि विश्व का आधार ईश्वर है किन्तु व्यक्तियों का क्रिया-स्वातंत्र्य वह नष्ट नहीं करता; उनके अंदर स्वतंत्र संकल्प (free will) और कार्य-क्षमता का अभाव नहीं होता है। मनुष्य को ईश्वर की आवश्यकता है क्योंकि उसका आधार वही है किन्तु मनुष्य भी ईश्वर के लिए आवश्यक है क्योंकि मनुष्य से पूर्णतः असंबद्ध कर देने पर ईश्वर की धारणा निरर्थक हो जाती है।*

ये मानते हैं कि ईश्वर पुरुष-रूप या व्यक्तित्वपूर्ण है क्योंकि उसमें बुद्धि (Intelligence) और संकल्प-शक्ति (Will) विद्यमान हैं जो व्यक्तित्व के लिए आवश्यक हैं।

जेम्स वार्ड विश्व की सृष्टि और सृष्टि के बाद उसका पालन तथा शासन का कार्य भी वही करता है। विश्व से अलग होते हुए भी उसमें ईश्वर लीन है क्योंकि उसका शासन बाहर से नहीं बल्कि उसके अंदर रहकर, अंतर्यामी होकर, वह करता है। जीवात्मा को ईश्वर ने स्वतंत्र कार्य-शक्ति प्रदान की है ताकि वह आध्यात्मिक मूल्यों (spiritual values) को प्राप्त कर सके। स्वतंत्र होने से वह पाप और पुण्य दोनों कर सकता है। संसार में अशुभ (evil) है किन्तु एक-न-एक दिन उसका सर्वनाश और शुभ की पूर्ण विजय निश्चित है क्योंकि ईश्वर विश्व में सर्वत्र व्याप्त है।

---

*देखिए,

A Hundred Years of British Philosophy by Rudolf Metz. P. 388.

वेद और उपनिषद

भारतीय ईश्वरवाद

अन्य सिद्धांतों की तरह भारतीय ईश्वरवाद का भी मूल स्रोत वेद और उपनिषद हैं। यह धारा वहीं से आरंभ होती है और आगे चलकर, विशेष कर शंकर के उत्तरकालीन दर्शन में, अत्यंत ही सुविकसित होकर प्रवाहित होती है। भारतीय ईश्वरवाद ईश्वर को पुरुषोत्तम (the Highest Person) और सर्वगुणसंपन्न मानता है। उसके लिए परमेश्वर, भगवान, आदि शब्द प्रयुक्त होते हैं और अनंत ज्ञान, सौंदर्य, शक्ति, आदि सभी ऐश्वर्यों से वह युक्त समझा जाता है। उसमें कोई अभाव नहीं है जिसकी पूर्ति के लिए कोई इच्छा या कामना हो। इसलिए संसार की सृष्टि, रक्षा या उसका विनाश किसी आवश्यकता के वशीभूत होकर नहीं बल्कि स्वतंत्र रूप में वह करता है। यही कारण है कि विश्व को उसकी लीला (sport) कहा जाता है। इसलिए यद्यपि विश्व के लिए ईश्वर अनिवार्य है क्योंकि उसका आधार है, ईश्वर के लिए विश्व को आवश्यक नहीं कहा जा सकता क्योंकि उसकी कोई कमी विश्व पूरा नहीं करता। ईश्वर को विधाता और नियंता भी कहा जाता है क्योंकि वह संसार का नैतिक शासक है—जीवों को उनके कर्म के अनुसार सुख-दुख का भोग करानेवाला वही है।

वेद, उपनिषद, और गीता

ईश्वर पुरुष-रूप, विश्वव्यापी और विश्वातीत है, यही ईश्वरवाद का आधारभूत सिद्धांत है। ऐसा कथन सर्वप्रथम ऋगवेद के पुरुष सूक्त में मिलता है जहां पर साफ-साफ कहा गया है कि मूल तत्त्व परम पुरुष है जिसमें जो है और जो होगा सभी समाविष्ट हैं और वह इतना महान है कि विश्व उसका एक-चौथाई अंश है, तीन-चौथाई बाहर है। ऐसा ही मत उपनिषदों में मिलता है। श्वेताश्वतर उपनिषद कहता है कि जो भूत में हो चुका है, वर्तमान में हो

रहा है, और भविष्य में होनेवाला है, वह सब परम पुरुष परमात्मा में विद्यमान है। गीता में भी इश्वर को पुरुषोत्तम कहा गया है और विश्व में व्याप्त होते हुए भी उससे सीमित नहीं घोषित किया गया है।*

शंकर के उत्तरकालीन दार्शनिक साहित्य में ईश्वरवाद की विस्तृत चर्चा हुई है। रामानुज, निम्बार्क, बल्लभ, आदि सभी ईश्वरवाद के समर्थक हैं। यहाँ हम रामानुज और निम्बार्क के सिद्धांतों का ही संक्षिप्त वर्णन करेंगे।

रामानुज

रामानुज के अनुसार ईश्वर ही एकमात्र परमार्थ सत्ता है। वह एक, पुरुषोत्तम, सगुण, अनन्त ज्ञान, सौंदर्य, करुणा आदि सभी शुभ गुणों का भंडार, तथा विश्व की सृष्टि, स्थिति, और प्रलय सब का कर्त्ता है। विश्व सत्य है और ईश्वर विश्वव्यापी एवं विश्वातीत दोनों है। विश्व के सत्य होने से उसका विश्वव्यापी और विश्वातीत होना समानतः सत्य है। शंकर की तरह यहाँ रामानुज दृष्टि-भेद नहीं करते। उनके अनुसार एक ही दृष्टि-कोण से ईश्वर विश्व में व्याप्त और परे दोनों है। विश्व का उपादान और निमित्त कारण ईश्वर ही है क्योंकि उसके चित् और अचित् अंशों से संसार के चेतन और जड़ पदार्थों की सृष्टि होती ह और सृष्टि-कार्य को सपन्न करनेवाला भी ईश्वर ही है। सृष्टि किसी आवश्यकता से नहीं बल्कि प्रेम से वह करता है। रामानुज विष्णु को ईश्वर के रूप में स्वीकार करते हैं और लक्ष्मी को उसकी सृजन-शक्ति का मूर्त रूप मानते हैं तथा विष्णु की पत्नी और संसार की जननी भी कहते हैं।

***देखिए, गीता, अध्याय ९, श्लोक ४–६।**

रामानुज की तरह निम्बार्क भी ईश्वर को पुरुषोत्तम मानते हैं और उसी को एक मात्र परमार्थ तत्त्व घोषित करते हैं । किन्तु विष्णु और लक्ष्मी की जगह वे कृष्ण और राधा को स्वीकार करते हैं । कृष्ण को वे ईश्वर के रूप में स्वीकार करते हैं और अनन्त कल्याणकारी गुणों से युक्त मानते हैं । ईश्वर कई रूप में अवतार ग्रहण कर सकता है । वही विश्व का उपादान और निमित्त कारण है । जीवन का लक्ष्य मोक्ष है । मोक्ष में ईश्वर का साक्षात्कार होता है । कृष्ण-भक्ति मोक्ष का साधन है । भक्ति का अर्थ ईश्वर-प्रेम है । अतः अनुराग या प्रेम से मोक्ष की प्राप्ति होती ह ।

निम्बार्क

अठारहवाँ अध्याय

ईश्वरवादी सिद्धांतों का मूल्यांकन

किसी भी सिद्धांत का मूल्यांकन करने के पहले मूल्यांकन की कसौटी निश्चित कर लेना आलोचक का कर्त्तव्य होता है। इसलिए अपनी समीक्षा की कसौटी स्थिर कर लेना हम भी आवश्यक समझते हैं। हमारा विश्वास है कि सभी सिद्धांतों के मूल में कुछ प्रश्न रहते हैं जिनका समाधान उनका उद्देश्य होता ह। इसी उद्देश्य की पूर्ति पर उनकी सत्यता निर्भर करती है। अतः जो सिद्धांत जितनी सफलता के साथ अपने मूल प्रश्नों का उत्तर देता है उसी मात्रा में उसे सत्य समझना चाहिए।

ईश्वरवादी सिद्धांतों के मूल में दो प्रश्न हैं : (१) विश्व का आदि कारण क्या है ? और (२) जीवन का सर्वश्रेष्ठ अर्घ (highest value) क्या है जिसकी प्राप्ति से हमारी आध्यात्मिक भूख और अपूर्णता दूर हो सके ? पहला प्रश्न दार्शनिक है और दूसरा धार्मिक। विभिन्न ईश्वरवादी सिद्धांत अपने-अपने ढंग से ईश्वर का स्वरूप स्थिर कर दोनों प्रश्नों का समाधान करने की चेष्टा करते हैं क्योंकि वे ईश्वर को विश्व का आदि कारण और सर्वश्रेष्ठ अर्घ दोनों मानते हैं। अब हमें देखना है कि कितनी सफलता उन्हें मिलती है क्योंकि वही उनकी सत्यता की कसौटी है।

१ अनकेश्वरवाद

हम कह आए हैं कि अनेकेश्वरवाद मनुष्य की चिंतन-शक्ति की अर्ध-विकसित अवस्था की उपज है। इसलिए उसका अधिक

दोषपूर्ण होना स्वाभाविक है। वस्तुतः उससे दोनों में से किसी प्रश्न का उत्तर नहीं हो पाता है। वह अनेक ईश्वरों को सत्य मानता है किन्तु उनसे न विश्व की व्याख्या ही हो सकती है न धर्म-भावना की तृप्ति ही। विश्व की व्याख्या इसलिए नहीं कि विश्व एक इकाई है जिसके लिए किसी एक मूल आधार का होना आवश्यक ह। दूसरे, विश्व का आदि कारण वही हो सकता है जो असीम है किन्तु अनेकेश्वरवाद के ईश्वर ससीम हैं। यहाँ पर अनेकेश्वरवाद में तत्त्व-शास्त्रीय अनेकवाद की सभी त्रुटियाँ आ जाती हैं। धार्मिक दृष्टि से भी अनेकेश्वरवाद उपयुक्त नहीं है। धार्मिक साधना का उद्देश्य है आध्यात्मिक अपूर्णता का अंत। किन्तु जो ईश्वर स्वयं ससीम है उससे इसका अंत नहीं हो सकता है। और, जब कई ईश्वर हैं तो यह स्थिर करना बड़ा कठिन हो जाता है कि किस की उपासना की जाय। इन त्रुटियों का ही परिणाम हुआ कि बहुत देर तक मनुष्य अनेकेश्वरवाद पर अटका नहीं रहा।

२. एकेश्वरवाद

(१) केवलनिमित्तेश्वरवाद

केवलनिमित्तेश्वरवाद (Deism) अनेकेश्वरवाद से अधिक प्रौढ़ सिद्धांत है क्योंकि ईश्वर को एक और असीम मानता है किन्तु यह भी उक्त दो उद्देश्यों की पूर्ति में सफल नहीं होता। यह मानता है कि विश्व का आदि कारण ईश्वर है जो किसी काल-विशेष में शून्य से सृष्टि करता है। (१) यहाँ हमारी समझ में यह नहीं आता कि शून्य (Nothing) से इतने वैविध्यपूर्ण संसार की रचना कैसे हो सकती है (२) दूसरी कठिनाई है कि ईश्वर किसी खास समय में ही सृष्टि क्यों करता है? वह तो शाश्वत है और अनंत काल से बिना संसार के रहते आया है तो वह क्यों सृष्टि करता

ही है ? क्यों नहीं जैसा था वैसा ही (बिना संसार के) रहता है ? फिर, ईश्वर पूर्ण है, उसे संसार की आवश्यकता नहीं है, तो क्यों उसकी सृष्टि वह करता है ? इन प्रश्नों का कोई उत्तर इस सिद्धांत में नहीं मिलता है। जैसा कि गैलवे ने कहा है, यह मत बिलकुल असंगत लगता है कि जो ईश्वर जमाने से निष्क्रिय, बिना सृष्टि किये रहता है, वही एक-ब-एक सक्रिया अर्थात स्रष्टा बन जाता है।* (३) केवलनिमित्तेश्वरवाद कहता है कि ईश्वर सांसारिक प्राणियों के सुख के लिए सृष्टि करता है। किन्तु सृष्टि के पहले सांसारिक प्राणी तो रहते नहीं कि उनकी सुख-कामना की जाय। (४) फिर, यदि संसार के सुख के लिए सृष्टि होती है तो संसार में दुख, शोक, आदि अशुभ तत्त्वों की उत्पत्ति कैसे होती है ? अशुभ यहाँ है, यह सत्य है। यह क्यों है ? किन्तु इसके उत्तर में केवलनिमित्तेश्वरवाद का कहना है कि जीवों की स्वतंत्र क्रियाओं के कारण अशुभ उत्पन्न होता है। किन्तु हमारा अनुभव इस बात का साक्षी है कि बहुत-सी अशुभ घटनाएँ यहाँ होती हैं जिनका कारण सांसारिक प्राणी नहीं रहते हैं। (४) चौथी कठिनाई ईश्वर को विश्वातीत मानने से होती है। सृष्टि के बाद वह संसार से संबंध-विच्छेद कर लेता है। किन्तु जब संसार उसकी संतान है तो उससे अलग होकर कायम कैसे रह सकता है ? इसके उत्तर में केवलनिमित्तेश्वरवाद का कहना है कि वह अपनी कुछ शक्तियों को संसार में रख छोड़ता है जो अप्राथमिक कारण (Secondry causes) होकर उसका संचालन करती हैं। किन्तु इसके विपक्ष में हमें कहना है कि (क) ईश्वर की शक्तियाँ ईश्वर से अलग नहीं हो सकतीं, और (ख) यदि उसकी शक्तियाँ

---

*देखिए—
Philosophy of Religion by Galloway, P. 471.

संसार में विद्यमान हैं तो उसे संसार से बिलकुल अलग नहीं कहा जा सकता है।

धार्मिक दृष्टि से भी केवलनिमित्तेश्वरवाद ग्राह्य नहीं है। (१) वह ईश्वर को संसार से बिलकुल अलग मानता है। ऐसा ईश्वर धर्म-भावना को स्फुरित नहीं कर सकता क्योंकि धार्मिक साधना में साधक ईश्वर के अत्यन्त ही सन्निकट होने की चेष्टा करता है। ऐसा संबंध बिलकुल विश्वातीत ईश्वर से नहीं हो सकता है। कार्लाइल ने ठीक ही कहा है कि केवलनिमित्तेश्वरवाद का ईश्वर सृष्टि के दिन से ही गायब है और दूर से ही संसार को देखा करता है।* (२) ईश्वर और विश्व के दुराव को कम करने के लिए आकस्मिक संबंध की कल्पना की जाती है। अतः जब संसार में कोई गड़बड़ी होती है तो वह ठीक कर देता है। किन्तु यह सुझाव कठिनाइयों को और बढ़ा देता है। (क) पहले तो आकस्मिक संबंध का कोई प्रमाण नहीं मिलता है। (ख) दूसरे, इसका मतलब होता है कि ईश्वर सर्वशक्तिमान नहीं है क्योंकि वैसा होने पर उसकी रचना में कभी कोई गड़बड़ी होती ही नहीं। अतः विश्व-यंत्र का आकस्मिक सुधारक मानकर केवलनिमित्तेश्वरवाद ईश्वर को अपूर्ण बना डालता है जो धार्मिक अभिरुचि को कभी प्रिय नहीं लगता क्योंकि ऐसा ईश्वर सर्वश्रेष्ठ अर्ध अर्थात धर्माचरण का लक्ष्य नहीं बन सकता है।

(२) केवलोपादानेश्वरवाद

केवलोपादानेश्वरवाद (Pantheism) अनेकेश्वरवाद और केवल-निमित्तेश्वरवाद से अधिक युक्तिपूर्ण है जिससे इसका प्रभाव उनसे

* "....an absentee God, sitting idle, ever since the first sabbath, at the outside of his universe, and seeing it go."—Quoted by Galloway in Philosophy of Religion from Carlyle's Sartor Resartus.

अधिक व्यापक और स्थाई हो सका है। किन्तु जब हम अपनी कसौटी पर इसकी परीक्षा करते हैं तो यह भी निर्दोष नहीं ठहरता है। दार्शनिक दृष्टि से इसकी सबसे बड़ी दुर्बलता है कि (१) विश्व के अस्तित्त्व की व्याख्या नहीं कर पाता है। इसके अनुसार विश्व का उपादान कारण ईश्वर है जो एक, असीम, और अपरिणामशील है। किन्तु विश्व के पदार्थ अनेक, ससीम तथा परिणामशील हैं। इसलिए यह समझ में नहीं आता कि विश्व जो ईश्वर के विरोधी गुणों से युक्त है किस प्रकार ईश्वर से उत्पन्न हो सकता है। वस्तुतः जो ईश्वर अनेकता, परिणामशीलता, आदि गुणों से रिक्त है वह उन्हें कदापि उत्पन्न नहीं कर सकता है। स्पीनोजा कहते हैं हैं कि विश्व ईश्वर की प्रकृति का अवश्यंभावी परिणाम है। किन्तु यह कोई व्याख्या नहीं है। फेकनर (Fechner) विश्व को ईश्वर का शरीर मानते हैं किन्तु यह शरीर क्यों और कैसे उत्पन्न होता है, इसकी कोई व्याख्या उनके पास भी नहीं है। (२) दूसरी त्रुटि इस सिद्धांत की है कि जब ईश्वर विश्व में पूर्णतः व्याप्त है और उसी में समाप्त है तो विश्व के सुख-दुख, शुभ-अशुभ आदि से वह अछूता नहीं रह सकता है। अतः सभी सांसारिक अपूर्णताओं से वह विशिष्ट है। किन्तु ऐसा ईश्वर तो ईश्वर ही नहीं रह जायगा।

धार्मिक दृष्टि से भी केवलोपादानेश्वरवाद संतोषप्रद नहीं है। यह सत्य है कि ईश्वर को विश्व में पूर्णतः व्याप्त मानकर मनुष्य के निकट ला देता है किन्तु दोष यह है कि (१) निकटता इतनी बढ़ जाती है कि ईश्वर को प्राप्त करने के लिए प्रेरणा नहीं रह जाती। जब ईश्वर हम में है ही तो उसके साक्षात्कार के लिए चेष्टा क्यों की जाय? (२) केवलोपादानेश्वरवाद के अनुसार व्यक्तियों में चेष्टा-स्वातंत्र्य नहीं है क्योंकि वे ईश्वर के प्रकार

(modes) मात्र हैं; जो कुछ संसार में होता है उसका कारण ईश्वर ही है। किन्तु चेष्टा-स्वातंत्र्य के अभाव में धार्मिक साधना असंभव हो जाती है। जब हम अपने से कुछ कर सकते ही नहीं तो यह कहना निरर्थक है कि धर्माचरण करना चाहिए। (३) धार्मिक जीवन के लिए नैतिक आचरण आवश्यक है किन्तु चेष्टा स्वातंत्र्य के अभाव में नैतिकता भी असंभव हो जाती है। नैतिक आचरण के लिए कार्य करने की स्वतंत्रता आवश्यक है, उसके अभाव में 'अच्छा कर्म करो', 'बुरे से बचो' आदि वाक्य निरर्थक हो जाते हैं। (४) जब अपने कर्मों के करने में कोई स्वतंत्र नहीं है तो दंड और पुरस्कार की योजना बेकार हो जाती है। न चोर को चोरी के लिए दंड देना उचित है न साधु को परोपकार के लिए पुरस्कृत करना क्योंकि अपने कर्मों के करने वाले वे नहीं हैं, सब कुछ करने वाला तो ईश्वर है। (५) भले और बुरे का भेद भी निरर्थक हो जाता है। जब सब क्रियाओं का कर्त्ता और सब वस्तुओं में प्रकाशित ईश्वर ही है तो किसी को भला या किसी को बुरा कहना बेकार है क्योंकि सब के ईश्वरमय होने के कारण किसी को भला या बुरा घोषित करना ईश्वर को ही वैसा कहना है। (६) दुख और अशुभ के विषय में केवलोपादानेश्वरवाद का मत हमें निराशावादी बना देता है। उसके अनुसार विश्व की सारी घटनाएँ ईश्वर की प्रकृति का आवश्यक परिणाम हैं। इसलिए दुख और अशुभ भी आवश्यक हैं। अतः उनका पूर्ण विनाश कभी नहीं हो सकता। इस चेतना से घोर निराशा का संचार होता है जो धार्मिक साधना के लिए बड़ा घातक है।

(३) ईश्वरवाद

ईश्वरवाद (Theism) ईश्वर को एक, असीम, व्यक्तित्ववान विश्वव्यापी और विश्वातीत मानता है। अब तक के परीक्षित

सिद्धांतों से वह अधिक युक्तिपूर्ण हैं क्योंकि ईश्वर को विश्वव्यापी और विश्वातीत दोनों मानता है। किन्तु उसे भी सर्वथा निर्दोष नहीं कहा जा सकता। विश्व की जो व्याख्या वह देता है वह ग्राह्य नहीं है। ईश्वर को सृष्टि का मूल कारण माना जाता है। इस विषय में दो मत हैं। कुछ ईश्वरवादी कहते हैं ईश्र के लिए विश्व आवश्यक है और कुछ कहते हैं कि अनावश्यक है। यहाँ पर हमारा आक्षेप है कि (१) यदि ईश्वर को विश्व की आवश्यकता है तो उसे निरपेक्ष या पूर्ण नहीं कहा जा सकता है। (२) और यदि विश्व उसके लिए अनावश्यक है तो प्रश्न होता है कि उसकी सृष्टि वह क्यों करता है? अनावश्यक की सृष्टि करना तो अपनी शक्ति का अपव्यय करना है। किन्तु ईश्वर ऐसे सर्वज्ञ और सर्वगुण-सम्पन्न व्यक्ति के लिए यह संभव नहीं है कि ऐसा अपव्यय करे। (३) सृष्टि क्यों होती है, इसका कोई तर्कपूर्ण उत्तर ईश्वरवाद नहीं देता है। उसके कुछ समर्थक कहते हैं कि जिस तरह सूर्य से प्रकाश सदा निकलता रहता है, उसी तरह ईश्वर से विश्व उद्‌भूत होता है, जब कि कुछ दूसरे, जैसे रामानुज, कहते हैं कि सृष्टि लीला के लिए होती है। हमारा कहना है कि सूर्य से प्रकाश, या लीला की कल्पना ये सब रूपक (metaphor) हैं, इन से बौद्धिक व्याख्या नहीं होती है। (४) जब ईश्वर सर्वशक्तिमान और सभी कल्याण-कारी गुणों से युक्त है तो संसार में दुख और अशुभ का अस्तित्व क्यों है? इस प्रश्न का उचित समाधान ईश्वरवाद नहीं करता है। मनुष्य दुख-अशुभ का कारण नहीं है क्योंकि उसके वश में वे नहीं हैं; ईश्वर भी उनका कारण नहीं हो सकता क्योंकि वह कल्याण-कारी है। इस प्रकार दुख और अशुभ की कोई व्याख्या नहीं मिलती है।

धार्मिक दृष्टि से परीक्षा करने पर भी ईश्वरवाद ग्राह्य नहीं

ठहरता है। (१) उसके अनुसार ईश्वर विश्व में व्याप्त है, इस-लिए विश्व की अपूर्णताओं से उसे मुक्त नहीं कहा जा सकता है। (२) ईश्वर को व्यक्तित्ववान कहा जाता है किन्तु व्यक्तित्व और असीमता विरोधी हैं। हमारी बुद्धि व्यक्तित्व के साथ अनन्तता की कल्पना करने से इनकार करती है। इसलिए व्यक्तित्वपूर्ण ईश्वर असीम नहीं हो सकता और असीम न होने पर हमारी धार्मिक श्रद्धा का पात्र नहीं बन सकता। (३) ईश्वर की संतान होने पर भी जीवात्मा के अंदर स्वतंत्र कार्य-क्षमता मानी जाती है। ऐसा मानने से धार्मिक और नैतिक चेष्टा संभव हो जाती है, किन्तु यह समझ में नहीं आता कि ईश्वर से उत्पन्न होने पर स्वतंत्रता कैसे मिल सकती है। जब अस्तित्व के लिए जीव ईश्वर पर निर्भर है तो कर्म करने में भी स्वतंत्र नहीं हो सकता क्योंकि कर्म-शक्ति अस्तित्व पर ही निर्भर है। कुछ ईश्वरवादी कहते हैं कि ईश्वर ने ही मनुष्य को चेष्टा-स्वातंत्र्य प्रदान किया है। किन्तु दूसरे से मिली स्वतंत्रता सच्ची स्वतंत्रता नहीं कही जा सकती। इसका मतलब तो यही हुआ कि जीव अपनी स्वतंत्रता के लिए ईश्वर पर निर्भर है, अर्थात स्वतंत्र नहीं बल्कि परतंत्र है। इस प्रकार चेष्टा-स्वातंत्र्य की व्याख्या नहीं हो पाती है जो कि धार्मिक साधना के लिए आवश्यक है।

(४) निमित्तोपादानेश्वरवाद

अभी तक जिन सिद्धांतों की परीक्षा हमने की है उनमें कोई भी ग्राह्य नहीं जान पड़ा है। अब बचा हुआ है निमित्तोपादाने-श्वरवाद। हमारी धारणा है कि शांकर मत के सिवा उसका भी दूसरा कोई रूप ग्राह्य नहीं है, इसलिए पश्चिमी और भारतीय निमित्तोपादानेश्वरवाद की समीक्षा हम अलग-अलग करेंगे।

निमित्तोपादानेश्वरवाद (Panentheism) ईश्वर को एक, असीम, व्यक्तित्वरहित, विश्वव्यापी, और विश्वातीत मानता है। हमने देखा है कि व्यक्तित्व ससीमता का द्योतक है, इसलिए ईश्वर को व्यक्तित्वरहित मान कर उसकी असीमता की रक्षा यह सिद्धांन्त कर लेता है। ईश्वरवाद से इसकी यह श्रेष्ठता है।

पश्चिमी निमित्तोपादानेश्वरवाद

किन्तु जब अन्य विषयों में देखते हैं तो पश्चिमी निमित्तोपादानेश्वरवाद को अग्राह्य पाते हैं। उसका सर्वश्रेष्ठ रूप हीगल के दर्शन में मिलता है। जब विश्व की व्याख्या का प्रश्न हम उठाते हैं तो हीगल का कहना है कि विश्व ईश्वर की आवश्यक अभिव्यक्ति है। (१) किन्तु विश्व उसके लिए आवश्यक है तो उसे पूर्ण नहीं माना जा सकता। (२) दूसरे, उसे पूर्णतः स्वतंत्र भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि विश्व की उसे अपेक्षा रहती है, अर्थात किसी अर्थ में विश्व पर निर्भर करना पड़ता है क्योंकि अपने को विश्व के रूप में अभिव्यक्ति किए बिना वह रह नहीं सकता। (३) ईश्वर को हीगल चेतन मानते हैं किन्तु विश्व के बहुत से पदार्थ अचेतन जान पड़ते हैं। यदि मूल सत्ता चेतन है तो कुछ पदार्थ भी अचेतन क्यों मालूम पड़ते हैं? इसकी कोई व्याख्या हीगल नहीं देते हैं।

धार्मिक दृष्टि से भी यह सिद्धांत अनुपयुक्त है। (१) पहला आक्षेप इसके विरुद्ध है कि इसमें स्वतंत्र संकल्प (will) या चेष्टा के लिए कोई जगह नहीं है क्योंकि सब कुछ ईश्वर की प्रकृति का आवश्यक परिणाम है। इसलिए धार्मिक और नैतिक साधना अर्थ-हीन हो जाती है। यह आक्षेप वैसा ही है जैसा कि केवलोपादानेश्वरवाद के विरुद्ध हमने किया है। (२) उसी तरह दुख और अशुभ आवश्यक हो जाते हैं और उनका अंत असंभव हो जाता है। यहां

भी केवलोपादानेश्वरवाद की तरह धार्मिक साधना के लिए घातक निराशावाद का उदय होता है। (३) तीसरी कठिनाई है कि ईश्वर के विश्वव्यापी होने से विश्व की अपूर्णताओं से उसे अछूता नहीं कहा जा सकता। हमने देखा है कि ये दोष और सिद्धांतों में भी विद्यमान हैं जिनके चलते उन्हें हमने अग्राह्य सिद्ध किया है।

भारतीय निमित्तोपादानेश्वरवाद का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण शंकर का सिद्धांत है। पिछले अध्यायों (प्रत्ययवाद और एकवाद) में हमने देखा है कि दार्शनिक दृष्टि से अर्थात विश्व की व्याख्या के लिहाज से वह सर्वश्रेष्ठ है। शंकर मानते हैं कि ब्रह्म ही परम तत्त्व है और वह असीम, निगुर्ण और व्यक्तित्वरहित है। विश्व में अनेकता, परिवर्तन, ससीमता, आदि गुण हैं इसलिए उसे सत्य नहीं कहा जा सकता। एक संगत तत्त्व-दर्शी की तरह शंकर उसे सत्य मानते भी नहीं हैं किन्तु उसकी प्रतीति को अस्वीकार नहीं करते। उनका कहना है कि विश्व वास्तविक नहीं है किन्तु अज्ञान या माया के कारण वास्तविक प्रतीत होता है। चूँकि विश्व वास्तविक नहीं है इसलिए ब्रह्म के लिए उसे आवश्यक नहीं कहा जा सकता। अतः उसके लिए विश्व को आवश्यक मानने से जो कठिनाई और सिद्धांतों में होती है वह यहाँ नहीं होती। ब्रह्म व्यक्तित्वरहित और निर्गुण है, इसलिए उसमें ससीमता को दोष भी नहीं लगाया जा सकता। विश्व में दुख-अशुभ हैं और उनका कारण भी अज्ञान ही है क्योंकि विश्व ही अज्ञान के चलते है। इसलिए उनका नाश हो सकता है क्योंकि अज्ञान का नाश ज्ञान से संभव है। इस प्रकार ब्रह्म उनका कारण नहीं माना जाता है, फिर भी उनकी व्याख्या हो जाती है।

भारतीय निमित्तोपादानेश्वरवाद

धार्मिक दृष्टि से भी यह सिद्धांत सर्वोत्कृष्ट ठहरता है। यह

मानता है कि ब्रह्म और जीव तत्त्वतः एक हैं, केवल माया या अज्ञान के कारण जीव ब्रह्म से भिन्न, अनेक दोषों से युक्त, जान पड़ता है जिस तरह कि आकाश म वस्तुतः एक ही चंद्रमा रहता है किन्तु नदी की लहरों पर प्रतिबिंबित होने से अनेक जान पड़ता है। ब्रह्म होना, अपनी वास्तविक स्थिति को प्राप्त करना, ही जीव की धार्मिक साधना का लक्ष्य है। यही सर्वश्रेष्ठ अर्घ है और इसकी प्राप्ति संभव है क्योंकि यही जीव की वास्तविक प्रकृति है, कोई अलभ्य पदार्थ नहीं। कुछ आलोचक कहते हैं कि जब जीव ब्रह्म है ही तो धार्मिक प्रयत्नों की क्या जरूरत है? इसके उत्तर में हमारा कहना है कि अज्ञान के कारण ब्रह्म और जीव का अद्वैत ढँका रहता है, अतः अज्ञान को दूर कर उक्त अद्वैत की स्पष्ट चेतना प्राप्त करने के लिए धार्मिक प्रयत्नों की जरूरत है। प्रयत्न करने की स्वतंत्रता जीव में है क्योंकि वह ब्रह्म ही है। अन्य सिद्धांतों की तरह चेष्टा-स्वातंत्र्य स्वीकार करने में कोई कठिनाई यहां नहीं होती क्योंकि जीव ब्रह्म का प्रकार (mode), संतान (creature) या अभिव्यक्ति (manifestation) नहीं बल्कि स्वयं ब्रह्म ही है। विश्व की अपूर्णताओं के चलते भी यहां कोई दिक्कत नहीं होती क्योंकि ब्रह्म के विश्वव्यापी और विश्वातीत दोनों रूप समानतः या समान दृष्टि से सत्य नहीं हैं। केवल व्यावहारिक दृष्टि से वह विश्वव्यापी है, और पारमार्थिक दृष्टि से विश्वातीत, इसलिए विश्वव्यापी होकर भी विश्व की अपूर्णताओं से उसका वास्तविक संपर्क नहीं होता। कोई गड़ेरिया रंगमंच पर राजा का पार्ट खेलता है और हार-जीत का भागी बनता है। रंग-मंच की दृष्टि से वह वहां के सुख-दुख का भोक्ता ह किन्तु वास्तविक दृष्टि से उनसे मुक्त है। इस तरह ब्रह्म विश्व में रह कर उससे अतीत, उसके दोषों से अलग, है। इस प्रकार हम देखते हैं कि सभी ईश्वरवादी सिद्धांतों में शंकर का मत ही सर्वोत्कृष्ट है। दार्शनिक जिज्ञासा और धार्मिक अभिलाषा दोनों की तृप्ति इससे हो जाती है।

उन्नीसवाँ अध्याय

प्रमाणविज्ञान

विषय-प्रवेश

मनुष्य ज्ञान प्राप्त करता है और जब उसकी चिंतनशक्ति को अपेक्षित प्रौढ़ता प्राप्त होती है तो वह अपने ज्ञान के विषय में सोचने लगता है । विद्वानों का मत है कि ज्ञान का ज्ञान प्राप्त करना या उसके विषय में चिंतन करना मनुष्य की ही विशेषता है क्योंकि उसके लिए आवश्यक विचार–क्षमता का अन्य प्राणियों में सर्वथा अभाव है । बात जो भी हो, किन्तु इतना निर्विवाद है कि ज्ञान के विषय में चिंतन करने के लिए काफी विकसित मस्तिष्क अपेक्षित है । इस चिंतन की महत्ता पर भी दो मत नहीं हो सकते हैं। यह सत्य है कि ज्ञान-संबंधी विभिन्न विषयों का पर्याप्त ज्ञान हो जाने पर यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति में हमारी सफलता निश्चित हो जायगी । हम ज्ञान प्राप्त करते हैं किन्तु हमारा सारा ज्ञान सत्य या प्रामाणिक नहीं होता, और हमारी गलतियों का कारण प्राय: ज्ञान–संबंधी विषयों का अज्ञान रहता है। यही कारण है कि दर्शन, जिसका अभीष्ट सर्वोच्च पदार्थों का सर्वोच्च ज्ञान (Highest thoughts about highest things--Flint) है, ज्ञान-विषयक चिंतन की उपेक्षा नहीं कर सकता है। हम जानते हैं कि दर्शन की जिस शाखा में यह चिंतन होता है उसे प्रमाण–विज्ञान या ज्ञान–मीमांसा (Epistemology) कहते हैं । ज्ञान के

संबंध में उसका लक्ष्य, उसकी प्रामाणिकता, सीमा, उत्पत्ति, तथा ज्ञाता और ज्ञेय का संबंध आदि महत्त्वपूर्ण विषय हैं। इन सभी विषयों का विवेचन ज्ञान-मीमांसा में होता है जिसके फलस्वरूप अनेक सिद्धांतों का प्रादुर्भाव होता है।

ज्ञान-विषयक सिद्धांत

ज्ञान के लक्ष्य (aim) के विषय में दो मुख्य सिद्धांत हैं। एक मानता है कि ज्ञान स्वयं ही साध्य है, उसका कोई बाहरी उद्देश्य नहीं है जिसका साधन उसे कहा जा सके। यह विचार अधिकांश पश्चिमी दार्शनिकों का है। दूसरा मत मानता है कि ज्ञान साधन है, साध्य नहीं। यह मत भारतीय दर्शन का है जिसके लिए मोक्ष साध्य है और ज्ञान उसकी प्राप्ति का साधन। पश्चिमी दर्शन में भी उपयोगितावादी (Pragmatic) तथा अन्य कई विचारक ज्ञान को साधन मात्र मानते हैं किन्तु उसका साध्य वे मोक्ष नहीं वल्कि सफल जीवन बतलाते हैं। उनके अनुसार लौकिक जीवन में व्यवस्था स्थापित कर उसे सफल बनाना ज्ञान का लक्ष्य है। **प्रामाणिकता** (Validity) के विषय में भी कई सिद्धांत हैं। कुछ विचारक मानते हैं कि वही ज्ञान प्रामाणिक है जो यथार्थ वस्तुओं के अनुरूप (Corresponding to actual facts) है। इस मत को संवादितावाद (Correspondence theory) कहते हैं क्योंकि ज्ञान और यथार्थ घटनाओं के बीच संवादिता (Correspondence) ज्ञान की प्रामाणिकता के लिए अनिवार्य मानी जाती है। दूसरा मत उन विचारकों का है जो मानते हैं कि प्रामाणिकता की कसौटी आंतरिक सामंजस्य (Coherence) या संगति है, अर्थात वही ज्ञान प्रामाणिक है जिसकी संगति अवशिष्ट ज्ञान के साथ बैठती है। इस मत की संज्ञा संगतिवाद (Coherence theory) है। तीसरा सिद्धांत उपयोगितावाद (Pragmatism) है जिसके

अनुसार व्यावहारिक उपयोगिता सत्यता के लिए आवश्यक है, अतः वही ज्ञान प्रामाणिक या सत्य है जो व्यवहार में उपयोगी सिद्ध होता है। इस प्रकार प्रामाणिकता के संबंध में और सिद्धांत भी ह किन्तु मुख्य ये तीन ही हैं। ज्ञान की **सीमा** (limit) के विषय में काफी विवाद हुआ है। इस विषय में तीन मुख्य सिद्धांत हैं : (१) संदेहवाद या संशयवाद (Scepticism)—यह मानता है कि मनुष्य के लिए निश्चित (certain) और असंदिग्ध (indubitable) ज्ञान प्राप्त करना संभव नहीं है। अतः जो भी ज्ञान वह प्राप्त करता है वह संदेह से खाली नहीं रहता है। संदेहवाद दो प्रकार का होता है, आंशिक (Partial) और पूर्ण (Complete)। आंशिक संदेहवाद मानता है कि हमारे ज्ञान का कुछ अंश संदेहास्पद है किन्तु पूर्ण संदेहवाद के अनुसार सारा ज्ञान ही अनिश्चित या संदिग्ध है। (२) अज्ञेयवाद (Agnosticism)—इसके अनुसार परमार्थ सत्ता के विषय में किसी भी तरह का, निश्चित या अनिश्चित ज्ञान संभव नहीं है, अर्थात यथार्थता अज्ञात और अज्ञेय है। (३) ज्ञेयवाद (Gnosticism)—यह सिद्धांत मनुष्य की ज्ञान-शक्ति में विश्वास करता है और मानता है कि जो भी जानने की चीज है उसका ज्ञान, निश्चित और असंग्दिध ज्ञान, वह प्राप्त कर सकता है यदि अपनी शक्तियों का उचित उपयोग करे। अतः कोई भी पदार्थ अज्ञेय (unknowable) नहीं है, भले ही बहुत कुछ अज्ञात हो सकता है। किन्तु जो अज्ञात है वह भी अपेक्षित साधनों के होने पर ज्ञात हो सकता है। इस तरह कभी-कभी मनुष्य का ज्ञान अनिश्चित या भ्रमपूर्ण हो सकता है, किन्तु ऐसा होना उसकी असफलता का द्योतक है जिसका निवारण हो सकता है, उसकी स्वाभाविक या अनिवार्य अक्षमता का नहीं।

ज्ञान की उत्पत्ति (Origin) के संबंध में भी कई सिद्धांत है जिनमें निम्न लिखित मुख्य हैं,: (१) बुद्धिवाद (Rationalism)—इसके अनुसार ज्ञान की उत्पत्ति बुद्धि मात्र से होती है। (२) अनुभववाद (Empiricism)– इसके अनुसार ज्ञान की उत्पत्ति अनुभव मात्र से होती है । (३) समीक्षावाद (Criticism)—यह मानता है कि ज्ञान की उत्पत्ति बुद्धि मात्र या अनुभव मात्र से नहीं बल्कि दोनों की सम्मिलित क्रिया का परिणाम है । (४) संकल्पवाद (Voluntarism)—इसकी मान्यता है कि ज्ञान का वास्तविक उद्‌गम संकल्प (Volition) है । (५) प्रतिभानवाद (Intuitionism)—इसका मत है कि वास्तविक ज्ञान प्रतिभा या अपरोक्षानुभूति (Intuition) से उत्पन्न होता ह । इसमें ज्ञाता को परमार्थ सत्ता का स्पष्ट और प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त होता है जिसके लिए उसे अपने अंदर देखना पड़ता है, बाहरी दुनियां में भटकते फिरने की आवश्यकता नहीं पडती ।

ज्ञाता और ज्ञेय के संबंध के विषय में तीन मुख्य मत हैं। (१) प्रत्ययवाद (Idealism)—इसके अनुसार ज्ञेय (object of knowledge) का अस्तित्व ज्ञाता से स्वतंत्र नहीं है अर्थात वह ज्ञाता पर निर्भर करता है। (२) वस्तुवाद (Realism)—यह प्रत्ययवाद का विरोधी है क्योंकि मानता है कि ज्ञेय का अस्तित्व ज्ञाता से स्वतंत्र है। (३) प्रत्ययवादी वस्तुवाद (Ideal-Realism) या वस्तुवादी प्रत्ययवाद (Real-Idealism)—यह सिद्धांत प्रत्ययवाद और वस्तुवाद का समन्वय करता है, इसीलिए इसका ऐसा नाम पड़ा है। इसके अनुसार ज्ञेय ज्ञाता से अंशतः स्वतंत्र (partially independent) और अंशतः उस पर निर्भर (partially dependent) है।

ज्ञान-विषयक विभिन्न सिद्धांतों की उपर्युक्त सूची इस बात

का स्पष्ट द्योतक है कि सबका विवरण देना इस छोटी-सी पुस्तक में संभव नहीं है। इसलिए उत्पत्ति और ज्ञाता-ज्ञेय-संबंध की व्याख्या करने वाले सिद्धांतों की ही चर्चा यहां हम करेंगे। किन्तु उनकी संख्या भी इतनी अधिक है कि कुछ के विवेचन से ही संतोष करना पड़ेगा। इसलिए उत्पत्ति-विषयक सिद्धांतों में केवल बुद्धिवाद, अनुभववाद, और समीक्षावाद तथा ज्ञाता और ज्ञेय के संबंध-विषयक सिद्धांतों में केवल प्रत्ययवाद और वस्तुवाद की व्याख्या हम करेंगे। इस चुनाव का कारण है कि ये सिद्धांत औरों की अपेक्षा अधिक सरल और सुबोध हैं। प्रस्तुत ग्रंथ-जैसे प्रारंभिक अध्ययन के लिए इनकी महत्ता और बढ़ जाती है क्योंकि अन्य सिद्धांतों को समझने के लिए इनसे परिचित होना अनिवार्य है। दर्शन के इतिहास में इनका प्रभाव भी औरों से ज्यादा पड़ा है। इन्हीं सब कारणों के चलते इनका विवरण यहां देना हमने उचित समझा है।

ज्ञान की उत्पत्ति

(१) बुद्धिवाद

बुद्धिवाद (Rationalism) के अनुसार ज्ञान प्राप्त करने का साधन बुद्धि (Reason or Intellect) है। इस कथन को समझने के लिए ज्ञान का अर्थ समझना आवश्यक है। साधारणतया इंद्रियों से या किसी दूसरे व्यक्ति से या अपने ही चिंतन से अपने विषय में या बाहरी संसार के विषय में जो भी जानकारी हमें होती है उसे हम ज्ञान कहते हैं। अतः जो कुछ हम जानते हैं उसे बिना किसी भेद-भाव के अपने

बुद्धिवाद की सामान्य विशेषताएँ

ज्ञान का अंग मान लेते हैं। बुद्धिवादी विचारक ऐसे ज्ञान को साधारण ज्ञान (Popular knowledge) कहते हैं । इसके अतिरिक्त एक और प्रकार का ज्ञान वे मानते हैं जिसे दार्शनिक ज्ञान (Philosophical knowledge) कहते हैं और उसे ही वास्तविक ज्ञान मानते हैं । दार्शनिक ज्ञान उस ज्ञान को कहते हैं जो वस्तुओं के यथार्थ रूप को व्यक्त करता है, इसलिए वह सदा सत्य या यथार्थ होता हैं । किन्तु साधारण ज्ञान कभी यथार्थ तो कभी अयथार्थ होता है । बुदिवाद जब बुद्धि को ज्ञान क़ी जननी घोषित करता है तो उसका आशय दार्शनिक ज्ञान अर्थात वास्तबिक ज्ञान से रहता है । **अतः बुद्धिवाद वह ज्ञान-शास्त्रीय सिद्धांत है जिसके अनुसार वास्तविक और सत्य ज्ञान की प्राप्ति बुद्धि द्वारा ही हो सकती है, किसी दूसरे साधन से नहीं।** यहाँ पर यह पूछा जा सकता है कि यथार्थ ज्ञान की पहचान क्या है। इसके उत्तर में बुद्धि-वाद का कहना है कि वह सार्वभौन (uuiversal) और अनिवार्य (necessary) होता है। सार्वभौम होने का अर्थ है कि वह सभी देश (space) और काल (time) के पदार्थों के विषय में सत्य होता है, उसकी सत्यता किसी देश-विशेष या काल-विशेष तक सीमित नहीं रहती। अनिवार्य होने का मतलब है कि उसकी सत्यता का निवारण नहीं हो सकता, अतः उसका अपवाद या विपरीत सत्य नहीं हो सकता । उदाहरण से ये बातें स्पष्ट हो जायंगी, जैसे २+२=४। बुद्धिवाद के लिए सार्वभौम और अनिवार्य ज्ञान का बड़ा ही सुंदर उदाहरण है यह। यह सार्वभौम है क्योंकि हर जगह और हर समय दो और दो जोड़ने पर चार ही होता है। यह अनिवार्य है क्योंकि इसका अपवाद या विरोधी कभी सत्य नहीं हो सकता। बुद्धिवाद का कहना है कि हम सोच भी नहीं सकते कि दो-दो का योग चार न होकर पांच भी कभी हो सकता है। ऐसे ही ज्ञान को बुद्धिवाद

यथार्थ या सत्य मानता है और उसका दावा है कि एसा ज्ञान प्रदान करने की क्षमता सिर्फ बुद्धि में है। साधारणतया बुद्धि के साथ-साथ अनुभव (experience) को ज्ञान का साधन माना जाता है। किन्तु बुद्धिवाद अनुभव का बहिष्कार करता है। इसके लिए उसका तर्क ह कि अनुभवजन्य ज्ञान में सार्वभौमता और अनिवार्यता का अभाव रहता है। किसी वर्ग के भूत, वर्तमान और भविष्य सभी काल और सभी देश के पदार्थों का अनुभव संभव नहीं है। इसलिए जो भी कथन अनुभव के आधार पर किया जायगा वह सार्वकालिक और सार्वदेशिक नहीं होगा। दूसरे, अनुभव से प्राप्त ज्ञान को अनिवार्य भी नहीं माना जा सकता क्योंकि उसके विरोधी की कल्पना की जा सकती है। 'गुलाब लाल है'—यह अनुभवजन्य ज्ञान का नमूना है। इसे सार्वभौम नहीं कहा जा सकता क्योंकि सार्वभौम होने के लिए सभी गुलाबों का अनुभव अपेक्षित है जो कि संभव नहीं हैं। यह अनिवार्य भी नहीं है क्योंकि बिना किसी दिक्कत के गुलाब को लाल नहीं बल्कि उजला या काला या पीला सोचा जा सकता है। अनुभव के अस्तित्व को बुद्धिवाद इनकार नहीं करता, बल्कि यह भी स्वीकार करता है कि उससे किसी तरह का ज्ञान अवश्य मिलता है। किन्तु अनुभव के विरुद्ध उसका आक्षेप है कि वह (अनुभव) जो ज्ञान देता है वह यथार्थ नहीं होता, इसलिए उसे यथार्थ ज्ञान का उद्‌गम (source) नहीं माना जा सकता है।

बुद्धि को ज्ञान का साधन घोषित करने पर स्वभावतः यह प्रश्न खड़ा होता है कि बुद्धि का स्वरूप (nature) क्या है और उससे किस प्रकार ज्ञान उत्पन्न होता है अर्थात ज्ञान की पद्धति (method) क्या है। बुद्धि के स्वरूप के विषय में बुद्धिवाद का मत है कि बुद्धि मानवी मस्तिष्क का मूल तत्त्व (fundamental

essence of the human mind), अनुभव-निरपेक्ष (independent of experience), ज्ञान उत्पन्न करने की जन्मजात या स्वाभाविक शक्तियों से संपन्न (possessing inborn or natural powers of producing knowledge), तथा क्रियाशील (active) है। हमारे मानसिक जीवन के चार अंग हैं, संवेदन (Sensation), संकल्प (Volition), राग (Affection) और बुद्धि (Reason)। इनमें बुद्धि को बुद्धिवाद सर्वश्रेष्ठ और सार तत्त्व मानता है। औरों से जो ज्ञान मिलता है वह प्रायः भ्रांतिपूर्ण होता है किन्तु बुद्धि कभी भी असत्य ज्ञान नहीं देती है। वह अनुभव पर निर्भर नहीं है, उसमें ज्ञानोपार्जन की स्वतंत्र शक्ति है। इसलिए उसे अनुभव-निरपेक्ष कहते हैं। उसके अंदर कु जन्मजात शक्तियाँ (innate powers) हैं जिनके उपयोग से बिना किसी बाहरी सहायता के वह ज्ञान उत्पन्न कर सकती है। चूँकि वह अपने अंदर से ही ज्ञान उत्पन्न करती है, कहीं बाहर से पाती नहीं, इसलिए स्वभावतः ज्ञानोत्पत्ति में सक्रिय रहती है। ज्ञान उत्पन्न करने के लिए उसे क्रियाशील होना पड़ता है। वह अपने अंदर से ज्ञान उत्पन्न करती है जैसे मकड़ी अपने अंदर से ही सारा जाल बुन डालती है। इसका कारण है कि सारा ज्ञान बीज रूप में उसमें छिपा हुआ है; उसी बीज को बौद्धिक क्रिया द्वारा पुष्पित-पल्लवित किया जाता है जिससे ज्ञान का विशाल वृक्ष तैयार होता है। यदि रूपक हटा कर इसी बात को कहें तो कहेंगे कि बुद्धि के अंदर कुछ जन्मजात शक्तियाँ या सहज प्रत्यय (innate ideas) हैं जो सारे ज्ञान-विज्ञान की जड़ हैं। सहज प्रत्ययों की विशेषता है कि वे स्वयं-सिद्ध (self-evident) होते हैं, अर्थात उनकी सत्यता प्रमाणित करने के लिए किसी बाहरी तर्क या साधन की आवश्यकता नहीं पड़ती है। उन्हें सहज कहते हैं क्योंकि मनुष्य के मस्तिष्क में जन्म से ही वे विद्यमान

रहते हैं, अनुभव से सीखे नहीं जाते। मूल रूप में वे अविकसित या अप्रस्फुटित रहते हैं। बौद्धिक चिंतन द्वारा उनका विश्लेषण करके उन्हीं से सारा ज्ञान निकाला जाता है जैसे कि किसी न्यायवाक्य (syllogism) के आधार वाक्यों से निष्कर्ष निकाला जाता है। इस तरह ज्ञान की पद्धति निगमनात्मक (Deductive) है। बुद्धि अपने सहज प्रत्ययों से निगमनात्मक रीति से ज्ञान उपार्जित करती है। बुद्धिजन्य ज्ञान सार्वभौम होता है क्योंकि उसका आधार सहज प्रत्यय हैं जो कि सभी मनुष्यों के मस्तिष्क में विद्यमान होने के कारण सार्वभौम हैं। वह सब के लिए सत्य होता है क्योंकि उसके तत्त्व सब के अंदर मौजूद हैं। उसमें अनिवार्यता भी रहती है क्योंकि वह सहज प्रत्ययों से निगमनात्मक रीति से प्राप्त किया जाता है और निगमन के सभी निष्कर्ष अनिवार्य होते हैं। ऐसे ज्ञान का स्पष्ट उदाहरण गणित-शास्त्र में मिलता है। कुछ स्वयं-सिद्ध वाक्यों से आरंभ कर निगमनात्मक पद्धति (Deductive method) से निष्कर्ष निकालकर ज्ञान का सारा महल वह खड़ा करता है। 'तीन सीधी रेखाओं से घिरे क्षेत्र को त्रिभुज कहते हैं'—यही त्रिभुज की परिभाषा है। इसी परिभाषा से वह त्रिभुज-संबंधी विभिन्न सिद्धांतों को ढूँढ़ निकालता है जो सार्वभौम और अनिवार्य होते हैं, जैसे समद्विवाहु त्रिभुज के आधार पर के कोण समान होते हैं। यह निष्कर्ष सभी समद्विवाहु त्रिभुजों के विषय में सत्य है और अनिवार्य है क्योंकि इसका विपरीत कभी सत्य नहीं हो सकता। इसी प्रकार दार्शनिक ज्ञान की प्राप्ति के लिए आवश्यक है कि बुद्धि की शक्तियों का ठीक-ठीक प्रयोग किया जाय, या सहज प्रत्ययों से सही तरीके से निगमन निकाल कर ज्ञान का विकास किया जाय। ज्ञान का मूल आधार सहज प्रत्ययों को, जो अनुभव-निरपेक्ष (a priori or independent of experience) हैं, मानने के कारण बुद्धिवाद

को **सहजज्ञानवाद** (Innatism) या **अनुभव-निरपेक्षज्ञानवाद** (A priorism) भी कहा जाता है।

बुद्धिवाद की समस्याएं

बुद्धिवाद ज्ञान को बुद्धिजन्य मानता है, इसलिए, जैसा कि डा० पालसेन ने कहा है,* उसके सामने दो मुख्य समस्याएँ प्रस्तुत होती हैं जिनका समाधान उसकी स्थापना के लिए आवश्यक है। वे यों हैं : (१) ज्ञान के आधारभूत सहज प्रत्ययों का स्वरूप क्या है ? हमने देखा है कि बुद्धिवाद के अनुसार संभावना (possibility) या बीज के रूप में ज्ञान बुद्धि की बनावट में ही निहित रहता है। इसलिए इस बीज-रूप ज्ञान का स्वरूप निश्चित करना आवश्यक है। (२) दूसरी समस्या ज्ञान की प्रामाणिकता लेकर है। बुद्धिवाद मानता है कि बुद्धिजन्य ज्ञान विश्व का सत्य चित्र प्रस्तुत करता है, अर्थात वह विश्व के विषय में सत्य होता है। यहाँ प्रश्न उठता है कि जो ज्ञान पूर्णतः मनः प्रसूत है, जिसे बुद्धि अपने अंदर से, बाहरी दुनियाँ की ओर बिना देखे, उत्पन्न करती है, वह क्यों विश्व के विषय में सत्य होता है ? जब ज्ञान की उत्पत्ति में बुद्धि सिर्फ अपने जन्मजात प्रत्ययों का विश्लेषण या विकास भर करती है तो क्या गारंटी है कि उसका ज्ञान विश्व के लिए यथार्थ होगा ही ? इसका उत्तर अत्यंत आवश्यक है क्योंकि इसके बिना बुद्धि को यथार्थ ज्ञान का उद्गम नहीं कहा जा सकता। इन समस्याओं की महत्ता बुद्धिवादियों ने महसूस की है और यहाँ हम देखेंगे कि बुद्धिवाद के इतिहास में उसके विभिन्न समर्थकों ने कितनी सफलता के साथ उनका समाधान किया है।

---

* देखिए
Introduction to Philosophy by Friedrich Paulsen, P. 380

ऊपर जो लक्षण दिए गए हैं वे सुविकसित बुद्धिवाद के हैं। किन्तु कोई भी सिद्धांत एक-ब-एक सुविकसित रूप में पैदा नहीं होता है। बुद्धिवाद भी इस नियम का अपवाद नहीं है। अत्यंत ही निम्न कोटि से विकसित होते-होते उसका प्रौढ़ रूप उत्पन्न हुआ है। इसलिए जिन दार्शनिकों ने इसे जन्म दिया है उनकी रचनाओं में इसके प्रौढ़ रूप की सभी विशेषताओं को पाने की आशा करना उचित नहीं है और न पाकर उनको बुद्धिवादी स्वीकार नहीं करना अन्यायपूर्ण है। बुद्धिवादी होने की न्यूनतम शर्त है कि बुद्धि को ही एकमात्र प्रमाण या ज्ञान का साधन स्वीकार किया जाय। इसलिए जो भी इस शर्त को पूरा करता है हम उसे बुद्धिवादी कहेंगे। इस दृष्टि से देखने पर बुद्धिवाद का इतिहास अत्यन्त ही प्राचीन सिद्ध होता है।

बुद्धिवाद का इतिहास

पश्चिमी दर्शन में बुद्धिवाद का सर्वप्रथम उदाहरण यूनान के विचारक पामनिडीज (Parmenides) के दर्शन में मिलता है। उन्होंने साफ-साफ कहा है कि वस्तुओं के यथार्थ रूप का ज्ञान बुद्धि से होता है, इंद्रियों से नहीं। विश्व की परमार्थ सत्ता एक और अपरिवर्तनशील है, किन्तु इंद्रियाँ उसे अनेक और परिवर्तनशील बताती हैं। इसलिए इंद्रियजन्य ज्ञान मिथ्या और भ्रामक है, सत्य ज्ञान देने का श्रेय सिर्फ बुद्धि को है। हेराक्लीटस भी बुद्धिवाद का समर्थन करते हैं और इन्द्रियजन्य ज्ञान को भ्रांतिपूर्ण मानते हैं। उनके अनुसार सारा विश्व परिवर्तनशील या प्रवाहमय है, किन्तु इंद्रियाँ उसे स्थिर या अचल घोषित करती हैं। इसलिए वे विश्वसनीय नहीं हैं। पदार्थों का सत्य रूप बुद्धि द्वारा ही गृहित

१. पश्चिमी बुद्धिवाद

(१) पार्मेनिडीज

(२) हेराक्लीटस

होता है। परमाणुवादी डेमोक्राइटस (Democritus) भी बुद्धिवाद को स्वीकार करते हैं। उनका मत है कि परमाणु,

(३) डेमोक्राइटस

जो विश्व के मूल तत्त्व हैं, इतने सूक्ष्म हैं कि उनका ज्ञान इंद्रियों को नहीं हो सकता; उनको जानने की क्षमता सिर्फ बुद्धि में है।

उपर्युक्त विचारकों की अपेक्षा बुद्धिवाद का अधिक प्रौढ़ रूप सुकरात (Socrates) के दर्शन में मिलता है। उनके अनुसार

(४) सुकरात

धारणात्मक ज्ञान (Conceptual Knowledge) ही यथार्थ ज्ञान ह। इसका मतलब है कि राम, श्याम, आदि विशेषों (particulars) का नहीं बल्कि मनुष्यता, पशुता, आदि सामान्यों या धारणाओं (general ideas or concepts) का ज्ञान असली ज्ञान है; धारणाओं का ज्ञान बुद्धि से होता है, इंद्रियों से नहीं। इंद्रियाँ विशेषों तक सीमित रहती हैं; राम, श्याम, आदि विशेष मनुष्यों का प्रत्यक्ष उन्हें हो सकता है किन्तु मनुष्यता-जैसे सामान्यों का ज्ञान उनको नहीं हो सकता। सामान्यों को बुद्धि ही जान सकती है। इसलिए वास्तविक ज्ञान को धारणात्मक मानने के कारण बुद्धि को ही उसका साधन माना जा सकता है।

सुकरात के समय तक बुद्धिवादियों को बुद्धिवाद की प्रमुख समस्याओं का स्पष्ट ज्ञान नहीं था। इसलिए उनके समाधान के लिए कोई तत्परता वे नहीं दिखलाते हैं। उक्त

(५) प्लेटो

समस्याओं के महत्त्व की चेतना प्लेटो से आरंभ होती है। वस्तुतः आधुनिक अर्थ में बुद्धिवाद का सर्वश्रेष्ठ रूप यूनानी दर्शन में प्लेटो की रचनाओं में ही मिलता है। वे मानते हैं कि परमार्थ तत्त्व जाति-प्रत्ययों या धारणाओं (concepts) की समष्टि है। धारणाएँ अनैंद्रिय (non-sensuous)

और विचार-स्वरूप हैं। इसलिए उनका ज्ञान बुद्धि द्वारा ही हो सकता है। विशेष पदार्थ (particular objects) धारणाओं के प्रतिबिम्ब या छाया मात्र हैं, परमार्थ तत्त्व नहीं। इंद्रियों द्वारा विशेषों का ही ज्ञान होता है, इसलिए उन्हें परमार्थ तत्त्व के यथार्थ ज्ञान का साधन नहीं कहा जा सकता। ऐंद्रिय ज्ञान के साथ-साथ दूसरों से मिले ज्ञान या रागों और भावनाओं के आधार पर उत्पन्न विश्वासों को भी प्लेटो यथार्थ ज्ञान नहीं मानते हैं क्योंकि वे सभी अनिश्चित होते हैं और कभी भी असत्य सिद्ध किए जा सकते हैं। किन्तु यथार्थ ज्ञान कभी असत्य नहीं होता क्योंकि उसके विषय अर्थात जाति-प्रत्यय सदा सत्य और एक समान रहते हैं। ऐसा ज्ञान बुद्धि द्वारा ही प्राप्त होता है।

बौद्धिक ज्ञान के आधारभुत प्रत्ययों तथा उसकी प्रामाणिकता का विवेचन कर बुद्धिवाद की दो समस्याओं का स्पष्टीकरण भी प्लेटो के दर्शन में मिलता है। आधारभूत प्रत्ययों के विषय में उनका कहना है कि आतमा अपने मौलिक रूप में शरीररहित होकर धारणाओं (Ideas) की दुनिया में निवास करता है। वहाँ उसे उनका स्पष्ट ज्ञान होता है। जब शरीर धारण कर वह इस संसार में अवतरित होता है तो उसका मौलिक ज्ञान अत्यंत ही धूमिल हो जाता है किन्तु स्मृति की तरह अस्पष्ट या अव्यक्त रूप में उसके अंदर विद्यमान रहता है। यही सारे ज्ञान का आधार है। इसी को स्पष्ट और व्यक्त (explicit) कर देने से यथार्थ ज्ञान प्राप्त होता है। अतः यथार्थ ज्ञान के लिए बुद्धि को अपने से बाहर नहीं जाना पड़ता बल्कि अपने अंदर विद्यमान ज्ञान को ही प्रस्फुटित करना पड़ता है। दर्शन और गणित का अध्ययन इस कार्य में सहायक होता है। इस ज्ञान की प्रामाणिकता के विषय में प्लेटो को विशेष कठिनाई नहीं होती। परम तत्त्व धारणाएँ हैं और उन्हीं का

ज्ञान अस्पष्ट रूप में बुद्धि के अंदर छिपा रहता है जिसे वह विकसित करती है। इस विकसित ज्ञान का आधार चूँकि वास्तविकता का ज्ञान है, इसलिए इसका सत्य होना, वास्तविकता के अनुकूल होना स्वाभाविक है। इस प्रकार बुद्धिजन्य ज्ञान वस्तुसंवादी (corresponding to real facts) या यथार्थ होता है।

बुद्धिवाद का पूर्ण विकास सत्रहवीं-अठारहवीं शताब्दियों में हुआ जब कि दार्शनिकों के एक दल ने बड़े ही स्पष्ट और युक्तिपूर्ण ढंग से उसका मंडन किया। इस दल में डेकार्ट (Descartes), स्पीनोजा (Spinoza) और लाइबनिज (Leibnitz) प्रमुख हैं। इन लोगों ने बुद्धिवाद पर इतना जोर दिया कि बाद के साहित्य में बुद्धिवाद इनके ज्ञान-शास्त्रीय सिद्धांत का विशिष्ट नाम-सा समझा जाने लगा। इस युग का प्रवर्तन डेकार्ट ने किया था।

(६) डेकार्ट

डेकार्ट मानते हैं कि बुद्धिजन्य ज्ञान ही सदा असंदिग्ध और सत्य रहता है। इंद्रियाँ प्रायः असत्य को सत्य बतलाती हैं, इसलिए उन पर भरोसा नहीं किया जा सकता। दूसरों से प्राप्त ज्ञान के भी सत्य होने की कोई गारंटी नहीं है। इसलिए बुद्धि ही है जिस पर निर्भय होकर निर्भर किया जा सकता है। आत्मा का सार तत्त्व विचार (thought) है, इसलिए बुद्धि हमारे मानसिक जीवन का सार अंश है। बुद्धि अपने आप ज्ञान का विकास करती है।

बौद्धिक ज्ञान के आधारभूत तत्त्वों के विषय में डेकार्ट मानते हैं कि बुद्धि के अंदर कुछ जन्म-जात प्रत्यय या शक्तियाँ हैं जिनसे गणित की पद्धति द्वारा चिंतन करने पर सत्य और सार्वभौम ज्ञान की प्राप्ति होती है। दर्शन का आदर्श गणित है क्योंकि मनुष्य

के ज्ञान-भंडार में वही सबसे अधिक निश्चित और असंदिग्ध है। गणित की पद्धति निगमनात्मक (Deductive) है। उसमें कुछ स्वयं-सिद्ध नियमों से निगमन निकाला जाता है। यही पद्धति दर्शन की भी है। बुद्धि अपने जन्म-जात प्रत्ययों से निगमन निकाल कर दार्शनिक ज्ञान का विकास करती है। आत्मा, ईश्वर, द्रव्य (substance), कार्य-कारण नियम, आदि का ज्ञान जन्म-जात है। जन्म-जात ज्ञान स्वयं-सिद्ध और पूर्णतः स्पष्ट होता है।

अब बौद्धिक ज्ञान की प्रामाणिकता की समस्या आती है। इसको हल करने के लिए डेकार्ट ईश्वर की सहायता लेते हैं। बौद्धिक ज्ञान के आधार जन्म-जात प्रत्यय हैं। जन्म-जात होने का अर्थ है कि ईश्वर ने जन्म के समय ही मनुष्य के मस्तिष्क में कुछ प्रत्ययों या शक्तियों को भर दिया है। जन्म-जात और उससे प्रसूत ज्ञान हमें स्पष्टतः सत्य जान पड़ता है। उसकी सत्यता वस्तुनिष्ठ है, अर्थात वह विश्व के विषय में सत्य है क्योंकि उसका प्रतिष्ठाता ईश्वर है और ईश्वर सत्य-प्रिय है। वंचक ईश्वर ही ऐसा कर सकता है कि हमें ऐसा ज्ञान दे जो सत्य लगे किन्तु वस्तुतः सत्य न हो। परंतु ईश्वर वंचक नहीं हो सकता क्योंकि वह पूर्ण है और वंचकता अपूर्णता का द्योतक है। इसलिए बौद्धिक ज्ञान की प्रामाणिकता ईश्वर की सत्य-प्रियता (veracity) पर आधारित है।

सहज प्रत्ययों के अतिरिक्त दो और प्रकार के प्रत्ययों को डेकार्ट स्वीकार करते हैं। वे हैं : (१) **वाह्यार्थ-प्रसूत** (Adventitious)—जो बाहरी वस्तुओं से उत्पन्न होते हैं; और (२) **कल्पना-प्रसूत**—जो कल्पना से उत्पन्न होते हैं जैसे उड़ता घोड़ा। पहले प्रकार के प्रत्यय मन से स्वतंत्र रहते हैं जबकि दूसरे मन पर निर्भर रहते हैं। किन्तु सब में सहज प्रत्यय ही अधिक महत्त्व-

पूर्ण हैं और वे ही दार्शनिक ज्ञान के आधार हो सकते हैं क्योंकि वे असंदिग्ध, सर्वदा सत्य और पूर्णत: स्पष्ट होते हैं जब कि कल्पना-प्रसूत प्रत्यय सदा असत्य होते हैं और वाह्यार्थ-प्रसूत प्रत्ययों की सत्यता अनिश्चित (uncertain) रहती है। सहज प्रत्ययों को सर्वाधिक महत्ता देने के कारण ही और प्रकार के प्रत्ययों को स्वीकार करने पर भी डेकार्ट की गिनती बुद्धिवाद के प्रमुख संस्थापकों में होती है।

स्पीनोजा के अनुसार कल्पना (Imaginatio, i. e. imagination) और बुद्धि (Intellectus, i. e. intellect or reason) ज्ञान के दो साधन हैं। कल्पना का प्रयोग वे साधारण से भिन्न अर्थ मे करते हैं। उसके अन्तर्गत इंद्रिय, स्मृति, आदि से उत्पन्न सभी ज्ञान को वे सन्निहित मानते हैं।* उनके अनुसार काल्पनिक ज्ञान अस्पष्ट (confused) और अपूर्ण (inadequate) होता है तथा पदार्थों के वास्तविक रूप को व्यक्त नहीं करता है। संसार के सभी पदार्थ एक ही द्रव्य या ईश्वर के पर्याय हैं किन्तु कल्पना उन्हें अलग-अलग स्वतंत्र द्रव्यों के रूप में ग्रहण करती है। यथार्थ ज्ञान बुद्धि से मिलता है। बौद्धिक ज्ञान स्पष्ट, पूर्ण और वस्तुओं के सारभूत तत्त्व को ग्रहण करनेवाला होता है।

(७) स्पीनोजा

बौद्धिक ज्ञान के विषय में डेकार्ट की तरह स्पीनोजा भी मानते हैं कि कुछ सहज प्रत्यय हैं जो उसका आधार हैं और उन्हीं प्रत्ययों से गणित की तरह निगमनात्मक विधि द्वारा दार्शनिक ज्ञान की सिद्धि होती है। वस्तुत: सहज प्रत्ययों के विषय में वे डेकार्ट के मत को बहुत कुछ अपना लेते हैं। बौद्धिक ज्ञान के वे

---

* देखिए—
History of Modern Philosophy by Falckenberg, Page 132.

दो दर्जे बतलाते हैं। एक में उन प्रत्ययों का अपरोक्ष ज्ञान होता है जो जन्म-जात, स्वयं-सिद्ध, परमार्थ सत्य तथा सारे ज्ञान के आधार हैं। इस ज्ञान को वे प्रातिभ ज्ञान (Intuitive Knowledge) कहते हैं। दूसरे में उपर्युक्त प्रत्ययों से निगमन निकाला जाता है। यह अनुमित ज्ञान (Inferential Knowledge) कहलाता है। दोनों प्रकार के ज्ञान सत्य, निश्चित और असंदिग्ध होते हैं।

बौद्धिक ज्ञान की प्रामाणिकता के विषय में स्पीनोजा का अपना मत है। वे मानते हैं कि विचार (thought) और विस्तार (extension), चेतन (mind) और जड़ (matter), दोनों एक ही ईश्वर के दो धर्म हैं, दोनों में एक ही द्रव्य या ईश्वर व्याप्त है। हमारी सीमित बुद्धि उसके विचार गुण का पर्याय है और भौतिक जगत विस्तार गुण का। इसलिए बुद्धि और बाहरी जगत में संवादिता (correspondence) का होना स्वाभाविक है। यही कारण है कि बौद्धिक ज्ञान विश्व के अनुरूप अर्थात प्रामाणिक होता है क्योंकि एक ही ईश्वर के दोनों पर्याय हैं। जड़-चेतन-संबंधी स्पीनोजा के इस मत को समानान्तरवाद (parallelism) कहते हैं।

लाइबनिज के दर्शन में बुद्धिवादी परंपरा पूर्ववर्ती विचारकों से अधिक पुष्ट और विकसित होती है। वे भी मानते हैं कि सत्य ज्ञान प्रदान करने की क्षमता केवल बुद्धि में ही है। हम देख चुके हैं कि बुद्धिवाद की एक प्रमुख समस्या बौद्धिक ज्ञान के आधारभूत प्रत्ययों का स्वरूप स्थिर करना है। इस विषय में डेकार्ट ने कुछ प्रत्ययों को जन्म-जात माना था और उन्हीं से सारे बौद्धिक ज्ञान की उत्पत्ति बतलाई थी। लाइबनिज भी मानते है कि ज्ञान के मूल आधार

(८) लाइबनिज

जन्म-जात प्रत्यय हैं किन्तु उनके अनुसार कुछ ही नहीं बल्कि सभी प्रत्यय जन्म-जात हैं। जन्म-जात होने का अर्थ है कि सभी प्रत्यय स्पष्ट, व्यक्त या विकसित रूप में नहीं बल्कि बीज या प्रवृत्ति के रूप में मन के अंदर विद्यमान हैं। उसके अंदर ऐसी शक्ति या संभावना है कि बिना किसी बाहरी सहायता के अपनी बौद्धिक क्रिया मात्र से सारा ज्ञान विकसित कर सकता है। यही कारण है कि सभी जन्म-जात प्रत्ययों की चेतना (Consciousness) हमें नहीं रहती है। चेतना तब होती है जब कि बीज-रूप प्रत्यय अंकुरित होकर पुष्पित-पल्लवित होते हैं। इसलिए चेतना और विकसित ज्ञान के लिए बाहर से प्रत्ययों के संचय की नहीं बल्कि अंदर के विद्यमान बीजों को प्रस्फुटित करने की आवश्यकता है। ज्ञान के इस विकास के लिए अनुभव अवसर प्रदान करता है किन्तु यह अनुभव बाहरी पदार्थों से उत्पन्न नहीं बल्कि मन या बुद्धि की स्वतंत्र क्रिया का परिणाम है। सारे ज्ञान का आधार जन्म-जात प्रवृत्तियों को मानने के कारण लाइबनिज के अनुसार मन न तो साफ कागज (Unwritten paper) के समान है, न किसी खजाने की तरह जिसमें विभिन्न वस्तुओं की तरह साफ-साफ प्रत्यय रखे हों, बल्कि वह एक पत्थर के टुकड़े की तरह है जिसमें मूर्ति बनने की क्षमता या शक्ति पहले से ही विद्यमान होती है।

लाइबनिज के इस मत का आधार अनका तत्त्व-सिद्धांत है। वे मानते हैं कि मूलतत्त्व चिद्‌विन्दु (Monads) हैं जो आध्यात्मिक और गवाक्षहीन (windowless) हैं। उनमें बाहरी पदार्थों से प्रभावित होने या उन्हें प्रभावित करने के लिए कोई मार्ग नहीं है। इसलिए उनका सारा ज्ञान उन्हीं के अंदर से उद्‌भूत हुआ है, अर्थात जन्म-जात है, क्योंकि बाहर से कुछ ग्रहण करना उनके लिए संभव नहीं है।

बुद्धिवाद की दूसरी समस्या प्रामाणिकता की है। यहाँ भी लाइबनिज अपने तत्त्व-सिद्धांत की सहायता लेते हैं। जब कि सारा ज्ञान जन्म-जात है तो क्या गारंटी है वह विश्व का सच्चा चित्र प्रस्तुत करेगा ही ? इस विषय में लाइबनिज का मत है कि हरएक चिद्-बिंदु छोटे पैमाने में विश्व का प्रतीक (miniature representation of the universe) है। अब जो ज्ञान वह अपने अंदर से उत्पन्न करता है वह उसके विषय में सत्य होगा ही, इसलिए विश्व के विषय में भी सत्य होगा क्योंकि विश्व का प्रतीक होने के नाते अपने को जानने में भी वह विश्व को भी जान लेता है। ऐसा इसलिए होता है कि ईश्वर, जो विश्व का विधाता है, उसीने सृष्टि के आदि में ही ऐसी व्यवस्था स्थापित कर दी है।

(९) वूल्फ और (१०) हीगल

लाइबनिज के बाद बुद्धिवाद के प्रमुख समर्थक वूल्फ (Christian wolff, 1679–1754) हुए किन्तु उसका चरम विकास बहुत बाद हीगल के दर्शन में हुआ। हीगल के अनुसार मूल तत्त्व एक सर्वव्यापक बुद्धि है और उसी का प्रकाश हमारी बुद्धि में है। इसलिए चूँकि वास्तविकता ही बौद्धिक है, उसका ज्ञान बुद्धि द्वारा ही हो सकता है। बौद्धिक ज्ञान की पद्धति द्वन्द्वात्मक (Dialectical) है जो वाद (Thesis), प्रतिवाद (Anti-thesis) और संवाद (Synthesis) की तीन अवस्थाओं से गुजरती है। इस ज्ञान की पराकाष्ठा दर्शन-शास्त्र में होती है जो बौद्धिक चिंतन का श्रेष्ठतम रूप और वास्तविकता का सर्वोत्कृष्ट ज्ञान है। बौद्धिक ज्ञान की सत्यता या प्रामाणिकता स्वाभाविक है क्योंकि वास्तविकता ही बौद्धिक है।

भारतीय दर्शन में उपर्युक्त प्रकार का बुद्धिवाद नहीं मिलता है क्योंकि यहाँ अनुभव से स्वतंत्र करके बुद्धि को देखने की परंपरा

नहीं है। अनुभव से असंबद्ध होकर सिर्फ बुद्धि द्वारा ज्ञान हो सकता है, यह सिद्धांत किसी भी भारतीय दार्शनिक को मान्य नहीं है।

बुद्धिवाद का मूल्यांकन

बुद्धिवाद मानता है कि बुद्धि मात्र से ज्ञान उत्पन्न होता है। उसका दावा है कि सारे ज्ञान की व्याख्या बुद्धि द्वारा हो सकती है। ज्ञान से उसका मतलब दार्शनिक ज्ञान से है जो विश्व के यथार्थ रूप को व्यक्त करता है। इतना हम स्वीकार करते हैं कि ज्ञानोत्पादन में बुद्धि का महत्त्वपूर्ण योग रहता है। इसलिए बुद्धि पर गौरव देकर बुद्धिवाद बहुत बड़े सत्य को प्रतिष्ठित करता है। (१) किन्तु वह बहुत बड़ी गलती करता है जब जोश में आकर केवल बुद्धि को ही ज्ञान का एकमात्र साधन घोषित करता है और अनभव की प्रमाणता अस्वीकार करता है। हम देखते हैं कि सभी अनुभवजन्य ज्ञान भ्रांतिपूर्ण नहीं होते, इसलिए अनुभवमात्र को मिथ्या कह कर बहिष्कृत करना उचित नहीं है। स बहिष्कार का कारण वह देता है कि अनुभव से सार्वभौम और अनिवार्य ज्ञान, जो आदर्श ज्ञान है, प्राप्त नहीं हो सकता। (२) किन्तु आधुनिक प्राकृतिक विज्ञान (natural sciences) इस आदर्श को ही अस्वीकार करते हैं। वे कहते हैं कि वस्तु-जगत के विषय में वस्तुतः सार्वभौम और अनिवार्य ज्ञान की प्राप्ति संभव नहीं है। ऐसा वही ज्ञान हो सकता है जो सदा सत्य रहे किन्तु विज्ञानों का इतिहास बतलाता है कि प्रगति के साथ ज्ञान की वृद्धि होती है और प्रायः ऐसा होता है कि जो कभी सत्य समझा जाता है वही आगे चलकर असत्य सिद्ध होता है या नए ज्ञान के प्रकाश में परिवर्तित किया जाता है। इसलिए जो बुद्धि-

वाद का आदर्श है वह चरितार्थ होनेवाला नहीं है। सचमुच यदि सार्वभौम और अनिवार्य ज्ञान की प्राप्ति हो जाय तो दर्शन और विज्ञान की प्रगति ही समाप्त हो जायगी क्योंकि उसके बाद और कुछ करने की आवश्यकता ही नहीं रहेगी। बुद्धिवादियों ने उक्त आदर्श को अपनाया है क्योंकि उनके अंदर गणित-विज्ञान के लिए पक्षपात है और दूसरे विज्ञानों की ओर उनकी दृष्टि नहीं है। गणित में यह संभव है क्योंकि वह निगमनात्मक है। किन्तु वही एकमात्र विज्ञान नहीं है; भौतिक विज्ञान (Physics), रसायन विज्ञान (Chemistry) आदि प्राकृतिक विज्ञान (natural sciences) भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं हैं। प्राकृतिक विज्ञानों में पूर्णतः सार्वभौम और अनिवार्य ज्ञान की प्राप्ति संभव नहीं है। इसलिए गणित-विज्ञान को देखकर ही सारे ज्ञान-विज्ञान का आदर्श स्थिर कर लेना न्यायोचित नहीं है। (३) गणित के लिए पक्षपात के कारण बुद्धिवाद ज्ञान की पद्धति को गलत समझता है। उसका आदर्श गणित है और गणित की पद्धति निगमनात्मक है, इसलिए वह निगमनात्मक विधि को ही ज्ञान की पद्धति मानता है और आगमन विधि (Inductive method) की उपेक्षा करता है। किन्तु तर्क-शास्त्र के विद्यार्थी जानते हैं कि निगमन और आगमन दोनों समानतः महत्त्वपूर्ण हैं और किसी की भी उपेक्षा नहीं होनी चाहिए। ज्ञान की प्राप्ति में दोनों का प्रयोग होता है और उनके सम्मिलित प्रयोग से ज्ञान की वृद्धि होती है। (४) बुद्धि के स्वरूप के विषय में भी बुद्धिवाद की धारणा ठीक नहीं है। वह उसे ऐंद्रिय सम्वेदनों से स्वतंत्र या निरपेक्ष (independent of experience) मानता है, अतः बौद्धिक चिंतन के लिए इंद्रियानुभूति (sense-experience) की आवश्यकता नहीं है। किन्तु आधुनिक मनोविज्ञान बतलाता है कि सभी तरह के ज्ञान का आधार इंद्रियानुभूति है।

प्रत्यक्षीकरण (Perception), कल्पना (Imagination), स्मृति (Memory), चिंतन (Thinking), आदि सभी मानसिक क्रियाओं के मूल में संवेदन (Sensation) रहता है। इसलिए यह कहना कि बुद्धि बिलकुल स्वतंत्र है, सत्य नहीं है। परीक्षा करने पर बुद्धि-वादियों के तथाकथित अनुभव-निरपेक्ष या बुद्धिजन्य ज्ञान भी अनुभव-सापेक्ष सिद्ध होते हैं। वे कहते हैं कि २+२=४ अनुभव-निरपेक्ष है। किन्तु जब तक हम दो-दो वस्तुओं को जोड़ने पर चार होते नहीं देखते तब तक वह पूरा-पूरा समझ में नहीं आता है। (५) बुद्धि की शक्ति के विषय में भी बुद्धिवाद का मत सत्य नहीं है। वह मानता है कि बुद्धि से वस्तुओं के अस्तित्व का ज्ञान प्राप्त हो सकता है। किन्तु यह संभव नहीं है। किसी वस्तु के ज्ञान से जो निष्कर्ष निकलता है उसे ही बुद्धि बता सकती है, किन्तु यह बताने की क्षमता उसमें नहीं है कि उक्त वस्तु का अस्तित्व है या नहीं। वस्तुओं के अस्तित्व का ज्ञान अनुभव से होता है, बुद्धि से नहीं।* (६) बौद्धिक ज्ञान की प्रामाणिकता सिद्ध करने में भी बुद्धिवाद सफल नहीं होता है। बौद्धिक ज्ञान सिर्फ बुद्धि से अर्थात वस्तु-जगत की बिना सहायता के उत्पन्न होता है। इसलिए वस्तुओं के विषय में उसका सत्य होना निश्चित नहीं कहा जा सकता। उनके विषय में वह तभी लागू हो सकता है जब कि उनका आचरण बौद्धिक नियमों के अनुसार हो। किन्तु ऐसा होने की कोई गारंटी नहीं है, बल्कि कभी-कभी देखा जाता है कि बौद्धिक निर्णयों के

---

*......"Although reasoning will tell you what will follow from the fact that X exists, reasoning cannot tell you whether in fact X does exist. Observation alone can inform us of the nature of what exists."—Dr. C. E. M. Joad, Guide to Philosophy, Page 111.

प्रतिकूल वस्तु-जगत की घटनाएँ होती हैं। बुद्धिवाद कहता है कि बुद्धि बतलाती है कि दो-दो का योग चार होता है। किन्तु वस्तु-जगत में दो-दो का योग कभी एक भी होता है जैसे जल की दो बूंदें जल की अन्य दो बूंदों के साथ जब जोड़ी जाती हैं तो परिणाम चार बूंद नहीं बल्कि एक बड़ी बूंद होता है। ऐसी हालत में यह कहना कि सभी बौद्धिक ज्ञान वस्तु-संवादी होता है न्यायोचित नहीं है। इस कठिनाई को दूर करने के लिए प्लेटो ने प्रत्यय-जगत को सत्य माना और वस्तु-जगत को मिथ्या कह दिया। किन्तु मिथ्या कह देने से कोई व्याख्या नहीं होती। मिथ्या है, तो क्यों मिथ्या है? और, मिथ्या का अस्तित्व ही क्यों है? इन प्रश्नों का कोई युक्ति-पूर्ण उत्तर प्लेटो के पास नहीं है। डेकार्ट, स्पीनोजा और लाइबनिज ने ईश्वर की सहायता से बौद्धिक ज्ञान की प्रामाणिकता सिद्ध करने की चेष्टा की है। किन्तु ईश्वर के अस्तित्व को ही अकाट्य रूप में प्रामाणित करने में वे सफल नहीं हो सके हैं। इसलिए जब ईश्वर की सत्ता ही निर्विवाद नहीं है तो वह बौद्धिक ज्ञान की प्रामाणिकता की क्या रक्षा कर सकता है? (७) बौद्धिक ज्ञान के सदा वस्तु-संवादी न होने से उसे सच्चे अर्थ में सार्वभौम या अनिवार्य नहीं कहा जा सकता है। जब दो-दो मिलकर सदा चार नहीं होते तो कैसे कहा जा सकता है कि सभी बौद्धिक ज्ञान सार्वभौम और अनिवार्य अर्थात सदा सत्य होते हैं? किन्तु इसी पर तो बुद्धिवादियों का नाज है कि बुद्धि सार्वभौम और अनिवार्य ज्ञान उत्पन्न करती है और इसी दावे के आधार पर उन्होंने अनुभव का तिरस्कार किया था। इसलिए इसके खंडित होने पर उनकी आधार-शिला ही टूट जाती है। (८) यदि बौद्धिक ज्ञान को सार्वभौम और अनिवार्य मान भी लिया जाय तो कठिनाइयों का अन्त नहीं होता है। यह ठीक है कि बौद्धिक ज्ञान का कुछ अंश सार्वभौम और अनिवार्य होता है जैसे त्रिभुज

के तीन कोणों का योग दो समकोण के बराबर होता है। किन्तु, जैसा कि जर्मन दार्शनिक कांट (Kant) ने कहा है, बौद्धिक ज्ञान में नवीनता का अभाव रहता है। बुद्धि विभिन्न धारणाओं का विश्लेषण करके जो उनमें निहित है उसे स्पष्ट भर कर देती है, कोई नया ज्ञान नहीं देती। त्रिभुज की धारणा में जो विद्यमान है उसे ही वह स्पष्ट करती है, त्रिभुज के विषय में कोई नया ज्ञान प्रदान नहीं करती। इसलिए बुद्धि द्वारा ज्ञान की वृद्धि नहीं हो सकती, कोई नया ज्ञान नहीं मिल सकता। किन्तु जिस ज्ञान से ज्ञान की वृद्धि नहीं होती उसे सच्चा ज्ञान कहा ही कैसे जायगा ?

बीसवाँ अध्याय

(२) अनुभववाद

अनुभववाद (Empiricism) बुद्धिवाद का विरोधी सिद्धांत है। वह ज्ञान उत्पन्न करने में बुद्धि की अक्षमता घोषित करता है और उसकी जगह अनुभव को अधिष्ठित करता है। अतएव उसके अनुसार केवल अनुभव ज्ञान का साधन या प्रमाण है। अनुभव के अतिरिक्त ज्ञान की उत्पत्ति का दूसरा कोई मार्ग नहीं है।

अनुभववाद की सामान्य विशेषताएँ

मनुष्य के ज्ञान-कोष में जो है वह सब अनुभवजन्य है। इसलिए ज्ञान को कोई अंश भी अनुभव-निरपेक्ष या प्रागनुभविक (a priori) नहीं है। चूँकि ज्ञान मात्र अनुभव से प्राप्त होता है, इसलिए सभी ज्ञान अर्जित या सीखा हुआ है, कुछ भी जन्म-जात या सहज नहीं है। जन्म के समय मनुष्य के मस्तिष्क में किसी प्रकार का ज्ञान विद्यमान नहीं रहता है, बल्कि उसके बाद अनुभव द्वारा प्राप्त और विकसित होता है। इसलिए अनुभववाद हमारे मस्तिष्क को साफ कागज (blank paper)' या कोरी पटरी (clean slate) से तुलना करता है जिस पर अनुभव के पूर्व कुछ भी अंकित नहीं रहता है। अनुभववाद का यह सिद्धांत बुद्धिवाद के सहजज्ञानवाद (theory of innate ideas) के विरुद्ध है इसलिए उसका खंडन करना आवश्यक हो जाता है। यों तो सभी अनुभववादी विचारक सहज ज्ञान को मिथ्या मानते हैं किन्तु उसको

मिथ्या सिद्ध करने का कार्य अंग्रेज दार्शनिक लाक (John Locke) ने बड़े उत्साह के साथ किया है। उनका कहना है कि जो ज्ञान सहज या जन्म-जात होगा उसकी चेतना अवश्य रहेगी और वह सब को स्वीकृत होगा। ईश्वर, आत्मा, कार्य-कारण नियम आदि के प्रत्यय जन्म-जात कहे जाते हैं किन्तु उनकी चेतना सबको नहीं रहती है; बच्चों, अशिक्षितों, पागलों, आदि को उनका पता नहीं रहता। यदि वे मन के अंदर हैं तो उनका ज्ञान होता ही, इसलिए उनकी चेतना का अभाव यही सूचित करता है कि वे मन में नहीं हैं, अर्थात जन्म-जात नहीं हैं। उनके विषय में सब का एकमत भी नहीं है। उदाहरण के लिए 'ईश्वर' के प्रत्यय को ले लिया जाय। बहुत हैं जो ईश्वर में विश्वास करते ही नहीं, और जो करते भी हैं उनके लिए उसका एक ही अर्थ नहीं होता। उक्त प्रत्यय के जन्म-जात होने पर ऐसा नहीं होता। इसी प्रकार कई अन्य तर्कों द्वारा लाक सिद्ध करते हैं कि कोई ज्ञान सहज नहीं है।

अनुभववाद मानता है कि ज्ञान निर्णयों (Judgments) की समष्टि है। निर्णय प्रत्ययों (ideas) को संबंधित करने से बनते हैं। इसलिए ज्ञान के आदि तत्त्व प्रत्यय हैं। इन प्रत्ययों की उत्पत्ति अनुभव से होती है। यही कारण है कि अनुभव को ज्ञान का सच्चा उत्पादक कहा जाता है। मन या बुद्धि प्रत्ययों के ग्रहण करने वाले मात्र हैं, उत्पन्न करने वाले नहीं। अनुभव से उद्भूत प्रत्ययों को निष्क्रिय रूप में वे ग्रहण भर करते हैं। इसीलिए अनुभववाद का मत है कि बुद्धि को ज्ञान की जननी हम नहीं कह सकते। और, ज्ञानोत्पत्ति में वह बिलकुल शिथिल या निष्क्रिय रहती है क्योंकि किसी प्रत्यय को अपने अंदर से पैदा नहीं करती बल्कि बाहर से मिले धन की तरह सिर्फ ग्रहण कर सकती है।

ज्ञान की पद्धति के विषय में अनुभववाद आगमन-विधि

(Inductive method) पर अधिक जोर देता है। वह मानता है कि सामान्य ज्ञान (General Knowledge) ही सबसे महत्त्व-पूर्ण है किन्तु वह आदि या आरंभिक ज्ञान नहीं है । चूँकि ज्ञान का एकमात्र साधन अनुभव है और अनुभव विशेषों (Particulars) का होता है, इसलिए आरंभ में विशेषों का ही ज्ञान होता है। बाद में विशेषों के ज्ञान के आधार पर आगमन-विधि द्वारा समान्यों (general truths) का ज्ञान होता है। इसलिए ज्ञान की पद्धति मुख्यतः आगमनात्मक (Inductive) है।

ज्ञान के आदर्श (ideal) के विषय में अनुभववाद का मत बुद्धिवाद से भिन्न है। बुद्धिवाद गणित-विज्ञान को दर्शन का आदर्श मानता है। किन्तु अनुभववाद के अनुसार यह उचित नहीं है। वह बतलाता है कि दो तरह के विज्ञान होते हैं : धारणात्मक (conceptual) और वस्तु-निष्ठ (objective or factual)। धारणात्मक विज्ञान वस्तुओं के अस्तित्व के विषय में कोई कथन नहीं करता बल्कि कुछ धारणाओं से निगमन-विधि द्वारा निष्कर्ष निकालता है। उसके सामने यह प्रश्न नहीं होता कि निष्कर्ष वस्तु-संवादी है या नहीं; वह यही देखता है कि उसका अनुमान ठीक तरीके से किया गया है या नहीं। यही कारण है कि उक्त धारणाओं को स्वीकार करने पर निष्कर्षों को स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं की जा सकती यदि निगमन-विधि दोषरहित है। इसीलिए ये निष्कर्ष सार्वभौम और अनिवार्य हो सकते हैं। गणित-विज्ञान धारणात्मक है। त्रिभुज, वृत्त आदि की धारणाओं से वह निगमन निकालता है; यह नहीं बताता कि वस्तुतः त्रिभुज या वृत्त का अस्तित्व संसार में है या नहीं। ऐसा ज्ञान दर्शन का आदर्श नहीं बन सकता क्योंकि उसका अभीष्ट वास्तविक पदार्थों का वास्तविक ज्ञान प्राप्त करना है। वस्तु-निष्ठ विज्ञान वास्तविक

पदार्थों के विषय में ज्ञान देता ह । मनोविज्ञान, भौतिक विज्ञान (Physics), रसायन विज्ञान (Chemistry) आदि इसके उदाहरण हैं। वास्तविक घटनाओं का ज्ञान बौद्धिक विश्लेषण से नहीं बल्कि अनुभव से होता है । वृत्त की परिभाषा से उसके सभी अर्धव्यासों को समान लम्बाई का सिद्ध किया जा सकता है किन्तु आग की परिभाषा से यह नहीं बताया जा सकता कि उससे भोजन बनेगा या जलेगा। यह सब अनुभव से ही जाना जा सकता है। इसलिए वस्तु-निष्ठ विज्ञानों के निष्कष अनुभव पर आधारित होते हैं । उनके निष्कर्ष गणित की तरह सार्वभौम, स्थिर और अनिवार्य नहीं हो सकते क्योंकि भूत; वर्तमान और भविष्य सब का अनुभव संभव नहीं है । इसलिए उनके निष्कर्ष अधिक से अधिक संभाव्य (probable) हो सकते हैं, पूर्णतः निश्चित नहीं। दर्शन का संबंध भी उक्त विज्ञानों की तरह वास्तविक जगत से है। इसलिए अनुभव उसका साधन और अधिक से अधिक सभाव्य ज्ञान की उपलब्धि उसका आदर्श है । अत: गणित की तरह पूर्णतः सार्वभौम और अनिवार्य ज्ञान के आदर्श को त्यागने में ही उसका कल्याण है। विज्ञानों के उक्त भेद को नहीं समझने के कारण बुद्धिवाद ने अनुभव को ठुकराया और गणित की मृग-मरीचिका के पीछे दौड़ता फिरा था—गणित का आदर्श दर्शन के लिए मृग-मरीचिका ही है क्योंकि कभी भी उसकी वास्तविक उपलब्धि दर्शन के क्षेत्र में संभव नहीं है।

अनुभववादियों की सर्वस्वीकृत मान्यता है कि ज्ञान का उद्गम अनुभव है किन्तु अनुभव के स्वरूप के विषय में कभी-कभी उनमें मत-भेद दीख पड़ता है । कुछ मानते हैं कि ऐंद्रिय या बाह्य (sensuous or external) और आंतरिक या मानसिक (internal or mental) दोनों प्रकार के अनुभव ज्ञान के साधन

हैं। किन्तु कुछ ऐसे भी हैं जो सिर्फ ऐंद्रिय अनुभव अर्थात संवेदन (sensation) को प्रमाण मानते हैं। दूसरे मत को संवेदनवाद (Sensationalism or Sensism) की संज्ञा दी जाती है।

अनुभववाद और बुद्धिवाद की तुलना

हमने आरंभ में ही कहा था कि अनुभववाद बुद्धिवाद का विरोधी सिद्धांत है। अनुभववाद की विशेषताओं के उपर्युक्त वर्णन से यह कथन बिलकुल स्पष्ट हो जाता है। यहाँ पर दोनों सिद्धांतों के पारस्परिक भेद को हम और स्पष्ट कर रहे हैं। वे यों हैं:—

अनुभववाद	बुद्धिवाद
(१) ज्ञान की उत्पत्ति का साधन अनुभव (Experience) है, बुद्धि नहीं।	(१) ज्ञान की उत्पत्ति का साधन बुद्धि (Reason) है, अनुभव नहीं।
(२) अनुभव से उत्पन्न होने के कारण सभी ज्ञान अर्जित है, इसलिए कोई भी ज्ञान जन्म-जात नहीं है।	(२) ज्ञान के आधारभूत प्रत्यय जन्म-जात हैं। उन्हीं से ज्ञान उद्भूत होता है।
(३) बुद्धि अपने आप में निष्क्रिय है क्योंकि पहले वह अनुभव से प्राप्त प्रत्ययों को ग्रहण करती है, बाद में भले ही सक्रिय हो जाय।	(३) बुद्धि स्वभावतः क्रियाशील है क्योंकि अपने अंदर से वह ज्ञान उत्पन्न करती है।
(४) ज्ञान का महत्त्वपूर्ण अंश आगमनात्मक (Inductive) है क्योंकि विशेषों	(४) ज्ञान का प्रमुख अंश निगमनात्मक (deductive) है क्योंकि सहज प्रत्ययों से

के ज्ञान के आधार पर आगमन-विधि से सामान्य ज्ञान प्राप्त किया जाता है ।	निगमन-विधि द्वारा सारा ज्ञान प्राप्त होता है ।
(५) दर्शन का आदर्श वस्तु-निष्ठ विज्ञान हैं ।	(५) दर्शन का आदर्श गणित-विज्ञान है ।
(६) वस्तु-निष्ठ विज्ञानों को आदर्श मानने से दर्शन का अभीष्ट उन्हीं की तरह अधिक से अधिक संभाव्य ज्ञान की प्राप्ति है ।	(६) गणित को आदर्श रखने से दर्शन का अभीष्ट पूर्णतः निश्चित, अनिवार्य और सार्वभौम ज्ञान है ।

अनुभववाद का इतिहास

अनुभववाद की उत्पत्ति भी बुद्धिवाद की तरह अत्यन्त प्राचीन है । किन्तु उसके आरंभिक रूप में सभी उपर्युक्त विशेषताओं का पाया जाना संभव नहीं है क्योंकि वे विकसित अनुभववाद के लक्षण हैं । अनुभववाद की आवश्यक मान्यता है कि केवल अनुभव ज्ञान का साधन है और इसको उसके प्राचीन समर्थक भी स्वीकार करते हैं ।

१. पश्चिमी अनुभववाद

(१) प्रोटागोरस

पश्चिमी दर्शन में अनुभववाद के सर्वप्रथम प्रमुख समर्थक प्रोटागोरस (Protagoras, 480 B. C.–410 B. C.) हैं । वे प्राचीन यूनान के प्रसिद्ध दार्शनिक हैं और उन्होंने एक संप्रदाय की स्थापना की है जिसे सोफिस्ट संप्रदाय (Sophist School) कहते हैं । इस संप्रदाय का मत है कि केवल ऐंद्रिय अनुभव या संवेदन (sensation) ही ज्ञान का साधन है । जो इंद्रियों से ग्राह्य है वही ज्ञात हो सकता है । संवेदन व्यक्तिगत होते हैं, सामान्य नहीं । इसलिए सामान्य या सार्वभौम ज्ञान संभव नहीं है ।

इस प्रकार सोफिस्ट लोग संवेदनवाद (Sensationalism) के बड़े उग्र समर्थक हैं।

प्राचीन यूनान का स्टोइक संप्रदाय (Stoic School) भी अनुभववाद का समर्थन करता है। इसकी स्थापना जेनो (Zeno, 342 B C.–270 B. C.) ने की है। यह संप्रदाय भी सभी ज्ञान को अनुभवजन्य मानता है और अनुभव से उसका मतलब ऐंद्रिय अनुभव है। पहले से मन के अंदर कोई ज्ञान नहीं रहता है। इंद्रियों के मार्ग से ही हमारा सारा ज्ञान हमारे मस्तिष्क में प्रवेश करता है।

(२) स्टोइक संप्रदाय

अनुभववाद का पूर्ण विकास लाक, बर्कले और ह्यूम तीन अंग्रेज दार्शनिकों के हाथ सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दियों में हुआ। इस युग का प्रवर्तन लाक ने किया है। लाक के पूर्व बेकन (Francis Bacon, 1561–1626) और हाब्स (Thomas Hobbes, 1588–1679) की रचनाओं में अनुभववाद की ओर झुकाव मिलता है किन्तु ज्ञान-शास्त्रीय सिद्धांत के रूप में स्पष्ट प्रतिपादन का श्रेय लाक को ही ही है।

(३) बेकन, (४) हाब्स और (५) लाक

लाक (John Locke, 1632–1704) के अनुसार ज्ञान का विषय प्रत्यय हैं। प्रत्ययों (ideas) के अतिरिक्त किसी दूसरे पदार्थ का साक्षात ज्ञान हमें नहीं होता है। किन्तु प्रत्यय मात्र को ज्ञान की संज्ञा नहीं दी जा सकती। ज्ञान तो प्रत्ययों के बीच संगति (agreement) या असंगति disagreement) की जानकारी प्राप्त करने को कहते हैं। इस प्रकार प्रत्यय ज्ञान नहीं बल्कि ज्ञान के निर्मायक तत्त्व (Constituent elements) हैं। वे दो प्रकार के होते हैं, सरल (simple) और जटिल

(complex)। जटिल प्रत्यय सरल प्रत्ययों के मिश्रण से बनते हैं। इसलिए ज्ञान के आदि तत्त्व सरल प्रत्यय हैं और उन्हीं का उद्गम ज्ञान का वास्तविक उद्गम है। अतः ज्ञान की उत्पत्ति का मतलब सरल प्रत्ययों की उत्पत्ति ही है। यहां लाक मानते हैं कि केवल अनुभव से सरल प्रत्ययों का ज्ञान होता है। उनका यही मत उन्हें अनुभववादी बना देता है। वे मानते हैं कि अनुभव से प्राप्त प्रत्ययों को निष्क्रिय रूप में बुद्धि सिर्फ ग्रहण करती है। वह आइने की तरह है जो सामने के पदार्थों का प्रतिबिंब ग्रहण करता है। उसकी दशा ऐसी है कि न तो किसी सरल प्रत्यय को उत्पन्न कर सकती है, न अनुभव से मिले को अस्वीकार कर सकती है।

सरल प्रत्ययों का उद्गम होने से अनुभव ही ज्ञान का साधन या प्रमाण है। लाक के अनुसार अनुभव दो प्रकार का होता है, संवेदन (Sensation) और अंतःप्रेक्षण (Reflection)। संवेदन इंद्रियों द्वारा होता है और उससे जो प्रत्यय मिलते हैं वे बाहरी वस्तुओं के गुणों को व्यक्त करते हैं। जितनी इंद्रियाँ (Senses) हैं, उतने संवेदन होते हैं। अंतःप्रेक्षण से आंतरिक निरीक्षण (internal perception) होता है और इससे जो प्रत्यय मिलते हैं वे मनोदशाओं (mental states) जैसे संकल्प, स्मृति, विचार, शंका, आदि को व्यक्त करते हैं। पहले हम संवेदन से प्रत्यय प्राप्त करते हैं और बाद में मनोदशाओं का निरीक्षण करना सीखते हैं। जो भी प्रत्यय मन के अंदर है वह संवेदन या अन्तःप्रेक्षण से मिला हुआ है। इसलिए लाक का कहना है कि मानव मस्तिष्क में कुछ भी ऐसा नहीं है जो पहले अनुभव में, अर्थात अनुभूत नहीं था (Nothing is in the intellect which was not previously in experience)। अतः अनुभव से प्रत्यय के

मिलने के पहले मन की तुलना साफ कागज या स्लेट से (blank tablet, tabula rasa, dark chamber, empty cabinet, white paper, etc) से की जा सकती है। इसका निष्कर्ष है कि कोई प्रत्यय सहज, जन्म-जात या अनुभव-निरपेक्ष नहीं है। प्रत्ययों में कुछ संवेदन से, कुछ अन्तःप्रेक्षण से, और कुछ दोनों के सहयोग से प्राप्त होते हैं। रूप, रंग, आकार, आदि के प्रत्यय केवल संवेदन से, विचार, इच्छा, स्मृति, आदि के केवल अन्तः-प्रेक्षण से और सुख, दुख, शक्ति, अस्तित्व, आदि के दोनों के सह-योग से प्राप्त होते हैं।

पदार्थों में एक शक्ति होती है जिसके द्वारा वे प्रत्यय उत्पन्न करते हैं। इस शक्ति को गुण (quality) कहते हैं। गुण दो प्रकार के होते हैं, मुख्य या मूल (Primary quality) और गौण (Secondry quality)। मुख्य गुण वे हैं जो उनमें वस्तुतः विद्यमान रहते हैं, जैसे ठोसपन (Solidity), विस्तार (Extension), आदि। ये किसी अनुभवकर्त्ता पर निर्भर नहीं करते। इसलिए इनके सूचक प्रत्यय वस्तुओं के यथार्थ रूप के द्योतक होते हैं। गौण गुण वे हैं जो पदार्थों में वस्तुतः विद्यमान नहीं रहते बल्कि उनके मुख्य गुणों द्वारा अनुभवकर्त्ता के अंदर उत्पन्न संवेदन मात्र हैं जैसे रूप (colour), रस (taste), गंध आदि। इनके सूचक प्रत्यय वस्तुओं के यथार्थ रूप के द्योतक नहीं होते क्योंकि ये उनके यथार्थ गुण नहीं हैं। इन्हें लाक ने गौण कहा है और यथार्थ नहीं माना है क्योंकि ये अनुभव पर निर्भर करते हैं जैसे देखने पर रंग, या सूँघने पर गंध, निर्भर है। इस प्रकार लाक के अनुसार वस्तुओं का सीधा ज्ञान नहीं होता बल्कि उनसे उत्पन्न प्रत्ययों के माध्यम से होता है। प्रत्ययों में वे जो मुख्य गुणों के सूचक हैं उनका यथार्थ चित्र प्रस्तुत करते हैं।

सरल प्रत्ययों के मिश्रण से जटिल प्रत्यय (Complex ideas) बनते हैं। यह कार्य बुद्धि करती है और इसमें वह सक्रिय होती है। जटिल प्रत्यय तीन प्रकार के होते हैं : (१) संबंध-प्रत्यय (ideas of relations), (२) प्रकार-प्रत्यय (ideas of modes) और (३) द्रव्य-प्रत्यय (ideas of substances)। सरल प्रत्ययों की तुलना करके संबंध-सूचक प्रत्यय बनाए जाते हैं। कार्य-कारण-भाव (Causal relation), निकटता, दूरी, छोटाई, बड़ाई अदि इसके उदाहरण हैं। प्रकार के प्रत्यय वे हैं जो अपना आश्रय स्वयं न होकर किसी द्रव्य पर आश्रित होने का भाव व्यक्त करते हैं, जैसे कृतज्ञता, सौंदर्य, आदि। द्रव्य के प्रत्यय वे हैं जो गुणों के आश्रय को सूचित करते हैं। द्रव्य गुणों के आश्रय को कहते हैं। द्रव्य का साक्षात ज्ञान या अनुभव नहीं होता बल्कि अनुमान किया जाता है। जब हम देखते हैं कि कुछ गुण सदा एक साथ रहते हैं और उन्हें साथ करनेवाले हम नहीं हैं तो यह अनुमान हम करते हैं कि कोई ऐसा पदार्थ है जिसमें वे आश्रित हैं और उसीमें आश्रित होने के कारण एक साथ हैं। इस आश्रय (Substratum) को द्रव्य कहते हैं। अतः द्रव्य का प्रत्यय अनुभव से नहीं बल्कि अनुमान से मिलता है। लाक ने तीन प्रकार के द्रव्यों को माना है, आत्मा (mental or spiritual substances), भौतिक द्रव्य (material substances), और ईश्वर (God or divine substance)। आत्मा मानसिक गुणों का, भौतिक द्रव्य भौतिक गुणों का, और ईश्वर सारे विश्व का, आश्रय है।

उपर्युक्त विवेचन का सारांश यही है कि लाक के अनुसार ज्ञान-निर्माण में तीन तत्त्व काम करते हैं : (१) अनुभवकर्त्ता या विषयी (Subject), (२) विषय या वस्तु (Object) और (३) प्रत्यय (ideas)। ज्ञान वस्तुओं का होता है। ज्ञान प्राप्त करनेवाला अनुभवकर्त्ता है और ज्ञान का माध्यम प्रत्यय हैं।

प्रत्यय वस्तुओं द्वारा उत्पन्न होते हैं और उन्हें व्यक्त करते हैं। इस लिए उन्हीं के माध्यम से वस्तुओं का ज्ञान होता है और चूँकि प्रत्ययों का ज्ञान अनुभव से होता है इसलिए उसे प्रमाण माना जाता है।

बर्कले (Berkeley) के दर्शन में अनुभववाद लाक की अपेक्षा अधिक उग्र और संगत बनता है। लाक की आलोचना करते हुए

(६) बर्कले

वे कहते हैं कि अनुभवमात्र को प्रमाण मानने पर किसी अननुभूत (non-empirical) पदार्थ को स्वीकार करना असंगत है। लाक ने ऐसी गलती की है क्योंकि उन्होंने भौतिक द्रव्यों को अनुभूत न होने पर भी अनुमान के आधार पर सत्य मान लिया है। दूसरी गलती उनकी है कि उन्होंने गुणों में भेद करके मुख्य गुणों (Primary qualitis) को अनुभव-निरपेक्ष अर्थात अनुभव-कर्त्ता से स्वतंत्र माना है किन्तु यह गलत है। वस्तुओं के सभी गुण अनुभव-सापेक्ष हैं क्योंकि अनुभव से अलग करके उनका कोई अर्थ नहीं होता है। इस प्रकार लाक के गौण गुण ही नहीं बल्कि मुख्य गुण भी अनुभव-कर्त्ता पर निर्भर हैं।

लाक की उक्त त्रुटियों को हटा कर बर्कले अपने अनुभववाद का मंडन करते हैं। वे भी मानते हैं कि (१) केवल अनुभव ज्ञान का साधन है और (२) अनुभव सिर्फ प्रत्ययों का होता है जो वस्तुओं के गुणों को व्यक्त करते हैं। जिसका अनुभव नहीं होता उसे सत्य नहीं कहा जा सकता, इसलिए भौतिक द्रव्य सत्य नहीं है क्योंकि वह अनुभवगम्य नहीं है। प्रत्यय मात्र अनुभूत हैं और वे गुणों को व्यक्त करते हैं, इसलिए सभी पदार्थ गुणों की समष्टि मात्र ह। सभी गुण अनुभव पर निर्भर हैं, इसलिए सभी पदार्थ अनुभव पर आधारित ह (Esse est percipi, existence

of objects depends upon experience) । प्रत्ययों को किसी आश्रय की आवश्यकता है जो उनका अनुभव करता है क्योंकि वे स्वयं अपने को अनुभूत नहीं कर सकते । यह आश्रय अवश्य ही आध्यात्मिक द्रव्य होगा क्योंकि प्रत्यय आध्यात्मिक हैं । यही आत्मा है, और यही प्रत्ययों का अनुभव-कर्त्ता है । प्रत्ययों की तरह उसका अनुभव हमें नहीं होता किन्तु उनके आधार के रूप में उसे स्वीकार करना पड़ता है । प्रत्यय दो तरह के होते हैं, काल्पनिक (imaginery) और वास्तविक (real) । काल्पनिक वे हैं जिन्हें हम खुद अपनी कल्पना-शक्ति से गढ़ डालते हैं । वे हम पर निर्भर हैं, अस्थाई (momentry) होते हैं और सब के लिए एक समान नहीं होते । वास्तविक प्रत्यय वे हैं जो हम पर निर्भर नहीं करते, स्थाई होते हैं, और सब के लिए एक समान होते हैं । उनमें एक तरह की विवशता होती है, जैसे दोपहर में आकाश की ओर जब हम आँख उठाते हैं तो सूर्य को देखना ही पड़ता है । सूर्य का प्रत्यय हम से स्वतंत्र और सभी देखनेवालों के लिए एक समान है । निश्चय ही ऐसे प्रत्ययों का कारण हम नहीं हैं । उनका कारण भी कोई आध्यात्मिक पदार्थ ही हो सकता है जो असीम और सर्व-शक्तिमान है क्योंकि वे अनेक, अटल और सार्वभौम अर्थात सब के लिए समान हैं । यही परमात्मा या ईश्वर है । अतः वास्तविक प्रत्ययों का निर्माता ईश्वर है, वही उन्हें हमको देता है । अनुभव करने का मतलब है कि ईश्वर के अंदर विद्यमान प्रत्ययों को हम ग्रहण करते हैं । हमारे हर वास्तविक अनुभव में ऐसा ही होता है । ऐसे प्रत्ययों की समष्टि को ही वास्तविक ज्ञान कहते हैं । इस प्रकार बर्कले के लिए अनुभव ज्ञान का साधन है किन्तु वह भौतिक पदार्थों का नहीं बल्कि ईश्वरीय प्रत्ययों का अनुभव है ।

ह्यूम (David Hume, 1711—1776) ने अनुभववाद को बर्कले से भी अधिक संगत बनाने की चेष्टा की है जिसका परिणाम

होता है कि उसका उग्रतम रूप उनके दर्शन में मिलता है। लाक और बर्कले की तरह वे भी मानते हैं कि सब ज्ञान अनुभजन्य होता है और अनुभव प्रत्ययों (ideas) का होता है, वस्तुओं का नहीं। प्रत्यय मन की दशा हैं, मन से स्वतंत्र सत्तावाले पदार्थ नहीं। अब चूँकि प्रत्यय ही अनुभूत होते हैं, इसलिए उनका कहना है कि प्रत्ययों के अतिरिक्त कोई पदार्थ, भौतिक या आध्यात्मिक, यथार्थ नहीं माना जा सकता। लाक ने प्रत्ययों के अतिरिक्त जड़ द्रव्य (material substances), आत्मा (self) और ईश्वर (God), तीन प्रकार के द्रव्यों को सत्य माना था। बर्कले ने उनमें से जड़ द्रव्य का वहिष्कार किया क्योंकि उसका अनुभव नहीं होता है किन्तु आत्मा और ईश्वर को उन्होंने रख लिया। ह्यूम का कहना है कि जिस युक्ति से जड़ का वहिष्कार किया गया है उसी से आत्मा और ईश्वर का भी हो जाता है क्योंकि वे भी अनुभवगम्य नहीं हैं। इसलिए द्रव्यों के वहिष्कार का कार्य, जिसे बर्कले ने आरंभ किया था, ह्यूम पूरा करते हैं और कहते हैं कि किसी प्रकार का द्रव्य यथार्थ नहीं है। इस तरह उनके लिए भौतिक द्रव्य, आत्मा, और ईश्वर कोई भी यथार्थ नहीं हैं। द्रव्य उसे कहते हैं जो प्रत्यय नहीं बल्कि प्रत्ययों का आश्रय या अधिष्ठान होता है। ह्यूम के अनुसार ऐसा कोई अधिष्ठान अनुभूत नहीं होता, इसलिए सत्य नहीं माना जा सकता। अतः उनके लिए सिर्फ प्रत्यय यथार्थ हैं क्योंकि उन्हीं का अनुभव होता है। ह्यूम के इस मत को सर्वाहंवाद (Solipsism) कहते हैं। सर्वाहंवाद के अनुसार मन के प्रत्यय मात्र सत्य हैं।

(७) ह्यूम

ह्यूम मानते हैं कि अनुभव के दो अंग है, संवेदन (impressions) और प्रत्यय (ideas)। संवेदन आंतरिक (inner) और बाह्य (outer) दो तरह के होते हैं। वे अधिक तीव्र, सबल और स्पष्ट होते हैं। प्रत्यय संवेदनों की प्रतिलिपि या छाया हैं इसलिए

उनसे क्षीण, निर्बल और कम स्पष्ट होते हैं। संगीत का वास्तविक श्रवण संवेदन है और उसकी स्मृति या कल्पना प्रत्यय है। वास्तविक संगीत निस्संदेह स्मृति या कल्पना के संगीत से अधिक स्पष्ट होता है। प्रत्यय संवेदन से ही उत्पन्न होते हैं, इसलिए जिस पदार्थ के संवेदन नहीं मिलते उनके प्रत्यय भी नहीं हो सकते। संवेदन कहाँ से आते हैं, उनका कारण क्या है, इस तरह के प्रश्न अनुचित (illegitimate) हैं क्योंकि संवेदनों के अतिरिक्त किसी 'कहाँ' या 'कारण' का अनुभव कभी नहीं होता है। यहाँ हम कहेंगे कि संगत अनुभववादी की तरह ह्यूम अनुभव की चहारदीवारी से बाहर जाना उचित नहीं समझते हैं।

ह्यूम का निष्कर्ष

ह्यूम का निष्कर्ष है कि वस्तु-जगत के विषय में सार्वभौम और अनिवार्य ज्ञान संभव नहीं है। इसका कारण है कि ज्ञान का एकमात्र साधन अनुभव है और किसी भी वर्ग के भूत, वर्तमान और भविष्य तीनों काल की वस्तुओं का अनुभव असंभव है। इसलिए वस्तु-जगत के विषय में केवल संभाव्य ज्ञान (probable knowledge) संभव है, बिलकुल निश्चित, अनिवार्य और सार्वभौम नहीं। यही ह्यूम का संदेहवाद (Scepticism) है। ह्यूम के संदेहवाद के विरूद्ध कुछ विचारकों का कहना है कि कार्य-कारण-सिद्धांत (law of causation) के आधार पर कुछ वस्तुओं के अनुभव से ही सब के विषय में अर्थात सार्वभौम निष्कर्ष की स्थापना की जा सकती है। इसके लिए ह्यूम का उत्तर है कि कार्य-कारण-सिद्धांत ही अनुभव से सिद्ध नहीं है। वह मानता है कि कारण के होने पर कार्य का होना अनिवार्य है किन्तु इस तरह की अनिवार्यता कभी अनुभूत नहीं होती। इसलिए कार्य-कारण-सिद्धांत के नियम पर निष्कर्ष निकालना प्रमाण-संगत नहीं है। किन्तु वस्तु-जगत (matters of fact) के अतिरिक्त ज्ञान का

दूसरा क्षेत्र है प्रत्ययों का संबंध (relations of ideas) और उस क्षेत्र में सार्वभौम ज्ञान संभव है। उसमें प्रत्ययों का विश्लेषण करके उनकी गुणवाचकता (connotation) में जो निहित रहता है उसे स्पष्ट किया जाता है। इस क्षेत्र का अध्ययन गणित-विज्ञान करता है। अतः गणित-विज्ञान के विषय में ह्यूम संदेहवादी नहीं हैं।

भारतीय दर्शन में यथार्थ ज्ञान के लिए 'प्रमा' शब्द का प्रयोग होता है। प्रमा के साधन को प्रमाण कहते हैं। प्रमाण का अर्थ (प्रमीयते अनेनेति प्रमाणम्) होता है 'वह जिससे प्रमा की उत्पत्ति होती है।' प्रमाणों की संख्या के विषय में काफी मतभेद है। एक से लेकर ६ प्रमाण तक माने जाते हैं। पश्चिमी अनुभववाद की तरह सिर्फ एक अर्थात अनुभव मात्र को प्रमाण

२. भारतीय अनुभववाद

(१) चार्वाक मत

माननेवाला एक ही मत है चार्वाक दर्शन। उसके अनुसार प्रत्यक्ष (perception) मात्र प्रमाण है, अनुमान, शब्द, आदि अप्रमाण हैं। सत्य और निश्चित ज्ञान प्रत्यक्ष से ही होता है। चूँकि सभी पदार्थों का प्रत्यक्षीकरण संभव नहीं है, इसलिए सार्वभौम ज्ञान संभव नहीं है। और, जिन पदार्थों का प्रत्यक्ष नहीं होता उन्हें सत्य भी नहीं कहा जा सकता। इसलिए शरीर-विरहित आत्मा, पाप, पुण्य, पुनर्जन्म, मोक्ष, स्वर्ग, ईश्वर आदि को चार्वाक मिथ्या मानते हैं क्योंकि उनका प्रत्यक्ष या अनुभव नहीं होता है।

अनुभववाद का मूल्यांकन

इस बात को अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि हमारे ज्ञान के निर्माण में अनुभव का हाथ है। इसलिए अनुभव की प्रमाणता स्वीकार कर अनुभववाद सत्य को अपनाता है। किन्तु जब वह अनुभव मात्र को प्रमाण मानता है और बुद्धि का बहिष्कार करता

है तो बड़ी भारी गलती करता है। (१) इसलिए आलोचकों का कहना है कि अनुभववाद भी बुद्धिवाद की तरह एकांगी (one-sided) है क्योंकि अनुभव को ग्रहण कर बुद्धि का तिरस्कार करता है। (२) उसका दूसरा दोष है कि अनुभव को पूर्ण व्याप्ति में नहीं लेता है बल्कि ऐंद्रिय अनुभव के प्रति पक्षपात करता है। सोफिस्टों से लेकर ह्यूम तक सभी अनुभववादी ऐंद्रिय अनुभव (sense-experience) को अधिक महत्त्वपूर्ण मानते हैं किन्तु यह पक्षपात न्यायोचित नहीं है क्योंकि हमारे अनैंद्रिय अनुभव (non-sensuous experience), जैसे धार्मिक अनुभव, भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं हैं। (३) अनुभववाद आत्म-घातक (self-refuting) सिद्धांत है क्योंकि अपनी असत्यता आप प्रमाणित करता है। वह मानता है कि अनुभव मात्र प्रमाण है किन्तु 'अनुभववाद' तो कोई ऐंद्रिय पदार्थ नहीं है जिसका ऐंद्रिय अनुभव हो सके। वह तो एक सिद्धांत है जिसका बौद्धिक चिंतन हो सकता है। इसलिए ऐंद्रिय अनुभव द्वारा गृहीत न होने से अनुभववाद को अयथार्थ या असत्य मानना चाहिए*। (४) यदि मान भी लिया जाय कि 'अनुभववाद' का अनुभव होता है तो अनुभव विशेषों का, कुछ का, ही संभव है। उसके आधार पर यही कहा जा सकता है कि कुछ उदाहरणों में अनुभववाद सत्य है, यह नहीं कि सदा के लिए सत्य है। इसका मतलब है कि वह संभाव्य सिद्धांत है, निश्चित नहीं। (५) सारे ज्ञान को अनुभवजन्य मानने के लिए सहज ज्ञान-वाद का खंडन आवश्यक है क्योंकि यदि कुछ ज्ञान भी जन्म-जात है तो ज्ञान मात्र को अनुभवजन्य नहीं कहा जा सकता है। इसलिए लाक इसका खंडन करते हैं किन्तु वे सफल नहीं होते क्योंकि वे सहज

---

* "A theory cannot be sensed, and therefore on sensistic premises cannot be known"—J. T. Barron, Elements of Epistemology, Page 69.

ज्ञानवाद को ठीक-ठीक नहीं समझते हैं। वे समझते हैं कि सहज ज्ञानवाद के अनुसार मन में प्रत्यय स्पष्ट या व्यक्त रूप में रहते हैं। इसलिए मन में होने से उनकी चेतना होनी चाहिए और बच्चों, पागलों आदि में इस चेतना का अभाव पाकर वे सिद्ध कर बैठते हैं कि कोई प्रत्यय सहज नहीं है। किन्तु, जैसा कि लाइबनिज ने कहा है, सहजज्ञानवाद के अनुसार प्रत्यय मन में अव्यक्त शक्ति के रूप में रहते हैं जिनकी चेतना उनके स्पष्ट होने पर होती है और स्पष्ट करने के लिए प्रयत्न करना पड़ता है। इसलिए उनकी चेतना का अभाव उनके अस्तित्व के अभाव का सूचक नहीं है। लाक का यह कहना कि किसी प्रत्यय के मन में होने से उसकी चेतना का होना आवश्यक है आधुनिक मनोविज्ञान से भी समर्थित नहीं है। वह बतलाता है कि मन के अंदर अनेक इच्छाएँ, विचार, राग, द्वेष, आदि अचेतन अवस्था में विद्यमान रहते हैं जिनकी चेतना उचित अवसर पर होती है। (६) अनुभववाद मन को मूलतः निष्क्रिय मानता है। उसका यह मत भी आधुनिक मनोविज्ञान की दृष्टि से गलत है। आधुनिक मनोविज्ञान मन को स्वभावतः सक्रिय मानता है और बतलाता है कि छोटी-सी-छोटी क्रिया में भी वह सक्रिय रहता है। अनुभववाद कहता है कि संवेदन (sensation) में मन निष्क्रिय रहता है किन्तु आधुनिक मनोविज्ञान के अनुसंधानों ने सिद्ध किया है कि उसमें भी मन को सक्रिय और चेष्टाशील रहना पड़ता है।

(७) अनुभववाद का चरम विकास ह्यूम के दर्शन में होता है और उसके तीन परिणाम होते हैं : सर्वाहंवाद (Solipsism), (२) मनोवैज्ञानिक परमाणुवाद (Poychological Atomism) और (३) संदेहवाद (Sceptisism)। ये तीनों दोषपूर्ण हैं। (१) सर्वाहंवाद को मानकर ह्यूम कहते हैं कि केवल प्रत्यय सत्य हैं; न आत्मा है जो प्रत्ययों का आश्रय है, न जड़ द्रव्य या ईश्वर जो उन्हें

उत्पन्न करता है। किन्तु हमारी कल्पना में यह प्रवेश नहीं करता कि बिना किसी आश्रय या उत्पन्न करने वाले के प्रत्ययों का अस्तित्व कैसे कायम रह सकता है। हमारा अनुभव कभी भी ऐसा प्रत्यय नहीं देता जो स्वयं अपना आश्रय और उत्पादक हो। (२) ह्यूम मनोवैज्ञानिक परमाणुवाद को मानते हैं क्योंकि उनके अनुसार प्रत्यय मूलतः परमाणुओं की तरह असंबद्ध रहते हैं और बाद में संबंधित होते हैं। किन्तु जब आत्मा ही नहीं है तो उन्हें संबंधित करेगा कौन? ह्यूम कहते हैं कि कुछ नियम हैं जिनके अनुसार वे संबंधित होते हैं। किन्तु नियमों के होने पर भी बिना संबंधित करने वाले के असंबद्ध प्रत्यय संबंधित नहीं हो सकते हैं। मनोवैज्ञानिक परमाणुवाद आधुनिक मनोविज्ञान के भी विरुद्ध है क्योंकि वह मानता है कि संवेदन से प्राप्त प्रत्यय असंबद्ध नहीं बल्कि एक दूसरे से संबंधित रहते हैं। (३) संदेहवाद भी व्यावहारिक और सद्धांतिक दोनों दृष्टियों से अग्राह्य है। व्यवहार के लिए विश्वास आवश्यक है किन्तु संदेहवाद विश्वास को नष्ट करता है। यदि हमें निश्चित ज्ञान नहीं है कि भविष्य में वस्तुओं की प्रकृति आज से मिलती-जुलती रहेगी तो दैनिक जीवन में बड़ी कठिनाई होगी। सैद्धांतिक दृष्टि से संदेहवाद आत्म-घातक है। वस्तु-जगत के विषय में ह्यूम संदेहवादी हैं क्योंकि मानते हैं कि उसके विषय में सार्वभौम ज्ञान संभव नहीं है। इसलिए हम कह सकते हैं कि उनके संदेहवाद की सत्यता भी सार्वभौम नहीं है क्योंकि वह भी वस्तु-जगत के विषय में ही एक प्रकार का ज्ञान है। अतः ह्यूम का यह कहना कि संदेहवाद सदा के लिए ग्राह्य है, उचित नहीं है।

ह्यूम के उक्त तीनों सिद्धान्त अनुभववाद के आवश्यक परिणाम हैं। वे निष्कर्ष हैं और अनुभववाद आधार-वाक्य है। निष्कर्ष अग्राह्य हैं। इसलिए हमारा कहना है कि आधार, अर्थात अनुभववाद ही दोषपूर्ण है जिससे दोषपूर्ण परिणाम उत्पन्न होते हैं।

इक्कीसवाँ अध्याय

(३) समीक्षावाद

समीक्षावाद (Criticism) किसी संप्रदाय के सिद्धांत का नहीं बल्कि एक व्यक्ति-विशेष के मत का नाम है। जर्मनी के प्रख्यात दार्शनिक कांट (Immanuel Kant, 1724–1804) के ज्ञान-शास्त्रीय सिद्धांत के लिए पश्चिमी दर्शन में समीक्षावाद की संज्ञा प्रचलित है। इसको समझने के लिए कांट की दार्शनिक पृष्ठ-भूमि से परिचित होना आवश्यक है। उनके पूर्ववर्ती दार्शनिक साहित्य में ज्ञान की उत्पत्ति के विषय में दो विरोधी मत, बुद्धिवाद और अनुभववाद, प्रचलित थे। बुद्धिवाद का चरम विकास लाइबनिज के दर्शन में और अनुभववाद का ह्यूम में हुआ था। कांट ने इन दोनों सिद्धांतों की समीक्षा कर के अग्राह्य सिद्ध किया है।

समीक्षावाद की पृष्ठ-भूमि

बुद्धिवाद की आलोचना करते हुए वे कहते हैं कि बुद्धि से प्राप्त ज्ञान में नवीनता का अभाव रहता है। बुद्धिवाद सिर्फ बुद्धि को प्रमाण मानता है और कहता है कि सहज प्रत्ययों (innate ideas) का विश्लेषण करके सारे ज्ञान-विज्ञान का निर्माण वह करती है। किन्तु प्रत्ययों के विश्लेषण से हम वही जान सकते हैं जो उनमें पहले से निहित या विद्यमान है, कोई नया ज्ञान नहीं मिल सकता। किन्तु जिस ज्ञान में नवीनता (newness)

बुद्धिवाद और अनुभववाद की कांटीय समीक्षा

का अभाव है, उसे सच्चा ज्ञान नहीं कहा जा सकता । अतः बुद्धि को ज्ञान का साधन स्वीकार करना उचित नहीं है। इसी तरह अनुभववाद की समीक्षा करके कांट बतलाते हैं कि कोरे अनुभव से भी ज्ञान की प्राप्ति नहीं हो सकती । अनुभवजन्य ज्ञान कभी भी सार्वभौम और अनिवार्य नहीं होता क्योंकि किसी वर्ग के सभी पदार्थों का अनुभव संभव नहीं है। किन्तु जो ज्ञान सार्वभौम और अनिवार्य नहीं है उसे भी यथार्थ ज्ञान नहीं कहा जा सकता है । इस प्रकार केवल बुद्धि या केवल अनुभव से ज्ञान की उत्पत्ति नहीं हो सकती, अतः बुद्धिवाद और अनुभववाद दोनों ही ज्ञानोत्पत्ति की व्याख्या करने में असफल हैं। उनकी असफलता एकांगिता (one-sidedness) और हठवादिता (dogmatism) के कारण होती हैं । वे एकांगी हैं क्योंकि केवल बुद्धि या केवल अनुभव को स्वीकार करते हैं और हठवादी (dogmatic) हैं क्योंकि मनुष्य की ज्ञान-शक्ति (faculty of knowledge) के स्वरूप (nature), सीमा (limit), योग्यता (ability), आदि विषयों की परीक्षा किए बिना अपने मत की स्थापना कर डालते हैं। उन सभी सिद्धांतों को कांट हठवाद के अंतर्गत गिनते हैं जो ऐसा करते हैं । उनकी तीसरी गलती है कि दोनों ने गणित के स्वरूप को गलत समझा है। वे मानते हैं कि गणित के वाक्य सार्वभौम और अनिवार्य होते हैं किन्तु उनका संबंध अनुभव-जगत से नहीं है, वे सिर्फ बौद्धिक चिंतन से प्राप्त किए जाते हैं । यही कारण है कि बुद्धिवाद ने अनुभव का बहिष्कार किया और बुद्धि को पर्याप्त समझा क्योंकि उसका आदर्श गणित था। इसके विपरीत अनुभववाद ने बुद्धि का बहिष्कार किया और अनुभव को पर्याप्त समझा क्योंकि उसका आदर्श गणित नहीं बल्कि अनुभव-जगत का ज्ञान था। दोनों के विपरीत कांट का मत है कि गणित के वाक्य सार्वभौम और अनि-

वार्य होने के साथ-साथ अनुभव से भी संबंधित है क्योंकि उनकी स्थापना में अनुभव का सहयोग आवश्यक है।

किन्तु उक्त सिद्धांतों में दोष ही दोष हो, सो बात नहीं है। उनमें सत्य का भी कुछ अंश है और निष्पक्ष आलोचक की तरह कांट उसकी अवहेलना नहीं करते। वे बतलाते हैं कि सत्य का अंश यह है कि बुद्धिवाद का कहना कि बुद्धि से सार्वभौम और अनिवार्य ज्ञान की प्राप्ति होती है, और अनुभववाद का कहना कि अनुभव से नवीन ज्ञान की प्राप्ति होती है, बिलकुल ठीक है। बुद्धि प्रत्ययों का विश्लेषण करके वैसे वाक्यों का निर्माण करती है जिनके विधेय (predicate) में वही बात कही जाती है जो उद्देश्य (subject) में निहित है जैसे 'भौतिक पदार्थ विस्तारपूर्ण होते हैं'। इस वाक्य में 'विस्तारपूर्ण होना' 'भौतिक पदार्थों' की प्रकृति में ही निहित है। ऐसे वाक्यों का सार्वभौम और अनिवार्य होना जरूरी है। इसी तरह पदार्थों के विषय में नई सूचनाएँ अनुभव से मिलती हैं। अनुभव द्वारा ही हम जानते हैं कि 'भौतिक पदार्थ नाशवान होते हैं' क्योंकि 'नश्वरता' 'भौतिक पदार्थों' के प्रत्यय में निहित नहीं है, बल्कि उनके विषय में नवीन विशेषण है।

बुद्धिवाद और अनुभववाद को अग्राह्य बतलाने के बाद कांट के सामने यह प्रश्न आता है कि ज्ञानोत्पत्ति की सच्ची व्याख्या क्या है। इसके लिए वे सर्वप्रथम ज्ञान की परिभाषा देना आवश्यक समझते हैं। उनके अनुसार यथार्थ ज्ञान वैसे वाक्यों की समष्टि है जिसमें सार्वभौमता और अनिवार्यता (universality and necessity) के साथ-साथ नवीनता (newness) भी रहती है। अतः वही ज्ञान वास्तविक ज्ञान है जो सदा के लिए सत्य है और वस्तुओं के विषय में नवीन ज्ञान देता है। जिस वाक्य से

ज्ञान की कांटीय परिभाषा

नवीन ज्ञान मिलता है उसे संयोजक वाक्य (Synthetic judgment) कहते हैं, जैसे 'अग्नि उष्णता का कारण है'। ऐसे वाक्य की विशेषता है कि उसका विधेय उद्देश्य में सन्निहित नहीं रहता है बल्कि उसके विषय में नई सूचना देता है। इसलिए ऐसे वाक्य की स्थापना उद्देश्य के बौद्धिक विश्लेषण से नहीं बल्कि वस्तु-जगत में उसके वास्तविक निरीक्षण से होती है। अनुभव करके ही कहा जा सकता है कि अग्नि से उष्णता उत्पन्न होती है। सार्वभौम और अनिवार्य वाक्य की विशेषता है कि वह अनुभूत और अननुभूत (experienced and non-experienced) सब के विषय में सत्य होता है। उक्त वाक्य सार्वभौम और अनिवार्य है क्योंकि अग्नि से उष्णता का उत्पन्न होना अग्नि और उष्णता के अनुभूत उदाहरणों के ही लिए नहीं बल्कि सब के लिए सत्य है। ऐसे वाक्यों को अनुभव-निरपेक्ष (independent of experience) या प्रागनुभविक (a priori) कहते है क्योंकि उनका क्षेत्र (field) या प्रयोग (application) अनुभव द्वारा सीमित नहीं है। इसलिए अब हम कह सकते हैं कि **कांट के अनुसार ज्ञान प्रागनुभविक संयोजक वाक्यों की समष्टि (a system of synthetic a priori judgments)** है। इसका मतलब है कि सिर्फ प्रत्यय जैसे अग्नि, उष्णता, आदि को ज्ञान नहीं कहा जा सकता। ज्ञान के लिए उन्हें वाक्यबद्ध होना पड़ेगा। वाक्यों में भी वियोजक वाक्य (analytical judgment) को ज्ञान नहीं कह सकते क्योंकि उससे नवीन ज्ञान नहीं मिलता। 'त्रिभुज में तीन रेखाएँ होती है'—यह वियोजक वाक्य है। इसका विधेय उद्देश्य की गुणवाचकता (connotation) का विश्लेषण भर कर देता है, कोई नया ज्ञान नहीं देता। इसलिए सिर्फ संयोजक वाक्यों को ही ज्ञान की संज्ञा दी जा सकती है। किन्तु उनमें भी सिर्फ उन्हीं को जो सार्वभौम और अनिवार्य होते

हैं। 'कुछ गुलाब लाल हैं'—यह वाक्य संयोजक है किन्तु सार्वभौम नहीं, इसलिए कांट की परिभाषा के अनुसार इसकी गिनती यथार्थ ज्ञान के अंतर्गत नहीं हो सकती।

ज्ञान की परिभाषा तो कांट ने कर दी। किन्तु अब प्रश्न उठता है कि इस प्रकार का ज्ञान संभव (possible) है या कपोल-कल्पना मात्र है। ह्यूम ने कहा था कि ऐसा ज्ञान संभव नहीं है किन्तु कांट उसे संभव मानते हैं। इसके लिए उनका तर्क है कि सार्वभौम, अनिवार्य और नवीनतापूर्ण ज्ञान गणित-विज्ञान, भौतिक विज्ञान आदि के क्षेत्र में वस्तुतः पाया जाता है, अतः वह वास्तविक (actual) है। इसलिए संभव होगा ही क्योंकि जो संभव है वही वास्तविक हो सकता है, असंभव कभी वास्तविक नहीं हो सकता। कांट की धारणा है कि गणित, भौतिक-विज्ञान, आदि के निष्कर्ष वस्तुतः सार्वभौम होते हैं क्योंकि उनके आधार पर भविष्य के विषय में जो कहा जाता है वह सत्य उतरता है और उनसे हमारे ज्ञान की वास्तविक वृद्धि भी होती है।

ज्ञान की संभावना

ज्ञान की परिभाषा और संभावना निर्दिष्ट कर लेने के बाद उसकी उत्पत्ति का प्रश्न आता है। उसकी उत्पत्ति का मतलब है कि अनुभव-निरपेक्ष संयोजक वाक्य कैसे निर्मित (How synthetic a priori judgments are formed) होते हैं। हम जानते हैं कि ऐसे ज्ञान की दो विशेषताएँ हैं (१) सार्वभौमता और अनिवार्यता और (२) नवीनता। हमने देखा है कि बुद्धि से सार्वभौमता और अनिवार्यता मिलती है और अनुभव से नवीनता। इसलिए ज्ञान की उत्पत्ति किसी एक से नहीं बल्कि बुद्धि और अनुभव दोनों की सम्मिलित क्रिया से हो सकती है। यही

ज्ञान की उत्पत्ति : समीक्षावाद

कांट का ज्ञान के उत्पत्तिविषयक प्रश्न का समाधान है। इसे समीक्षावाद (criticism) कहते हैं। इसके अनुसार ज्ञान प्रदान करने की क्षमता बुद्धि और अनुभव में अकेले किसी को नहीं है, उसके लिए दोनों का सहयोग आवश्यक है और दोनों की महत्ता समान है। कांट ने अपने सिद्धांत को समीक्षावाद कहा है क्योंकि ज्ञान की संभावना, सीमा, उसका स्वरूप, मानवी ज्ञान-शक्ति की क्षमता, आदि विषयों का विवेचन कर लेने के बाद ज्ञान की उत्पत्ति के विषय में उन्होंने अपना मत दिया है। इसके विपरीत बुद्धिवाद और अनुभववाद को उन्होंने हठवाद (Dogmatism) की संज्ञा दी है क्योंकि उनके प्रतिपादकों ने उपर्युक्त विषयों की परीक्षा बिना किए ही अपने सिद्धांत का प्रतिपादन कर डाला है। पश्चिमी दर्शन के इतिहासकारों ने कांटीय सिद्धांत को इसलिए भी समीक्षावाद कहा है कि बुद्धि और अनुभव के अन्तर को समझ कर उनके गुण-दोष की परीक्षा कर के निष्पक्ष समीक्षक की तरह ज्ञानोत्पत्ति में उनकी उचित देन को कांट स्वीकार करते हैं। उनका समीक्षावाद बुद्धिवाद और अनुभववाद की एकांगिता से ऊपर उठकर ऐसा सिद्धांत प्रस्तुत करने की चेष्टा करता है जो उनके असत्य अंशों को त्याग कर सत्य अंशों का समन्वय कर सके।

ज्ञान का वास्तविक निर्माण

ज्ञानोत्पत्ति के लिए अनुभव और बुद्धि को समानतः अनिवार्य सिद्ध करने के बाद इस बात की व्याख्या आवश्यक हो जाती है कि उनकी संयुक्त क्रिया से ज्ञान का वास्तविक निर्माण कैसे होता है। इस व्याख्या के लिए ज्ञान की रचना में कांट विषय (matter) और रूप या आकार (form) का भेद करते हैं। सभी ज्ञान में विषय और आकार दोनों का होना अनिवार्य है। अब अनुभव और बुद्धि का सहयोग इस प्रकार होता है कि अनुभव से

ज्ञान का विषय मिलता है और बुद्धि से आकार। बुद्धि के अंदर कुछ जन्म-जात, अनुभवनिरपेक्ष धारणाएँ (categories) हैं जिनके अनुसार अनुभव से प्राप्त विषयों को संबंधित कर वह आकारबद्ध करती है। इस प्रकार कांट हमारी ज्ञान-शक्ति (faculty of knowledge) को दो भागों में बाँटते हैं। एक को संवेदन-शक्ति (Sensibility or Intuitive faculty) और दूसरे को बुद्धि (Understanding) कहते हैं। संवेदन-शक्ति का कार्य ज्ञान के लिए विषय प्रस्तुत करना है। ये विषय संवेदन (Sensations or Intuitions) हैं। संवेदनों को वह कहीं बाहर से पाती है, अपने अंदर से उत्पन्न नहीं करती। उनको ग्रहण करने में वह अंशतः निष्क्रिय (passive) और अंशतः सक्रिय (active) रहती है। निष्क्रिय इसलिए कि उन्हें उत्पन्न नहीं करती है और सक्रिय इसलिए कि जैसा वे हैं उसी रूप में उन्हें नहीं ग्रहण करती है। संवेदन-शक्ति के अंदर दो जन्म-जात या अनुभव-निरपेक्ष आकार (a priori forms) हैं जिन्हें देश (Space) और काल (Time) कहते हैं; सभी संवेदनों को वह उन्हीं के माध्यम से ग्रहण करती है। आँखों पर हरा चश्मा डाल लेने से सभी चीजें हरी दीखती हैं, उसी तरह संवेदन-शक्ति के दो चश्मे हैं देश और काल जिनके कारण संवेदनों को वह दैशिक और कालिक रूप में देखती है। देश और काल से अलग कर के किसी पदार्थ को देखना उसके लिए असंभव है क्योंकि उनके माध्यम से देखना उसके लिए स्वभावगत है। इसका मतलब है कि देश-काल संवेदन-शक्ति से अलग या उसके बाहर नहीं हैं, वे अनुभव का विषय (objeet) नहीं बल्कि साधन (means) ह। इसलिए कोई पदार्थ यथार्थतः देश और काल में नहीं है क्योंकि वे बाहरी विश्व में नहीं बल्कि संवेदन-शक्ति के अंदर हैं, किन्तु सभी पदार्थों का संवेदन या अनुभव देश-काल में होता है।

संवेदन ज्ञान के उपादान या विषय (matter) हैं किन्तु कोरे संवेदन को ज्ञान नहीं कहा जा सकता। अपने आप में वे असंबद्ध रहते हैं क्योंकि संवेदन-शक्ति उन्हें संबंधित या व्यवस्थित नहीं करती है। किन्तु ज्ञान की संज्ञा देने के लिए उन्हें संबंधित करना अनिवाय है। यह कार्य बुद्धि करती है। संवेदन-शक्ति से प्राप्त असंबद्ध संवेदनों में संबंध स्थापित कर पहले वह निर्णयों या वाक्यों का निर्माण करती है और तब उन वाक्यों को संबद्ध करके समष्टि (system) का रूप देती है। इसलिए बुद्धि के अंदर कांट दो शक्तियों को मानते हैं जिन्हें शुद्ध बुद्धि (Pure Understanding) और प्रज्ञा (Reason) कहते है। शुद्ध बुद्धि संवेदनों से निर्णय बनाती है। निर्णय बनाने के लिए उन्हें संबंधित करना आवश्यक है क्योंकि निर्णय में उद्देश्य (subject) और विधेय (predicate) के बीच संबंध स्थापित किया जाता है। संवेदन शुद्ध बुद्धि को संवेदन-शक्ति से मिलते हैं, उन्हें स्वयं प्राप्त करने या उत्पन्न करने की क्षमता उसमें नहीं है। उसके अंदर कुछ जन्म-जात धारणाएँ (a priori categories) हैं जिनके द्वारा संवेदनों को भिन्न-भिन्न रूप में वह संबंधित करती है। ये धारणाएँ भी देश-काल की तरह अनुभव-निरपेक्ष हैं और बुद्धि के बाहर उनकी सत्ता नहीं है। उनकी संख्या बारह है: (१) संपूर्णता (Totality), (२) अनेकता (Plurality), (३) एकता (Unity), (४) भाव (Reality), (५) अभाव (Negation), (६) सीमितभाव (Limitation), (७) द्रव्य-गुण-भाव (Substantiality and Inherence), (८) कार्य-कारण-भाव (Causality and Dependence), (९) परस्परा-श्रय-भाव (Reciprocity), (१०) संभावना (Possibility), (११) वास्तविकता (Actuality) और (१२) अवश्यंभाविता

(Necessity)। ये बारह प्रकार के संबंध या साँचे हैं जिनमें संवेदनों को डालकर संबंधित किया जाता है। पहले हमने एक उदाहरण लिया था--अग्नि उष्णता का कारण है। इस वाक्य में अग्नि और उष्णता विषय (matter) हैं जिनके सवेंदन संवेदन-शक्ति द्वारा प्राप्त होते हैं। इन संवेदनों में शुद्ध बुद्धि कार्य-कारण का संबंध स्थापित करती है जिससे उन्हें वर्तमान वाक्यबद्ध रूप मिलता है। इस संबंध की स्थापना के लिए वह कार्य-कारण-भाव की अपनी अनुभव-निरपेक्ष धारणा का उपयोग करती है। इसी प्रकार विभिन्न धारणाओं के प्रयोग से विभिन्न पकार के वाक्य बनते हैं।

उपर्युक्त विवेचन का निष्कर्ष होता है कि सिर्फ संवेदन या सिर्फ बौद्धिक धारणा से कोई वाक्य नहीं बन सकता। बिना संवेदन के बौद्धिक धारणाएँ खोखले साँचे (empty framework) की तरह हैं और बिना धारणाओं के संवेदन असंबद्ध और अव्यवस्थित हैं। अतः दोनों के सहयोग से ही निर्णय (judgments) बनते हैं। किन्तु निर्णयों के निर्माण से ही ज्ञान की इमारत तैयार नहीं हो जाती। उसके लिए निर्णयों को संबंधित करना पड़ता है। यह काम प्रज्ञा (Reason) का है। उसके अंदर तीन अनुभव-निरपेक्ष प्रत्यय हैं: विश्व (Cosmos), आत्मा (Self) और ईश्वर (God)। इन्हें कांट प्रज्ञा के प्रत्यय (Ideas of Reason) कहते हैं। इनकी भी वही स्थिति है जो अन्य अनुभव-निरपेक्ष आकारों (a priori forms) की है। प्रज्ञा शुद्ध बुद्धि से मिले निर्णयों का वर्गीकरण करती है और उनमें संबंध स्थापित करके अपने उक्त प्रत्ययों के अन्तर्गत लाकर उन्हें समष्टि का रूप देती है। इस तरह विश्व प्रत्यय के अन्तर्गत निर्णयों को व्यवस्थित करने से विश्व-विज्ञान (Cosmology), आत्मा के अंदर करने से मनो-

विज्ञान (Psychology), तथा ईश्वर के अंदर करने से ईश्वर-विज्ञान (Theology) का निर्माण होता है। यही मानवी बुद्धि की चरम उपलब्धि (highest achievement) है।

उपर्युक्त तरीके से प्राप्त ज्ञान में नवीनता और सार्वभौमता दोनों हैं। नवीनता इसलिए कि उसका विषय संवेदन है जो अनुभव से प्राप्त होता है, और सार्वभौमता इसलिए कि उसके निर्माण में बुद्धि के अनुभव-निरपेक्ष आकार काम करते हैं। ये आकार सभी मनुष्यों के अंदर विद्यमान हैं क्योंकि मानवी बुद्धि की बनावट में ही निहित हैं। यही कारण है कि उनके आधार पर निर्मित ज्ञान सबके लिए सत्य होता है।

समीक्षावाद का परिणाम--अज्ञेयवाद

समीक्षावाद का परिणाम अज्ञेयवाद (Agnosticism) होता है। वह मानता है कि ज्ञान का एकमात्र विषय संवेदन हैं। संवेदन अपने आप में देश-काल के बाहर हैं किन्तु संवेदन-शक्ति उन्हें देश-काल के माध्यम से ग्रहण करती है। इसका मतलब है कि संवेदन-शक्ति संवेदनों के यथार्थ रूप को ग्रहण नहीं करती। किन्तु संवेदनों के अतिरिक्त वस्तुओं के ज्ञान का अन्य कोई मार्ग नहीं है। इसलिए यह निश्चित है कि वस्तुओं के यथार्थ रूप का ज्ञान संभव नहीं है। इसी निष्कर्ष को कांट इस प्रकार व्यक्त करते हैं कि यथार्थ वस्तुएँ (Noumena or things-in-themselves) अज्ञेय हैं, ज्ञान सिर्फ प्रतीतियों (Phenomena or things as they appear to us) का संभव है। हम वस्तुओं को उनके वास्तविक रूप में नहीं बल्कि उस रूप में जानते हैं जिस रूप में वे हमारी संवेदन-शक्ति को प्रतीत होती हैं।

समीक्षावाद का मूल्यांकन

बुद्धिवाद और अनुभववाद का समन्वय

हमने पहले भी कहा है कि कांट का समीक्षावाद बुद्धिवाद और अनुभववाद का समन्वय (Synthesis) प्रस्तुत करने की चेष्टा करता है। वस्तुतः कुछ विषयों में उनका समन्वय वह करता भी है। वे यों हैं : (१) अनुभववाद सिर्फ अनभव को ज्ञान का साधन मानता है और बुद्धिवाद सिर्फ बुद्धि को। किन्तु समीक्षावाद अनुभव और बुद्धि दोनों की देन को स्वीकार कर उक्त सिद्धांतों की एकांगिता को दूर करता है। (२) बुद्धिवाद के लिए ज्ञान में कुछ भी अनुभवजन्य नहीं है और अनुभववाद के लिए उसमें कुछ भी बुद्धिजन्य अर्थात जन्म-जात नहीं है। किन्तु समीक्षावाद के अनुसार ज्ञान में अनुभवजन्य और बुद्धिजन्य दोनों प्रकार के तत्त्व हैं। उसका विषय (matter) अनुभवजन्य है और रूप (form) बुद्धिजन्य क्योंकि अनुभव से प्राप्त विषय (संवेदनों) को बुद्धि ही रूप देती है या आकारबद्ध करती है। (३) बुद्धिवाद बुद्धि को मूलतः क्रियाशील मानता है और अनुभववाद मूलतः निष्क्रिय। किन्तु समीक्षावाद उसे अंशतः क्रियाशील और अंशतः निष्क्रय मानता है। वह कहता है कि बुद्धि क्रियाशील है किन्तु उसकी क्रियाशीलता तभी जाग्रत होती है जब वातावरण से अनुभव द्वारा संवेदन प्राप्त होते हैं और संवेदनों को प्राप्त करने में उसका सक्रिय योग रहता है। (४) ज्ञान के आदर्श के विषय में बुद्धिवाद सार्वभौमता और अनिवार्यता पर जोर देता है और अनुभववाद उसकी नवीनता पर। किन्तु समीक्षावाद सार्वभौमता, अनिवार्यता तथा नवीनता सबको आवश्यक मानता है।

अपनी समन्वयपूर्ण दृष्टि के कारण समीक्षावाद बुद्धिवाद (Rationalism) और अनुभववाद (Empiricism) से अधिक उपयुक्त जान पड़ता है। यह सत्य भी है। किन्तु इससे उसे बिलकुल दोषरहित समझ लेना ठीक नहीं होगा। कांट के लिए यथार्थ ज्ञान सार्वभौम, अनिवार्य तथा नवीन होता है और ऐसा ज्ञान गणित, भौतिक विज्ञान, आदि के क्षेत्र में वस्तुतः विद्यमान है। (१) किन्तु आधुनिक युग के अधिकांश विज्ञान-वेत्ताओं का कहना है कि यहाँ कांट गलत हैं। भौतिक विज्ञान (Physics) के विषय में करीब-करीब सभी स्वीकार करते हैं कि उसके निष्कर्ष सार्वभौम और अनिवार्य नहीं होते क्योंकि भविष्य में उनके असत्य होने की संभावना सदा बनी रहती है। गणित के निष्कर्ष सार्वभौम और अनिवार्य होते हैं किन्तु गणित-शास्त्रियों का कहना है कि वे अनुभव-सापेक्ष नहीं होते, अतः उनके लिए अनुभव या संवेदन अपेक्षित सहीं है। इसलिए कहा जा सकता है कि विज्ञानों के स्वरूप के विषय में कांट का मत सत्य नहीं है। इसका मतलब है कि उनका जो आदर्श ज्ञान है वह वास्तविक नहीं है। किन्तु ऐसा होने पर उनका सारा सिद्धांत ही बेकार हो जाता है। (२) कांट ने यह भी माना है कि संवेदन, जो ज्ञान के विषय हैं, अनुभव से असंबद्ध रूप में प्राप्त होते हैं। किन्तु जेम्स (William James) जैसे कुछ आधुनिक दार्शनिक बतलाते हैं कि संवेदन संबंधित रूप में ही अनुभूत होते है। जब किसी पदार्थ का अनुभव होता है तो औरों के साथ उसके संबंध भी अनुभूत होते हैं जैसे अग्नि का अनुभव होने पर उष्णता, इंधन, आदि से उसके संबंध का अनुभव भी स्वाभाविक है। (३) समीक्षावाद का परिणाम अज्ञेयवाद (Agnosticism) होता है।

समीक्षावाद की त्रुटियाँ

किन्तु अज्ञेयवाद विरोधपूर्ण (contradictory) हैं। वह मानता है कि यथार्थ वस्तुएँ अज्ञेय (unknowable) हैं। किन्तु ऐसा कहना विरोधपूर्ण है क्योंकि जो वस्तुत: अज्ञेय है उसे अज्ञेय कहा भी नहीं जा सकता। 'वह अज्ञेय है' कहने का मतलब होगा कि उसके विषय में इतना ज्ञान है कि वह अज्ञेय है। इसलिए अज्ञेयवाद आत्म-घातक सिद्धांत है क्योंकि किसी के अज्ञेय होने पर अज्ञेय कहा नहीं जा सकता। (४) अज्ञेयवाद के चलते कांट के समीक्षावाद में अन्तर्विरोध पाया जाता है। एक तरफ वे कहते हैं कि यथाथ वस्तुएं (things-in-themselves) अज्ञेय हैं और दूसरी ओर कहते हैं कि वे हमारे संवेदनों के कारण हैं। इसका मतलब है कि इतना ज्ञान अवश्य है कि वे संवेदनों के कारण हैं। इसलिए उन्हें 'अज्ञेय' और 'संवेदनों का कारण' दोनों एक साथ नहीं कहा जा सकता और ऐसा कह कर कांट अपने दर्शन में अंतर्विरोध (inner contradiction) लाते हैं। (५) कांट मानते हैं कि हमारी ज्ञान-शक्ति (faculty of knowledge) में कुछ अनुभव-निरपेक्ष आकार हैं जिनके प्रयोग से सार्वभौम और अनिवार्य ज्ञान की प्राप्ति होती है। यहाँ प्रश्न होता है कि इन आकारों के अस्तित्व का ज्ञान हमें कैसे होता है? इसका कोई उपयुक्त उत्तर कांट नहीं देते हैं। वस्तुत: इस ओर उन्होंने विशेष ध्यान नहीं दिया है*। (६) अनभव-निरपेक्ष आकारों को मान लेने से भी सार्वभौम ज्ञान की प्राप्ति निश्चित नहीं होती। विकासवाद बतलाता है कि मनुष्य की ज्ञान-शक्ति विकासशील अर्थात परिवर्तनशील है। इसलिए यदि भविष्य में वह परिवर्तित हो जाय और उसके साथ उसके

---

* देखिए——
Introduction to Philosophy by Paulsen, P. 400.

अनुभव-निरपेक्ष आकार भी बदल जायँ तो भविष्य में प्राप्त ज्ञान आज से भिन्न हो जायगा जिससे आज का ज्ञान भविष्य में सत्य नहीं रहेगा, अतः उसे सार्वभौम नहीं कहा जा सकता। कांट के बताए तरीके से तभी सार्वभौम ज्ञान मिल सकता है जबकि ज्ञान-शक्ति को बिलकुल अपरिवर्तनशील मान लिया जाय किन्तु वैसा मानने के लिए कांट के पास कोई प्रमाण नहीं है और वैसा मानना भी आधुनिक विकासवाद के विरुद्ध ही होगा। किन्तु विकासवाद एक सुप्रतिष्ठित वैज्ञानिक मत है जिसकी अवहेलना नहीं होनी चाहिए।

बाईसवाँ अध्याय

ज्ञाता और ज्ञेय का संबंध

(१) प्रत्ययवाद

प्रत्ययवाद : ज्ञान-शास्त्रीय और तत्त्व-शास्त्रीय

पिछले अध्यायों में प्रत्ययवाद (Idealism) की चर्चा हमने तत्त्व-शास्त्रीय (ontological) सिद्धांत के रूप में की है। इसलिए ज्ञान-शास्त्रीय प्रत्ययवाद (Epistemological Idealism) से उसका अंतर बतला देना आवश्यक है। तत्त्वशास्त्रीय प्रत्ययवाद मूल तत्त्व के प्रकृत्ति-विषयक प्रश्न का एक विशिष्ट उत्तर है जिसके अनुसार उसकी प्रकृति चेतन और अभौतिक है। उसका विरोधी सिद्धांत भौतिकवाद है जो मूल तत्त्व को अचेतन और भौतिक मानता है। किन्तु ज्ञान-शास्त्रीय प्रत्ययवाद ज्ञाता और ज्ञेय के संबंध-विषयक प्रश्न का उत्तर है जो मानता है कि ज्ञेय ज्ञाता पर निर्भर या आधारित है। इसका विरोधी सिद्धांत वस्तुवाद (Realism) है जो ज्ञेय को ज्ञाता से स्वतंत्र मानता है। तत्त्व-शास्त्रीय प्रत्ययवाद से ज्ञान-शास्त्रीय प्रत्ययवाद का संबंध ऐसा है कि ज्ञान-शास्त्रीय प्रत्ययवाद को स्वीकार करने पर तत्त्व-शास्त्रीय प्रत्ययवाद को स्वीकार करना अनिवार्य है किन्तु तत्त्व-शास्त्रीय प्रत्ययवाद को स्वीकार करने पर ज्ञानशास्त्रीय प्रत्ययवाद को स्वीकार करना अनिवार्य नहीं है। जब हम मानते हैं कि ज्ञेय अर्थात ज्ञान का विषय ज्ञाता पर निर्भर है तो उसका मतलब है ज्ञाता ही सब पदार्थों का आधार है,

अतः वही परमार्थ तत्त्व है। किन्तु ज्ञाता चेतन है, इसलिए निष्कर्ष होता है कि परमार्थ तत्त्व चेतन है। यह तत्त्व-शास्त्रीय प्रत्ययवाद है। अतः जो दार्शनिक ज्ञान-शास्त्रीय प्रत्ययवाद से आरंभ करते हैं वे तत्त्व-शास्त्रीय प्रत्ययवाद के समर्थक हो ही जाते हैं। इसका उदाहरण बर्कले का दर्शन है। किन्तु तत्त्व-शास्त्रीय प्रत्ययवाद से आरंभ करने पर ऐसी कोई अनिवार्यता नहीं है। यदि हम मानते हैं कि सारा विश्व चेतन या आध्यात्मिक है तो इसके साथ यह मानने में कोई असंगति नहीं है कि ज्ञाता पर ज्ञेय निर्भर नहीं है, अर्थात उससे स्वतंत्र है। कई विचारक हैं जो ऐसा मानते हैं जैसे प्लेटो (Plato), शंकर, आदि। उसी तरह तत्त्व-शास्त्रीय प्रत्ययवाद को स्वीकार करने पर ज्ञान-शास्त्रीय प्रत्ययवाद को स्वीकार करने में भी अर्थात यह कहने में कि ज्ञाता पर ज्ञेय निर्भर है कोई असंगति (inconsistency) नहीं है। आधुनिक युग में कई पश्चिमी दार्शनिकों ने वस्तुतः ऐसा किया है।

ज्ञान-शास्त्रीय प्रत्ययवाद की सामान्य विशेषताएँ

इस अध्याय में ज्ञान-शास्त्रीय प्रत्ययवाद का विवेचन हम करेंगे क्योंकि तत्त्व-शास्त्रीय प्रत्ययवाद का विवेचन पहले ही हो चुका है। इसलिए अन्यथा सूचित न करने पर प्रत्ययवाद से वर्तमान अध्याय में हर जगह ज्ञान-शास्त्रीय प्रत्ययवाद ही समझना चाहिए।

ज्ञान-शास्त्रीय प्रत्ययवाद मानता है कि ज्ञाता (Knower or Subject) और ज्ञेय (object of knowledge) में ऐसा संबंध है कि ज्ञाता से स्वतंत्र (independent) या असंबद्ध (unrelated) होने पर ज्ञेय का अस्तित्व कायम नहीं रह सकता। अतः ज्ञाता के साथ संबंध रखना उसके लिए अनिवार्य है क्योंकि उसी संबंध पर उसका अस्तित्व (existence) निर्भर है। प्रत्ययवाद

का कहना है कि ज्ञाता से स्वतंत्र करके ज्ञेय की कल्पना संभव नहीं है । इस सिद्धांत की मान्यता है कि ज्ञान (Knowledge) परमार्थ (ultimate) है। इसका अर्थ है कि ज्ञान की परिधि को पार करना संभव नहीं है, इसलिए हम जो भी कथन करेंगे वह उसकी सीमा के अंदर ही। इसका परिणाम होता है कि अज्ञात और अज्ञेय के विषय में किसी प्रकार की चर्चा संभव नहीं है, वह हमारे लिए नहीं के बराबर है । इस प्रकार ज्ञान हमारे चिंतन की सीमा है । ज्ञान में ज्ञाता और ज्ञेय के बीच संबंध स्थापित होता है। यह संबंद्ध ऐसा है कि ज्ञेय सदा ज्ञाता से संबंधित रहता है। इसका प्रमाण अनुभव है। जब कभी किसी पदार्थ का अनुभव या ज्ञान होता है तो ज्ञाता से संबंधित करके ही । अतः ज्ञाता से असंबद्ध पदार्थ से कभी हमारा संपर्क नहीं होता। इस-लिए ज्ञाता से पदार्थों की स्वतंत्रता या संबंधहीनता असत्य है क्योंकि कभी उसका ज्ञान संभव नहीं है और जिसका ज्ञान संभव नहीं है उसे हम सत्य नहीं मान सकते क्योंकि ज्ञान ही हमारी सीमा है । किसी पदार्थ को ज्ञाता से स्वतंत्र तभी कहा जा सकता है जब कि ज्ञाता से स्वतंत्र अर्थात असंबद्ध करके उसका ज्ञान मिल सके किन्तु यह बिलकुल असंभव है।

प्रत्ययवाद आम जनता का सिद्धांत नहीं है । साधारण मनुष्य वस्तुवादी (Realistic) होता है। वह मानता है कि जिन वस्तुओं का ज्ञान उसे होता है वे उसके मन पर, अर्थात ज्ञाता पर, निर्भर नहीं हैं । यदि किसी हलवाहे से कोई कहे कि उसके हल-बैल उसके मन पर निर्भर हैं तो वह कहनेवाले को पागल ही समझेगा । किन्तु जब मनुष्य अपने ज्ञान के स्वरूप पर चिंतन करने लगता है तो उसे ज्ञेय पदार्थों की स्वतंत्रता पर

शंका होने लगती है। एक ही छड़ी जमीन पर सीधी और पानी में टेढी लगती है; एक ही वृक्ष नजदीक से बड़ा लगता है और दूर से छोटा। अब यदि उक्त वस्तुएँ ज्ञाता से स्वतंत्र हैं तो उनकी प्रतीतियों में भिन्नता क्यों आती है ? इस कठिनाई के सामने मनुष्य का स्वभाविक वस्तुवाद डगमगाने लगता है। ऐसी कठिनाइयों को दूर करने के लिए सोचते-सोचते वह कभी-कभी प्रत्ययवाद की स्थापना कर डालता है और प्रत्ययवाद का दावा है कि उसे स्वीकार करने से ऐसी कठिनाइयाँ नहीं पैदा होतीं। उसका कहना है कि जब वस्तुओं का अस्तित्व ज्ञाता पर निर्भर है तो एक ही वस्तु का भिन्न-भिन्न ज्ञाताओं को या भिन्न दिशाओं म एक ही ज्ञाता को भिन्न-भिन्न रूप में प्रतीत होना आश्चर्यजनक नहीं है। जब ज्ञाता भिन्न हैं तो ज्ञेय का, जो उनपर निर्भर है, भिन्न होना स्वाभाविक है।

प्रत्ययवाद के उदाहरण: (१) पश्चिमी प्रत्ययवाद

पश्चिमी दर्शन में प्रत्ययवाद का सर्वप्रथम स्पष्ट उदाहरण वर्कले (Berkeley) के दर्शन में मिलता है। हम देख चुके हैं कि वे अनुभववादी हैं, अतः मानते हैं कि अनुभव ही ज्ञान का साधन है। किन्तु अनुभव सिर्फ गुणों का होता है, गुणों के अतिरिक्त किसी गुणातीत द्रव्य (Substance) या आश्रय का नहीं। इसलिए सभी पदार्थ गुणों के समूह मात्र हैं। किसी भी पदार्थ में गुणों के अतिरिक्त हम कुछ नहीं पाते जैसे पुष्प में सुगंध, रंग, चिकनाहट आदि गुणों के अतिरिक्त कुछ नहीं अनुभूत होता है। किन्तु गुण अनुभवकर्त्ता या ज्ञाता पर निर्भर करते हैं जैसे सूँघने पर सुगंध, देखने पर रंग, छूने पर चिकनाहट इत्यादि। इसलिए सभी पदार्थ अनुभवकर्त्ता पर निर्भर हैं क्योंकि वे गुणों के समूह हैं। इस निष्कर्ष को वर्कले ने अपनी प्रसिद्ध उक्ति Esse est percipi द्वारा व्यक्त किया है जिसका

अर्थ होता है कि विश्व के सभी पदार्थ अपने अस्तित्व के लिए किसी अनुभवकर्त्ता पर निर्भर करते हैं।*

पश्चिमी प्रत्ययवाद की प्रगति आधुनिक युग में बहुत हुई है। आधुनिक प्रत्ययवादियों में ग्रीन (T. H. Green), केयर्ड (Edward Caird), ब्रैडले (F. H. Bradley), जोएकीम (Joachim), आदि प्रमुख हैं। किन्तु यहाँ पर अलग-अलग न देकर सामुहिक रूप में उनके सिद्धांतों का संक्षिप्त विवरण हम करेंगे क्योंकि यहाँ हमारा उद्देश्य प्रत्ययवाद के सामान्य रूप का ही दिग्दर्शन कराना है, उसके विभिन्न समर्थकों के वैयक्तिक सिद्धांतों का नहीं।

आधुनिक प्रत्ययवादियों का भी निष्कर्ष है कि ज्ञाता से अलग या स्वतंत्र करके किसी पदार्थ का अस्तित्व कायम नहीं रखा जा सकता। इसी को वे यह कह कर व्यक्त करते हैं कि विश्व के सभी पदार्थ ज्ञातृ-सापेक्ष हैं। अपने मत की स्थापना के लिए उन्होंने कई तर्क दिया है। (१) उनका एक प्रसिद्ध तर्क अंतरंग-संबंध के सिद्धांत (theory of internal relations) पर आधारित है। वे मानते हैं कि सभी संबंध अंतरंग (internal) हैं। अंतरंग संबंध उसे कहते हैं जिससे संबंधित पदों में एक दूसरे पर निर्भर करता है। जब कि सभी संबंध अंतरंग हैं तो ज्ञाता और ज्ञेय का संबंध भी अंतरंग होगा ही। इसलिए यह निश्चित है कि ज्ञेय

---

* "......all the choir of heaven and furniture of the earth, in a word, all the bodies which compose the mighty frame of the world, have not any subsistence without a mind, that their being is to be perccived or known......".

—Berkely, Principles of Knowledge, Part 1, Section 4.

ज्ञाता पर अवलंवित होगा। (२) अनुभव की सापेक्षता (Relativity of experience) से भी प्रत्ययवाद प्रमाणित होता है। इस सापेक्षता का मतलब है कि अनुभव-कर्त्ताओं में भिन्नता होने पर पदार्थों का अनुभव भिन्न रूप में होता है। प्रत्ययवादी विचारक बतलाते हैं कि एक ही पदार्थ जैसे हरा रंग एक आदमी को हरा लगता है और किसी वर्णांध (colour-blind) को कुछ और ही लगता है। इस प्रकार अनुभंव-कर्त्ताओं में भेद होने से अनुभूत पदार्थों में भेद का होना प्रमाणित करता है कि वे अनुभव-कर्त्ताओं पर अवलंबित हैं। इस युक्ति के विरुद्ध कुछ विचारकों का कहना है कि एक सामान्य हरापन (universal greenness) है जो हरे रंग के विशिष्ट उदाहरणों का सार तत्त्व है। वह अपरिवर्तनशील है और उसमें किसी अनुभव-कर्त्ता के चलते भेद नहीं होता, भेद होता है उसके विशिष्ट उदाहरणों में। इसके उत्तर में प्रत्ययवादियों का कहना है कि जब सामान्य हरापन में कोई परिवर्तन नहीं होता तो उसके विशिष्ट उदाहरणों में भी नहीं होना चाहिए, किन्तु उनमें परिवर्तन होता है। और, उनमें परिवर्तन होने से उसे भी अपरिवर्तनशील नहीं कहा जा सकता क्योंकि वे उसी के उदाहरण हैं। अतः ज्ञाता से पदार्थों की स्वतंत्रता सिद्ध नहीं की जा सकती। (३) यदि हम मान भी लें कि ज्ञाता से बिलकुल स्वतंत्र पदार्थ हैं तो उसके लिए कोई प्रमाण नहीं है। बिलकुल स्वतंत्र होने का मतलब है बिलकुल असंबद्ध होना। किन्तु 'स्वतंत्र पदार्थ हैं' यह तभी प्रमाणित हो सकता है जब कि उक्त पदार्थों का ज्ञान हो। किन्तु उक्त ज्ञान के होने पर वे ज्ञाता से संबंधित हो जायँगे, अतः उनकी स्वतंत्रता नष्ट हो जायगी। इसलिए यदि वस्तु-स्वातंत्र्य है भी तो वह अज्ञात और अचिंत्य है, अर्थात असिद्ध है। (४) फिर, यदि हम मानते हैं कि कोई पदार्थ ज्ञाता से बिलकुल असं-

बद्ध है तो प्रश्न उठता है कि वह कभी भी उससे क्यों संबंधित होता है? ज्ञान में ज्ञाता और ज्ञेय में संबंध होता है। किन्तु जो पदार्थ स्वभावतः ज्ञाता से असंबद्ध है उसका उससे संबंधित होना अचित्य है। यह कठिनाई पदार्थों को ज्ञाता से स्वतंत्र मानने से ही होती है। यदि मान लिया जाय कि सभी पदार्थ ज्ञाता से संबद्ध या उस पर निर्भर हैं, तो ऐसी कोई कठिनाई नहीं होगी। जब वे स्वभावतः संबंधित हैं तो यह पूछना ही निरर्थक है कि कैसे उनमें संबंध स्थापित होता है।

उपर्युक्त तरह के कई और तर्कों के आधार पर प्रत्ययवादी विचारकों का निष्कर्ष है कि सभी पदार्थ ज्ञाता पर निर्भर हैं।

भारतीय दर्शन में ज्ञान-शास्त्रीय प्रत्ययवाद का एक ही उदाहरण बौद्ध दर्शन के योगाचार संप्रदाय में मिलता है। इसे विज्ञानवाद भी कहते हैं क्योंकि विज्ञान या चैतन्य (consciousness) मात्र को सत्य मानता है। इसके समर्थक कहते हैं कि ज्ञाता या मन से अलग किसी पदार्थ का अस्तित्व नहीं है, अतः मन के बाहर कुछ नहीं है। हमें ऐसी किसी वस्तु का ज्ञान नहीं होता जो ज्ञाता से अलग हो, इसलिए वैसी वस्तुओं को सत्य मानना न्यायोचित नहीं है। मन के बाहर किसी पदार्थ को स्वीकार करने पर उसका प्रत्यक्ष असंभव हो जाता है। वह पदार्थ परमाणुओं की तरह निरवयव (partless) होगा या सावयव (composite)। परमाणुरूप होने पर उसका प्रत्यक्ष (perception) नहीं होगा क्योंकि परमाणु अत्यंत ही सूक्ष्म होता है। सावयव होने पर उसका प्रत्यक्ष विभिन्न अवयवों का प्रत्यक्ष होने पर होगा। किन्तु हमारी अनुभव-शक्ति ऐसी है कि सब अवयवों का एक साथ प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। यदि बारी-बारी से

(२) भारतीय प्रत्ययवाद : योगाचार विज्ञानवाद

उन्हें देखना चाहें तो फिर प्रश्न उठता है कि ये अवयव स्वयं परमाणुरूप हैं या सावयव। परमाणुरूप होने पर उनका भी प्रत्यक्ष न होगा और सावयव होने पर फिर वही कठिनाई होगी जो संपूर्ण पदार्थ के साथ होती है। ऐसी कठिनाइयाँ मन के बाहर या उससे स्वतंत्र पदार्थों को सत्य मानने से ही होती हैं। इसलिए विज्ञानवाद का निष्कर्ष है कि सब कुछ मन पर अवलंबित है।

प्रत्ययवाद का मूल्यांकन

प्रत्ययवाद ज्ञान के निर्माण में ज्ञाता के महत्त्व को सर्वाधिक मानता है क्योंकि ज्ञेय को उसी पर आश्रित समझता है। यह ठीक है कि ज्ञान-प्रक्रिया में ज्ञाता की उपेक्षा नहीं की जा सकती। किन्तु जब प्रत्ययवाद उसको इतना महत्त्व देने लगता है कि ज्ञेय का आधार उसे ही मान बैठता है तो उसका कथन अतिशयोक्ति ही जान पड़ता है। वस्तुवाद यहाँ उसका विरोध करता है और वस्तुवादियों ने उसकी तीव्र आलोचना की है। इन आलोचकों में मूर (G. E. Moore), पेरी (R. B. Perry), मांटेगू (W. P. Montague), ड्रेक (Durant Drake), रसेल (B. Russell) आदि प्रमुख हैं। यहाँ पर उनकी आलोचना का संक्षिप्त विवरण हम देंगे।

(१) विश्लेषण करके मूर सिद्ध करते हैं कि ज्ञान के विषय को ज्ञान या ज्ञाता से स्वतंत्र या अलग मानना अनिवार्य है नहीं तो विभिन्न विषयों के ज्ञान में अंतर करना असंभव हो जायगा। संवेदन का विश्लेषण कर वे बतलाते हैं कि हरएक संवेदन के दो अंग होते हैं: (क) संवेदन मात्र या आंतरिक अनुभूति और (ख) उसका विषय। अब दो संवेदनों, जैसे नीले

(blue) और पीले (yellow) के संवेदनों, में अंतर रहता है। यह अंतर उक्त दो अंगों में अंतर होने से ही हो सकता है। किन्तु जहाँ तक आंतरिक अनुभूति का प्रश्न है वह दोनों संवेदनों में एक-सी है। इसलिए उनका अंतर अवश्य ही विषय अर्थात नीला और पीला में अंतर होने के कारण है। इसका मतलब है कि संवेदन के विषय संवेदन अर्थात अनुभूति से स्वतंत्र हैं क्योंकि उस पर आश्रित होने से उनमें अंतर नहीं हो सकता क्योंकि अनुभूति की हैसियत से सभी संवेदन एक-जैसे हैं। संवेदन या अनुभूति से स्वतंत्र होने का मतलब अनुभव-कर्त्ता या ज्ञाता से ही स्वतंत्र होना है। संवेदन हमारे ज्ञान का एक महत्त्वपूर्ण प्रकार है, इसलिए प्रत्ययवाद का यह कहना है कि हर हालत में ज्ञान का विषय ज्ञाता पर आश्रित है सत्य नहीं है। (२) प्रत्ययवाद सभी पदार्थों को ज्ञाता के ज्ञान पर आश्रित मानता है। इसलिए ज्ञाता या आत्मा को भी स्वतंत्र अस्तित्व वाला नहीं माना जा सकता, उसे भी औरों की तरह किसी के ज्ञान पर आश्रित होना पड़ेगा क्योंकि वह भी अन्य पदार्थों की तरह ज्ञात होता है अर्थात ज्ञान का विषय बनता है। किन्तु आत्मा के स्वतंत्र व्यक्तित्व के छिन जाने पर प्रत्ययवाद का आधार ही नष्ट हो जाता है क्योंकि आत्मा को वह पूर्णतः स्वतंत्र मानता है। यहाँ पर मूर का कहना है कि यदि सब पदार्थों को ज्ञानाश्रित माना जाय तो आत्मा को भी वैसा ही मानना चाहिए अन्यथा असंगति होगी।

(३) हमारे ज्ञान की विशेषता है कि किसी वस्तु का तभी ज्ञान हो सकता है जबकि वह ज्ञाता से संबंधित होती है। आत्मा या मन ही ज्ञाता है, इसलिए ज्ञान के लिए आत्मा के साथ संबंधित होना आवश्यक है। इस स्थिति से प्रत्ययवादी विचारक निगमनात्मक विधि द्वारा अपने मत को प्रमाणित करते

ह। उनका आधारवाक्य यों है: 'जिस वस्तु का अस्तित्व ज्ञात है वह ज्ञाता से संबंधित है (whatever is **known to be** existent is related to a knower)', और निष्कर्ष है: 'इसलिए जिस वस्तु का अस्तित्व है वह ज्ञाता से संबंधित है (whatever is existent is related to a knower)।' यहाँ आलोचकों का यह कहना है कि आधारवाक्य ठीक है क्योंकि ज्ञात होने में ज्ञाता से वस्तु का संबंधित होना स्वाभाविक है किन्तु निष्कर्ष गलत है क्योंकि आधारवाक्य के एक महत्त्वपूर्ण अंश ('ज्ञात', 'known to be') का लोप करके यह निष्कर्ष निकाला गया है।

(४) ड्रेक (Drake) का कहना है कि हमारा साधारण अनुभव प्रत्ययवाद को अप्रमाणित करता है। अनुभूतियों में एक प्रकार की विवशता रहती है, ऐसा लगता है कि उन पर हमारा कोई अधिकार नहीं है क्योंकि जो हम चाहते वही देखते-सुनते नहीं। किन्तु, जैसा कि प्रत्ययवाद मानता है, जब सब ज्ञाता पर ही निर्भर है तो क्यों नहीं हमारी अनुभूतियों का घटना-क्रम हमारे वश में है? इसके लिए प्रत्ययवाद के पास कोई व्याख्या नहीं है। अपितु, अनुभूतियों की विवशता यही सिद्ध करती है कि ज्ञात वस्तुएँ ज्ञाता पर निर्भर नहीं हैं। (५) ड्रेक यह भी सिद्ध करते हैं कि प्रत्ययवाद का परिणाम सर्वाहंवाद (Solipsism) होता है। जब सब कुछ मन पर आश्रित है तो मन के बाहर जड़ या चेतन किसी पदार्थ के अस्तित्व को सत्य नहीं कहा जा सकता। इसलिए किसी व्यक्ति के लिए उसके मन और मन की दशाओं के अतिरिक्त कोई चीज सत्य नहीं है। यही सर्वाहंवाद है। यह सिद्धांत अग्राह्य है क्योंकि हमारे अंदर अपने मन से बाहर की दुनियाँ में स्वाभाविक विश्वास है और वह विश्वास सत्य है क्योंकि उसके

अनुसार जो हम आचरण करते हैं उसमें सफलता मिलती है। बाहरी दुनियाँ को असत्य मानने से हमारा दैनिक जीवन असंभव हो जायगा।

आधुनिक आलोचकों ने प्रत्ययवाद की जो आलोचना की है वह बौद्ध विज्ञानवाद के विषय में भी लागू हो सकती है। प्राचीन भारतीय दार्शनिकों में शंकर ने भी उसकी बड़ी कड़ी आलोचना की है। उनकी आलोचना का सारांश तत्त्वशास्त्रीय प्रत्ययवाद के मूल्यांकन में दिया गया है। इसलिए यहाँ देना जरूरी नहीं है।

———

तेईसवाँ अध्याय

(२) वस्तुवाद

वस्तुवाद (Realism) ज्ञान-शास्त्रीय प्रत्ययवाद का पूर्ण विरोधी है। वह मानता है कि वस्तुओं का अस्तित्व ज्ञाता से स्वतंत्र

वस्तुवाद की सामान्य विशेषताएँ

है। विश्व के पदार्थ ऐसे हैं कि किसी ज्ञाता के ज्ञान का विषय बनना उनके लिए अनिवार्य नहीं है। अतः कोई वस्तु किसी ज्ञाता या मन पर अपने अस्तित्व के लिए आश्रित नहीं है। वस्तुवाद की दूसरी मान्यता है कि ज्ञान से ज्ञात पदार्थों में कोई परिवर्तन नहीं होता है। जो पदार्थ जैसा है वह वैसा ही ज्ञात होता है। अतः ज्ञान का विषय बनने पर कोई पदार्थ वैसा ही रहता है जैसा कि पहले था और जब वह ज्ञान का विषय नहीं है तब भी वैसा ही रहता है। इस प्रकार वस्तुओं का स्वरूप ज्ञान और ज्ञाता से स्वतंत्र है। जंगल का फूल किसी द्वारा देखे जाने पर भी फूल ही रहता है और जब उसे देखनेवाला कोई नहीं होता तौभी फूल ही।

वस्तुवादी विचार-धारा के इतिहास को देखने से उसके कई रूप मिलते हैं। उसके दो व्यापक रूप हैं : लोकप्रिय वस्तुवाद (Popular Realism) और दार्शनिक वस्तुवाद (Philosophical Realism)। लोकप्रिय वस्तुवाद जन साधारण का

मत है। इसका आधार दार्शनिक चिंतन नहीं बल्कि स्वभाविक या अकृत्रिम विश्वास है। साधारण मनुष्य स्वभावतः वस्तुवादी होता है। उसके अंदर यह विश्वास रहता है कि जिन वस्तुओं को वह जानता है वे उसके ज्ञान पर आश्रित नहीं हैं। इस तरह का विश्वस सभी देशों की साधारण जनता में पाया जाता है। इसलिए इसे लोकप्रिय वस्तुवाद की संज्ञा दी जाती है। इसका आधार बौद्धिक विश्लेषण नहीं है। इसलिए अंग्रेजी में इसे Naive Realism या Common Sense Realism भी कहा जाता है। लोकप्रिय वस्तुवाद मानता है कि (१) ज्ञेय पदार्थ ज्ञाता से स्वतंत्र है, (२) ज्ञात होने से ज्ञात पदार्थ में कोई परिवर्तन नहीं होता, अतः उसके वास्तविक रूप का ज्ञान ज्ञाता को होता है, और (३) ज्ञाता और ज्ञेय के बीच कोई मध्यस्थ नहीं होता है, ज्ञाता को वस्तुओं का ज्ञान प्रत्यक्ष रूप में होता है। इसलिए निष्कर्ष के रूप में हम कह सकते हैं कि लोंकप्रिय वस्तुवाद के अनुसार ज्ञान में मन या ज्ञाता से स्वतंत्र अस्तित्ववाली वस्तुओं के वास्तविक स्वरूप का प्रत्यक्ष दर्शन (direct revelation) होता है।

वस्तुवाद के विभिन्न रूप: (१) लोकप्रिय वस्तुवाद

लोकप्रिय वस्तुवाद की परीक्षा जब दार्शनिक दृष्टि से की जाती है तो उसमें बहुत-सी त्रुटियां यिलती हैं। उसकी सबसे बड़ी दुर्बलता है कि स्वप्न (Dream), विपर्यय (Illusion), विभ्रम (Hallucination) आदि भ्रांतिपूर्ण अनुभूतियों की व्याख्या नहीं कर सकता है। भ्रांतिपूर्ण अनुभूति में जो अवास्तविक है वह वास्तविक जान पड़ता है, अतः वस्तुओं के वास्तविक रूप का ज्ञान नहीं होता है। स्वप्न में

लोकप्रिय वस्तुवाद की समीक्षा

वस्तुतः कोई पदार्थ अनुभव-कर्त्ता के सामने नहीं रहता है किन्तु तरह-तरह की घटनाओं और वस्तुओं का अनुभव होता है। उसी तरह विपर्यय में वस्तुओं के वास्तविक रूप के बदले कोई दूसरा ही रूप सत्य जान पड़ता है जैसे रस्सी अंधेरे में सर्प के रूप में दीख पड़ती है। विभ्रम में भी किसी वास्तविक वस्तु का ज्ञान नहीं होता बल्कि मन की कोई प्रतिमा (image) किसी बाह्य वस्तु के रूप में वास्तविक जान पड़ती है जैसे शोकातुर माता को अपने मरे हुए पुत्र की आवाज सुनाई पड़ती है। अब लोकप्रिय वस्तुवाद मानता है कि ज्ञान में वस्तुओं के यथार्थ रूप का दर्शन होता है। किन्तु उपर्युक्त उदाहरणों से जान पड़ता है कि कभी-कभी अयथार्थ (unreal) का भी अनुभव होता है। ऐसा क्यों होता है? अयथार्थ की प्रतीति का क्या कारण है? इन प्रश्नों का कोई उत्तर लोकप्रिय वस्तुवाद के पास नहीं है। उसकी इस असफलता को देखकर दार्शनिकों ने उसमें संशोधन करके बौद्धिक आधार पर वस्तुवाद को स्थापित करने का प्रयत्न किया है जिससे दार्शनिक वस्तुवाद का उदय होता है। दार्शनिक वस्तुवाद के समर्थक पश्चिमी और भारतीय दोनों दर्शनों में मिलते हैं।

(२) दार्शनिक वस्तुवाद :

१. पश्चिमी दर्शन में

दार्शनिक वस्तुवाद भी मानता है कि वस्तुओं का अस्तित्व किसी ज्ञाता पर अवलंबित नहीं है। किन्तु इस निष्कर्ष को विभिन्न दार्शनिकों ने विभिन्न तरीकों से प्रतिपादित किया है जिससे उसके कई रूप हो जाते हैं। पश्चिमी दर्शन में दार्शनिक वस्तुवाद के तीन रूप मिलते हैं: (१) प्रत्यय-प्रतिनिधित्व-वाद (Representative Realism), (२) नवीन वस्तुवाद (New Realism), और (३) समीक्षात्मक वस्तुवाद (Critical Realism)। ये तीनों इस बात में सह-

मत हैं कि (१) ज्ञान का विषय ज्ञाता से स्वतंत्र है और (२) ज्ञात होने से उसमें कोई परिवर्तन नहीं होता बल्कि उसके यथार्थ रूप का ज्ञान होता है। किन्तु अन्य विषयों में उनका एकमत नहीं है। यहां पर एक-एक कर इन सिद्धांतों का संक्षिप्त वर्णन हम करेंगे।

प्रत्यय-प्रतिनिधित्ववाद (Representative Realism) का बड़ा स्पष्ट उदाहरण लाक (John Locke) के दर्शन में मिलता है। उनके अनुसार ज्ञान के निर्माण में तीन तत्त्व काम करते हैं, मन (mind), प्रत्यय (ideas), और पदार्थ (objects)। मन ज्ञाता है और प्रत्यय ज्ञान के प्रत्यक्ष विषय हैं। प्रत्यय संसार के पदार्थों का चित्र या प्रतिलिप हैं, वे उनके समरूप (like objects) होते हैं, इसलिए प्रत्ययों से वे अभिव्यक्त या सूचित होते हैं। पदार्थों का प्रत्यक्ष ज्ञान हमें नहीं होता बल्कि प्रत्ययों के माध्यम से होता है। हम देखते हैं कि प्रत्ययों को हम उत्पन्न नहीं कर सकते, इसलिए अनुमान करते हैं कि हम से अलग वस्तुएँ हैं जो उनका कारण हैं। इस प्रकार लाक मानते हैं कि मन से पदार्थों का अस्तित्व स्वतंत्र है किन्तु उनका ज्ञान परोक्ष (indirect) रूप में, प्रत्ययों के माध्यम से, होता है। चूँकि प्रत्यय वस्तुओं का चित्र प्रस्तुत करते हैं, इसलिए जो उनका यथार्थ रूप चित्रित करते हैं वे सत्य कहलाते हैं और जो नहीं वे असत्य। भ्रांतिपूर्ण अनुभूतियों का कारण यही है कि जो प्रत्यय मन में रहता है वह बाहरी वस्तु के समरूप, या उसका यथार्थ चित्र नहीं होता है। रस्सी में सर्प के भ्रम में मन के अंदर सर्प का प्रत्यय रहता है किन्तु बाहरी वस्तु का सच्चा चित्र वह नहीं होता क्योंकि वहाँ रस्सी है, सर्प नहीं।

(१) प्रत्यय-प्रतिनिधित्ववाद

निस्सन्देह प्रत्यय-प्रतिनिधित्ववाद लोकप्रिय वस्तुवाद से अधिक उपयुक्त और सुचिंतित सिद्धांत है क्योंकि भ्रांति की व्याख्या करता है किन्तु फिर भी उसमें कई त्रुटियाँ हैं। उसकी पहली त्रुटि है कि (१) वह प्रत्ययों को पदार्थों के समरूप (like objects) मानता है किन्तु प्रत्यय चेतन या मानसिक हैं और विश्व के पदार्थ अचेतन या अ-मानसिक। इसलिए प्रत्यय उनके समरूप नहीं हो सकते। जैसा बर्कले ने कहा है, जो मानसिक है वह अ-मानसिक (non-mental) के समान या समरूप नहीं हो सकता। (२) यदि हम मान भी लें कि प्रत्यय पदार्थों के समरूप होते हैं तो समरूपता का ज्ञान प्रत्यय-प्रतिनिधित्ववाद के लिए असंभव हो जाता है। इस समरूपता का ज्ञान तभी हो सकता है जबकि कभी-न-कभी प्रत्यय और पदार्थों का प्रत्यक्ष ज्ञान हो जिससे उनकी तुलना करके कहा जा सके कि एक दूसरे के समान है। किन्तु प्रत्यय-प्रतिनिधित्ववाद मानता है कि प्रत्यक्ष ज्ञान केवल प्रत्ययों का होता है, वस्तुओं का कभी नहीं। इसलिए यह जानने या कहने का कोई आधार नहीं है कि प्रत्यय वस्तुओं के समरूप हैं। प्रत्ययों को वस्तुओं का चित्र या प्रतिलिपि भी कहा जाता है किन्तु चित्र भी तभी कहा जा सकता है जबकि वस्तुओं का ज्ञान प्राप्त हो। किसी चित्र को देख कर वही आदमी कह सकता है कि अमुक व्यक्ति का चित्र है जिसने कभी उस व्यक्ति को देखा-सुना है। (३) वाह्य वस्तुओं के अस्तित्व को भी प्रत्यय-प्रतिनिधित्ववाद प्रमाणित नहीं कर पाता है। वह मानता है कि उनका कभी प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं होता बल्कि प्रत्ययों से उनके अस्तित्व का अनुमान किया जाता है। किन्तु अनुमान का आधार प्रत्यक्ष है, उसी वस्तु का अनु-मान संभव है जिसका प्रत्यक्ष कभी-न-कभी हो सकता है। यदि आग

प्रत्यय-प्रतिनिधित्ववाद की समीक्षा

से धूम की उत्पत्ति का प्रत्यक्ष ज्ञान कभी न मिले तो धूम देख कर आग का अनुमान नहीं किया जा सकता। इसी तरह बाहरी वस्तुओं का प्रत्यक्ष ज्ञान कभी न होने से प्रत्ययों के आधार पर उनका अनुमान नहीं किया जा सकता। किन्तु उस हालत में वस्तुवाद की स्थापना नहीं हो सकती क्योंकि वाह्य पदार्थों के स्वतंत्र अस्तित्व में विश्वास उसका आधार-स्तंभ है। इसलिए हम कह सकते हैं कि वस्तुवाद की स्थापना में यह सिद्धांत सफल नहीं होता है।

प्रत्यय-प्रतिनिधित्ववाद की त्रुटियों को देख कर कुछ आधुनिक विचारकों ने एक नए सिद्धांत की स्थापना की है जिसे नवीन वस्तुवाद (New Realism) कहते हैं। नवीन वस्तुवाद लोकप्रिय वस्तुवाद (Naive Realism) को पुनर्जीवित करता है और तर्क से पुष्ट करता है, तथा उसकी त्रुटियों को दूर करने की चेष्टा करता है।

(२) नवीन वस्तुवाद

आधुनिक साहित्य में ग्रेट ब्रिटेन और अमेरिका के कुछ विचारकों के सिद्धांतों के लिए नवीन वस्तुवाद की संज्ञा प्रयुक्त होती है किन्तु इसका आरंभ जर्मनी के दार्शनिक ब्रेन्टनो (F. Brentano, 1838–1907) के दर्शन में होता है। वे मानते हैं कि ज्ञान-प्रक्रिया में दो तत्त्व होते हैं : (१) मानसिक क्रिया (mental act) जिससे ज्ञान संपन्न होता है और (२) ज्ञान का विषय (object of knowledge) जो ज्ञात होता है। ज्ञात वस्तुएँ ज्ञाता से स्वतंत्र हैं और उनका प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। ब्रेंटनो के इसी सिद्धांत (two-factor theory of knowledge) के आधार पर आधुनिक वस्तुवादी नवीन वस्तुवाद का मंडन करते हैं। ग्रेट ब्रिटेन के विचारकों में अलेक्जेंडर (S. Alexander), मूर (G. E. Moore),

रसेल (B. Russell) और अमेरिका के विचारकों में होल्ट (E. B. Holt), मारभिन (W. T. Marvin), मांटेगू (W. P. Montague), पेरी (R. B. Perry), पिटकिन (W. B. Pitkin) आदि नवीन वस्तुवाद के प्रमुख समर्थक हैं।

नवीन वस्तुवाद मानता है कि (१) ज्ञान का विषय अर्थात ज्ञेय ज्ञाता से स्वतंत्र है। (२) ज्ञाता और ज्ञेय के बीच बाह्य संबंध (external relation) है। बाह्य संबंध उसे कहते हैं जिससे संबंधित पदों में एक दूसरे पर निर्भर नहीं करता और उस संबंध के कारण पदों में कोई अंतर या परिवर्तन नहीं होता। नवीन वस्तुवाद के समर्थकों में कुछ जैसे मूर कुछ संबंधों को बाह्य मानते हैं जैसे विद्यार्थी और कालेज का संबंध। विद्यार्थी का अस्तित्व कालेज पर निर्भर नहीं करता है। लेकिन शरीर और उसके अंगों के बीच अंतरंग संबंध वे स्वीकार करते हैं क्योंकि एक दूसरे पर निर्भर करते हैं। किन्तु पिटकिन-जैसे वस्तुवादी सभी संबंधों को बाह्य मानते हैं। उनका मत है कि शरीर और उसके अंगों का संबंध भी बाह्य है। उदाहरण देकर पिटकिन बतलाते हैं कि मछली की पूँछ काट ली जाती है और नई पूँछ काल-क्रम में पैदा हो जाती है। इसका मतलब है कि शरीर अंग पर आश्रित नहीं है। फिर, एक मेढक के शरीर का एक भाग काट कर दूसरे के शरीर में लगा दिया जाता है और वह भाग जीवित रहता है। इसका अर्थ है कि शरीर का अंग शरीर पर निर्भर नहीं है। इस प्रकार कुछ या सभी संबंधों की बाह्यता सिद्ध की जाती है। यद्यपि मूर-जैसे वस्तुवादी कुछ संबंधों को और पिटकिन-जैसे सभी संबंधों को बाह्य मानते हैं किन्तु इस बात में सभी सहमत हैं कि ज्ञाता और ज्ञेय का अर्थात ज्ञान-संबंध (Knowledge-relation) बाह्य है। इस संबंध के बाह्य होने का अर्थ है

कि ज्ञेय ज्ञाता पर निर्भर नहीं है, उसके साथ संबंधित होना ज्ञेय के लिए अनिवार्य नहीं है और संबंधित होने से उसमें कोई परिवर्तन नहीं होता है। (३) नवीन वस्तुवाद की तीसरी विशेषता है कि उसके अनुसार ज्ञाता को यथार्थ वस्तु का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है, प्रत्यय या किसी और के माध्यम से नहीं। प्रत्यय-प्रतिनिधित्ववाद मानता है कि ज्ञान के प्रत्यक्ष विषय प्रत्यय हैं और प्रत्ययों से यथार्थ वस्तुओं का अनुमान किया जाता है। किन्तु नवीन वस्तुवाद के अनुसार वस्तुओं का साक्षात ज्ञान होता है, प्रत्ययों से उनका अनुमान नहीं किया जाता। मूर कहते हैं कि जब हम बाघ को देखते हैं तो साफ-साफ महसूस करते हैं कि स्वयं बाघ का ज्ञान हो रहा है, बाघ के प्रत्यय का नहीं। इस प्रकार नवीन वस्तुवाद सिद्ध करता है कि यथार्थ वस्तु ही ज्ञात होती है या ज्ञान का विषय बनती है। चूँकि यहां यथार्थ वस्तु (real object) और ज्ञात वस्तु (known object) को एक माना जाता है इसलिए नवीन वस्तुवाद को ज्ञान-शास्त्रीय एकवाद (Epistemological Monism) कहते हैं। यही कारण है कि मन (Mind) की तुलना वह प्रकाश से करता है जो बिना किसी माध्यम के यथार्थ वस्तुओं को प्रकाशित करता है जब कि प्रत्यय-प्रतिनिधित्ववाद उसकी तुलना आइना से करता है जो वस्तुओं को नहीं बल्कि उनके प्रतिबिंब या चित्र को व्यक्त करता है।

हम कह आए हैं कि नवीन वस्तुवाद लोकप्रिय वस्तुवाद का दार्शनिक रूप है और उसकी त्रुटियों को दूर करने का प्रयत्न करता है। लोकप्रिय वस्तवाद की असफलता का प्रमुख कारण भ्रांति की व्याख्या में उसकी अक्षमता है। इसलिए नवीन वस्तुवाद के समर्थक इस विषय में सचेष्ट हैं। भ्रांति की व्याख्या करते हुए होल्ट (Holt) कहते हैं कि भ्रांति में एक ही पदार्थ में विरोधी

गुण (Contradictory qualities) दीख पड़ते हैं जैसे एक ही छड़ी जो जमीन पर सीधी है पानी में टेढ़ी जान पड़ती है। इसका कारण है कि प्रकृति में ही विरोधी नियम हैं जिनके चलते पदार्थों में विरोधी गुणों की प्रतीति होती है। इसलिए होल्ट के अनुसार भ्रांति का कारण आत्म-निष्ठ अर्थात हमारे मन के अंदर नहीं है बल्कि वस्तु-निष्ठ है, वस्तु-जगत के अंदर है। यही कारण है कि भ्रांतियों और भ्रांतियों में अनुभूत वस्तुओं को मन-गढ़ंत नहीं बल्कि वस्तु-निष्ठ (objective) अर्थात वस्तु-जगत का अंग वे मानते हैं।

बाद में आनेवाले दार्शनिकों ने, विशेषकर समीक्षात्मक वस्तु-वादियों (Critical Realists) ने अपनी आलोचना से नवीन वस्तुवाद को अग्राह्य सिद्ध किया है। उनका कहना है कि (१) नवीन वस्तुवाद भ्रांति की समुचित व्याख्या नहीं कर पाता है। होल्ट ने कहा है कि प्रकृति के विरोधी नियमों के चलते भ्रांति होती है। किन्तु जब किसी पदार्थ पर विरोधी नियम एक साथ काम करते हैं तो वे विरोधी गुण नहीं पैदा करते बल्कि एक-दूसरे के असर को खतम कर देते हैं। दो विरोधी दिशाओं में खींचे जाने पर कोई वस्तु दोनों ओर नहीं चलती बल्कि स्थिर हो जाती है या जिस ओर खिचाव अधिक होता है उस ओर चलायमान होती है। (२) भ्रांति में अनुभूत पदार्थों को होल्ट वस्त-निष्ठ मानते हैं किन्तु उन्हें वस्तु-निष्ठ नहीं माना जा सकता क्योंकि उनका आचरण वस्तु-निष्ठ पदार्थों-जैसा नहीं होता है। वस्तु-निष्ठ (वस्तु-जगत का) सर्प पीछा करने पर भागता है और पीछा करके काटता भी है किन्तु भ्रांति का सर्प ऐसा नहीं करता। (३) भ्रांति की वस्तुओं को वस्तु-निष्ठ मानने पर हमारी दुनियाँ बड़ी विचित्र हो जायगी

नवीन वस्तुवाद की समीक्षा

क्योंकि उसमें वास्तविक पदार्थों के साथ-साथ स्वप्न, (dream), विपर्यय (illusion), विभ्रम (hallucination), आदि सबको वस्तु-जगत का अंग मानना पड़ेगा। ऐसी दुनियाँ बड़ी कृत्रिम लगती है और साधारण बुद्धि को कभी ग्राह्य नहीं हो सकती। (४) नवीन वस्तुवाद ज्ञात वस्तु और यथार्थ वस्तु को एक मानता है किन्तु यह मत विज्ञान के विरुद्ध है। भौतिक विज्ञान (Physics) बतलाता है कि प्रकाश की गति सीमित है। अतः एक वस्तु से दूसरी वस्तु तक उसके पहुँचने में समय लगता है। किसी वस्तु का प्रत्यक्ष (perception) हमें तब होता है जब कि उससे निकल कर प्रकाश हमारी आँखों तक पहुँचता है। अब कुछ नक्षत्र इतनी दूरी पर हैं कि उनसे पृथ्वी पर प्रकाश को पहुँचने में कई वर्ष लग जाते हैं। मान लीजिए कोई 'अ' नक्षत्र है जिससे प्रकाश को हमारे यहां पहुँचने में दस वर्ष लगते हैं। अतः यदि हम 'अ' को आज देखते हैं तो वह आज का नहीं बल्कि दस वर्ष पहले का है क्योंकि जो प्रकाश दस वर्ष पहले चला था वही आज हमारी आँखों तक पहुँच सका है। हो सकता है कि इन वर्षों में 'अ' परिवर्तित होकर 'ब' हो गया हो या बिलकुल नष्ट ही हो गया हो। इसका परिणाम होगा कि अभी यथार्थ वस्तु 'ब' है किन्तु हमारे ज्ञान का विषय 'अ' है, या ज्ञान का विषय 'अ' है किन्तु वह नष्ट हो गया है, अर्थात 'अ'–जैसी कोई यथार्थ वस्तु नहीं है। ऐसी हालत में यथार्थ वस्तु और ज्ञात वस्तु को एक कहना उचित नहीं है। इसलिए नवीन वस्तुवाद का ज्ञान-शास्त्रीय एकवाद (Epistemological Monism) सत्य नहीं है।

समीक्षात्मक वस्तुवाद (Critical Realism) भी आधुनिक सिद्धांत है। पश्चिमी दर्शन में नवीन वस्तुवाद के बाद इसका प्रतिपादन हुआ है। ग्रेटब्रिटेन के विचारकों में रसेल की रचनाओं

में कहीं-कहीं इसका समर्थन मिलता है किन्तु पूर्ण विकास अमेरिका के कुछ विचारकों द्वारा होता है। वहां के सात दार्शनिकों ने मिलकर समीक्षात्मक वस्तुवाद के विभिन्न अंगों का प्रतिपादन किया है जो उनकी संयुक्त रचना 'Essays in Critical Realism' नामक ग्रंथ में प्रकाशित हुआ है। ये विचारक हैं: ड्रेक (Durant Drake), लवज्वाय (A. C. Lovejoy), प्रैट (J. B. Pratt), रोजर्स (A. K. Rogers) सांटायना (G Santayana), सेलर्स (R. W. Sellars), और स्ट्रांग (C. A. Strong)। ये ही समीक्षात्मक वस्तुवाद के प्रमुख समर्थक हैं।

(३) समीक्षात्मक वस्तुवाद

यद्यपि समीक्षात्मक वस्तुवाद का विकास अमेरिका के वस्तु-वादियों द्वारा होता है किन्तु नवीन वस्तुवाद की तरह इसका भी मूल जर्मनी के एक दार्शनिक मेनांग (A. Meinong, 1853-1921) की रचनाओं में मिलता है। वे मानते हैं कि ज्ञान-प्रक्रिया में तीन तत्त्व होते हैं: (१) मानसिक क्रिया (Mental act), (२) ज्ञान का विषय (Mental Content) और (३) यथार्थ वस्तु (object)। मानसिक क्रिया ज्ञान-संपादन की क्रिया को कहते हैं। ज्ञान में मन के अंदर एक तरह का पदार्थ विद्यमान रहता है जिसके माध्यम से यथार्थ वस्तु का ज्ञान होता है। इसी को ज्ञान का विषय कहते हैं। हरएक ज्ञान का संकेत अपने से भिन्न किसी वस्तु की ओर होता है। इसी वस्तु को ज्ञान की वस्तु कहते हैं क्योंकि इसीका ज्ञान होता है। अभी मैं चंद्रमा को देख रहा हूँ। इस ज्ञान में देखने की क्रिया मानसिक क्रिया है। बाहर आकाश में विद्यमान चंद्रमा ज्ञान की वस्तु ह और मेरे अंदर जो उसका प्रतीक विद्यमान है वही ज्ञान का विषय है। यह तो सत्य है कि मेरे मनमें अभी वास्तविक चंद्रमा

नहीं है बल्कि कोई दूसरी ही चीज है जिसके द्वारा आकाश के चंद्रमा का ज्ञान होता है।

मेनांग के इस सिद्धांत (Three-factor theory of knowledge) को समीक्षात्मक वस्तुवाद अपना लेता है और उसका विकास करता ह। इसलिए वह भी मानता है कि ज्ञान-प्रक्रिया में तीन तत्त्व होते हैं: (१) ज्ञाता (Knower or Mind), (२) ज्ञेय (object as it is) और (३) ज्ञात पदार्थ (object as known)। ज्ञाता ज्ञान प्राप्त करनेवाला है। जिस वस्तु का ज्ञान होता है उसीको ज्ञेय पदार्थ कहते हैं। मन या ज्ञाता की चेतना के समक्ष जो पदार्थ विद्यमान रहता है उसीको ज्ञात पदार्थ कहते हैं। उसे 'प्रदत्त' (Datum, i.e. the given) भी कहते हैं क्योंकि ज्ञाता को वही प्राप्त होता है, वास्तविक वस्तु नहीं मिलती। यह सिद्धांत वास्तविक वस्तु और ज्ञात वस्तु दोनों में द्वैत या भिन्नता मानता है इसलिए इसे ज्ञान-शास्त्रीय द्वैतवाद (Epistemological Dualism) कहते हैं। किसी वस्तु के ज्ञान में यथार्थ वस्तु मन से स्वतंत्र है, वही उसके अन्दर नहीं रहती। उसके अंदर एक दूसरा ही पदार्थ रहता है जो ज्ञान का साक्षात विषय है। वही ज्ञात पदार्थ है। इस प्रकार यथार्थ वस्तु और ज्ञात वस्तु में संख्यात्मक एकता (numerical unity) नहीं है। इसलिए यह मत नवीन वस्तुवाद से यहां भिन्न है क्योंकि वह दोनों को एक मानकर ज्ञान-शास्त्रीय एकवाद का समर्थन करता है। समीक्षात्मक वस्तुवाद का कहना है कि ज्ञान-शास्त्रीय एकवाद विज्ञान से समर्थित नहीं है। नवीन वस्तुवाद की आलोचना में हम इस आक्षेप को देख चुके हैं।

प्रत्यय-प्रतिनिधित्ववाद (Representative Realism) ज्ञान-शास्त्रीय द्वैतवाद का समर्थक है क्योंकि ज्ञात वस्तु और यथार्थ वस्तु के द्वैत को स्वीकार करता है। वह मानता है कि ज्ञात

पदार्थ अर्थात ज्ञान के साक्षात विषय प्रत्यय हैं, यथार्थ वस्तुएं नहीं। इसलिए ज्ञात और यथार्थ एक नहीं हैं। किन्तु इस द्वैत को स्वीकार करने के बावजूद समीक्षात्मक वस्तुवाद से उसका एकमत नहीं है। दोनों में पहला अंतर है कि प्रत्यय–प्रतिनिधित्ववाद ज्ञान के प्रत्यक्ष विषय को प्रत्यय कहता है किन्तु समीक्षात्मक वस्तुवाद उसे प्रत्यय नहीं मानता है। दूसरा अंतर है कि प्रत्यय-प्रतिनिधित्ववाद के अनुसार यथार्थ वस्तुओं का प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं बल्कि परोक्ष (indirect] ज्ञान होता है क्योंकि प्रत्ययों से उनका अनुमान किया जाता है। किन्तु समीक्षात्मक वस्तुवाद मानता है कि यथार्थ वस्तुओं का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। उसका सिद्धांत है कि जो ज्ञान के विषय या प्रदत्त [Datum] हैं वे पारदर्शक [diaphanous, i. e. transparent] हैं जिनसे वस्तुओं का प्रत्यक्ष ज्ञान हो जाता है, अनुमान करने की जरूरत नहीं पड़ती। उनकी तुलना चश्मे से की जा सकती है। चश्मा लगाने पर हम चश्मा को नहीं देखते बल्कि उसके द्वारा बाहर की वस्तुओं को देखते हैं, वह सीधे वस्तुओं का ज्ञान कराता है। ऐसा नहीं है कि हम उससे वस्तुओं का अनुमान करते हों। इसी प्रकार मानसिक प्रदत्तों से ज्ञान संपन्न होता है।

समीक्षात्मक वस्तुवाद भी मानता है कि विश्व की वस्तुएँ ज्ञाता से स्वतंत्र हैं। किन्तु यहाँ एक प्रश्न होता है कि जब वे ज्ञान का प्रत्यक्ष विषय नहीं बनतीं तो उनके अस्तित्व में क्यों कर विश्वास किया जाय? इसके उत्तर में उसका कहना है कि उनके अस्तित्व में विश्वास करना हमारे लिए स्वाभाविक है, उसके लिए तर्क आवश्यक नहीं है। जब कोई बच्चा चन्द्रमा को पकड़ने के लिए हाथ बढ़ाता है तो उसका हाथ बढ़ाना चंद्रमा के मन के बाहर

और स्वतंत्र अस्तित्व में विश्वास का सूचक है। मन से स्वतंत्र वस्तुओं में विश्वास सत्य है क्योंकि उसके अनुसार आचरण करने पर व्यवहार में सफलता मिलती है जो उसके असत्य होने पर नहीं मिलती।

ज्ञात और यथार्थ के द्वैत को स्वीकार करने से समीक्षात्मक वस्तुवाद को भ्रांति की व्याख्या में विशेष कठिनाई नहीं होती। वह मानता है कि प्रदत्त (Datum) के यथार्थ वस्तुओं के अनुरूप होने पर सत्य ज्ञान होता है और अनुरूप न होने पर भ्रांति। रस्सी में सर्प का ज्ञान भ्रांतिपूर्ण है क्योंकि दत्त, अर्थात मन के समक्ष विद्यमान पदार्थ, सर्प है किन्तु यथार्थ पदार्थ रस्सी है। यहाँ प्रदत्त या ज्ञात यथार्थ के अनुरूप नहीं है। कोई प्रदत्त यथार्थ के अनुरूप है कि नहीं इसका ज्ञान व्यवहार (practice) अर्थात उसके अनुसार क्रिया करने से होता है।

निस्सन्देह समीक्षात्मक वस्तुवाद वस्तुवाद के अन्य प्रकारों से अधिक सुदृढ़ सिद्धांत है। उसकी श्रेष्ठता ज्ञान-शास्त्रीय द्वैतवाद को लेकर है जिसके चलते प्रत्यक्ष की विज्ञान-सम्मत व्याख्या वह देता है और भ्रांति की व्याख्या भी औरों से सुबोध तरीके से करता है। किन्तु वह भी पूर्णतः निर्दोष नहीं है। प्रदत्तों के माध्यम से ज्ञान होने पर भी ज्ञान को वह प्रत्यक्ष या अपरोक्ष मानता है। इससे कई कठिनाइयाँ होती हैं। (१) वह कहता है कि हम प्रदत्तों को नहीं देखते बल्कि चश्मे की तरह उनके माध्यम से वस्तुओं को देखते हैं। किन्तु यदि प्रदत्तों को कभी देखते ही नहीं तो उन्हें ज्ञान-प्रक्रिया का आवश्यक अंग नहीं माना जा सकता है। ऐसा होने पर उसका ज्ञान-शास्त्रीय द्वैतवाद नष्ट हो जायगा और उसकी दशा

समीक्षात्मक वस्तुवाद की समीक्षा

भी नवीन वस्तुवाद की तरह हो जायगी। (२) और, यदि प्रदत्त ही हमें प्राप्त होते हैं, वास्तविक पदार्थ कभी नहीं, तो यह कहना कि प्रदत्तों से वास्तविक पदार्थों का ज्ञान होता है, ठीक नहीं है। यहाँ जो चश्मे का रूपक दिया गया है वह उपयुक्त नहीं है। चश्मे से वास्तविक पदार्थों का ज्ञान होता है यह हम इसलिए जानते हैं क्योंकि बिना चश्मे के भी उन्हें देख सकते हैं। पहले से हमें मालूम है कि सामने घड़ी है, इसलिए जब चश्मा लगाने से घड़ी दीखती है तो समझते हैं कि उससे वास्तविक घड़ी दीख रही है। किन्तु समीक्षात्मक वस्तुवाद मानता है कि प्रदत्तों के बिना सीधे यथार्थ वस्तुओं को हम कभी नहीं जान सकते। इसलिए जो ज्ञान प्रदत्तों के माध्यम से होता है उसे वास्तविकता का ज्ञान कहना या चश्मे का रूपक देना उचित नहीं है। इसका परिणाम होता है कि वास्तविक पदार्थों का अस्तित्व असिद्ध रह जाता है। किन्तु ऐसा होने पर वस्तुवाद की स्थापना नहीं हो सकती क्योंकि मन से स्वतंत्र वास्तविकता में वह विश्वास करता है।

(३) सत्य और असत्य की पहचान के लिए समीक्षात्मक वस्तुवाद के पास कोई साधन नहीं है। वह मानता है कि प्रदत्तों के यथार्थ वस्तुओं के अनुरूप होने पर सत्य ज्ञान होता है और अनुरूप न होने पर असत्य या भ्रांतिपूर्ण। इसके लिए आवश्यक है कि किसी दूसरे मार्ग से यथार्थ वस्तुओं का ज्ञान हमें मिले ताकि प्रदत्तों के माध्यम से प्राप्त ज्ञान की तुलना उससे करके देख सकें कि वह यथार्थता के अनुरूप है या नहीं। किन्तु प्रदत्तों के अतिरिक्त ज्ञान का कोई दूसरा द्वार नहीं है, इसलिए सत्य-असत्य की पहचान संभव नहीं है। समीक्षात्मक वस्तुवाद कहता है कि उनकी पहचान व्यवहार से होती है। किन्तु व्यवहार की सफलता-असफलता से

सत्यता-असत्यता का निश्चित ज्ञान नहीं हो सकता, केवल अंदाज (guess) भर किया जा सकता है। कभी-कभी तो ऐसा भी होता है कि अवास्तविक पदार्थ व्यवहार की सफलता का साधक बन जाता है! हम जानते हैं कि शीशे में प्रतिबिंबित चेहरा वास्तविक चेहरा नहीं है, फिर भी उसी के अनुसार दाढ़ी बनाना आरंभ कर देते हैं और उसमें सफलता मिलती है। इसलिए व्यवहार के आधार पर सत्य-असत्य का निर्णय नहीं किया जा सकता है।

(४) भ्रांति की उत्पत्ति के लिए भी समीक्षात्मक वस्तुवाद के पास कोई व्याख्या नहीं है। वह मानता है कि सभी प्रदत्तों की उत्पत्ति यथार्थ वस्तुओं से होती है और जो उनके अनुरूप नहीं होते वे भ्रांतिपूर्ण कहे जाते हैं। किन्तु जब सभी प्रदत्तों की उत्पत्ति यथार्थ वस्तुओं से होती है तो क्या कारण है कि कोई उनके अनुरूप होता है और कोई अनुरूप नहीं होता? स्वाभाविक तो है कि यथार्थ वस्तुओं से एक तरह के प्रदत्त उत्पन्न होते और वे भी उनके अनुरूप या सत्य। इन कठिनाइयों का कोई यूक्तिपूर्ण समाधान समीक्षात्मक वस्तुवाद से नहीं मिलता है।

दार्शनिक वस्तुवाद : (२) भारतीय दर्शन में

भारतीय दर्शन में वस्तुवाद के कई उदाहरण मिलते हैं। जैन, न्याय, बौद्धों के कुछ संप्रदाय, आदि वस्तुवाद के समर्थक हैं क्योंकि वस्तुयों के अस्तित्व को ज्ञाता से स्वतंत्र मानते हैं। किन्तु यहाँ पर हम केवल बौद्ध वस्तुवाद का विवेचन करेंगे क्योंकि पश्चिमी वस्तुवााद के उक्त प्रकारों के वह अधिक निकट है।

बौद्ध दर्शन के दो संप्रदाय, वैभाषिक और सौत्रांतिक, वस्तुवाद का समर्थन करते हैं। वैभाषिक मत को बाह्यार्थप्रत्यक्षवाद कहते

हैं क्योंकि नवीन वस्तुवाद की तरह वह मानता है कि बाह्यार्थ, अर्थात मन के बाहरी पदार्थों, का ज्ञान प्रत्यक्ष रूप में, बिना किसी माध्यम के, होता है । इसके समर्थन में उसका कहना है कि प्रत्यक्ष ज्ञान न मानने पर बाहरी वस्तुओं का ज्ञान असंभव हो जायगा क्योंकि अनुमान या किसी अन्य प्रमाण से उसी वस्तु का ज्ञान हो सकता है जिसका कभी-न-कभी प्रत्यक्ष ज्ञान हुआ है । मन और बाह्य-जगत दोनों को वैभाषिक मत सत्य मानता है और बाह्य जगत को मन से स्वतंत्र समझता है । यथार्थ वस्तु का प्रत्यक्ष ज्ञान मान कर यथार्थ वस्तु और ज्ञात वस्तु को वह एक स्वीकार करता है, इसलिए उसे ज्ञानशास्त्रीय एकवाद का समर्थक कहा जा सकता है । इन विशेषताओं से स्पष्ट जान पड़ता है कि वैभाषिक मत पश्चिमी नवीन वस्तुवाद से बहुत मिलता-जुलता है ।

(१) वैभाषिक मत

सौत्रांतिक मत भी मन और बाह्य जगत को सत्य मानता है और बाह्य जगत को मन से स्वतंत्र बतलाता है । किन्तु बाह्य पदार्थों का ज्ञान वह प्रत्यक्ष नहीं बल्कि अनुमान-जन्य मानता है । इसलिए उसे बाह्यार्थानुमेयवाद कहते हैं क्योंकि बाहरी वस्तुओं के अस्तित्व को अनुमान-सिद्ध मानता है । बाह्य पदार्थ मन पर अपना चित्र अंकित करते हैं और उसी से उनके अस्तित्व का अनुमान किया जाता है । इन चित्रों को मन अपने आप नहीं उत्पन्न कर सकता है, इसलिए यह अनुमान करना कि इनके कारणभूत पदार्थ मन के बाहर हैं स्वाभाविक है । वस्तुओं का अस्तित्व मन से स्वतंत्र है, यह इससे भी प्रमाणित होता है कि उनका ज्ञान मन के चाहने भर से नहीं हो जाता है ।

(२) सौत्रांतिक मत

सौत्रांतिक वस्तुवाद पश्चिमी प्रत्यय-प्रतिनिधित्ववाद से बहुत मिलता-जुलता है। इसलिए इसके विरुद्ध भी वे आक्षेप किए जा सकते हैं जो प्रत्यय-प्रतिनिधित्ववाद के विरुद्ध हमने किया है। इसी तरह वैभाषिक मत के विरुद्ध वे आक्षेप किए जा सकते हैं जो नवीन वस्तुवाद के विरुद्ध किए गए हैं। इसलिए वैभाषिक और सौत्रांतिक वस्तुवाद की आलोचना यहाँ करना हम आवश्यक नहीं समझते हैं।

———— ——



सहायक ग्रंथों की सूची*

१. गुलाब राय—पाश्चात्य दर्शनों का इतिहास
२ डा० न० कि० देवराज—यूरोपीय दर्शन
३ ,, ,, ,, —पूर्वी और पश्चिमी दर्शन
४ सम्पूर्णानन्द—चिद्विलास
५ राहुल सांकृत्यायन—वैज्ञानिक भौतिकवाद
६. ,, ,, —दर्शन-दिग्दर्शन
७ झा और मिश्र—भारतीय दर्शन परिचय (अंग्रेजी से अनुदित)

1. Bannerjee, M. D.—A Genetic History of the Problems of Philosophy.
2. Brightman, E.—Philosophy of Religion.
3. Boodin, J. E.—God and Creation—Three Interpretations of the Universe.
4. Chatterjee, Dr. S.C.—The Fundamentals of Hinduism.
5. Collingwood, R. G.—Religion and Philosophy.
6. Calkins, M. W.—The Persistent Problems of Philosophy.
7. Datta, Dr. D. M.—Chief Currents of Contemporary Philosophy.
8. Dotterer, R. H.—Philosophy by way of the Sciences.
9. Dasgupta, Dr. S. N.—A History of Indian Philosophy, Vols I & II.

*इस सूची में उन पुस्तकों को छोड़ दिया गया है जिनका नाम पुस्तक के अंदर कहीं-न-कहीं आ गया है।

10. Ewing, A. C.—Fundamental Questions of Philosophy.
11. Fullerton, G. S.—Introduction to Philosophy.
12. Gotshalk, D. W.—Metaphysics in Modern time.
13. James, W.—Some Problems of Philosophy.
14. „ „ —A Pluralistic Universe.
15. Joad, C. E. M.—Mind and Matter.
16. „ „ —Introduction to Modern Philosophy.
17. „ „—Philosophical Aspects of Modern Science.
18. Leningrad Institute of Philosophy—A Textbook of Marxist Philosophy.
19. Maritain, J.—An Introduction to Philosophy.
20. Major, D. R.—An Introduction to Philosophy.
21. Macnicol, Nicol—Indian Theism.
22. Marvin, W. T.—A First book in Metaphysics.
23. Ryan, J. H.—An Introduction to Philosophy.
24. The Ramakrishna Institute of Culture—The Religions of the World.
25. Rogers, A. k.—English and American Philosophy since 1800.
26. Schneider, H. W.—A History of American Philosophy.
27. Sampurnananda—Cosmogeny in Indian thought.
28. Whitehead, A. N.—Science and the Modern World.
29. Wisdom, J.—Problems of Mind and Matter.
30. Waterhouse, E. S.—The Philosophical Approach to Rcligion.



নবজীবন